ॐ

श्रीमन्मुक्तिनाथमुनीन्द्रसङ्कलित

मुमुक्षुसर्वस्वसार

हिन्दी अनुवादसहित

अनुवादक

मुनिलाल

महाराजने ही किया था और धनीराम नामक किसी ब्राह्मणने इसकी पाण्डुलिपिके लेखकका कार्य किया था। इस ग्रन्थः अन्तमें इन सब बातोंका उल्लेख स्वयं संग्रहकर्ताने ही कर दिया है। हमें जो प्रति प्राप्त हुई है उसके अन्तमें 'चैत्र सित १ संवत्सर १९१३' लिखा हुआ है। मालूम होता है, इसी तिथिको इसका लेखनकार्य समाप्त हुआ था। अतः आज पूरे ७९ वर्ष बीतनेपर यह ग्रन्थ इस रूपमें जनताके सामने आ रहा है।

पूज्यपाद श्रीस्वामी मुक्तिनाथजी महाराज नाथसम्प्रदायी सन्त थे। वे प्रायः बीकानेर राज्यके बीकानेर, रतनगढ़, चूरु और तपोभूमि कोलायत (कपिलाश्रम) आदि स्थानोंमें रहा करते थे। कभी-कभी ऋषिकेश, हरिद्वार और उत्त काशीकी ओर भी चले जाया करते थे। आपकी गुरुपरम्परा और गुरुभाइयोंमें श्रीलक्ष्मीनाथजी, श्रीभावनाथजी और श्रीटॉटियास्वामी आदि कई उच्च कोटिके महात्मा हो गये हैं। ऋषिकेशके सुप्रसिद्ध महात्मा स्वनामधन्य श्रीमङ्गलनाथजी महाराज आपके ही गुरुभाई श्रीस्वामी मेघनाथजीके शिष्य थे। आपकी साधनसम्पत्ति, बहुश्रुतता और तपोनिष्ठता तो आपकी रचनासे ही व्यक्त होती है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्होंने आपके दर्शन किये थे; वे भी आपके तथा आपके गुरुभाइयोंके गुणोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हैं।

इस ग्रन्थमें संग्रहकर्ताने श्रुति, स्मृति और पुराण आदिके वाक्योंका संग्रह कर अपने रचे हुए श्लोकोंद्वारा उनका

सम्बन्ध जोड़ते हुए वेदान्त-प्रक्रिया और तदुपयोगी साधनोंका प्रतिपादन किया है। इसके पाँच प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरणमें ग्रन्थके अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन—इन चार अनुबन्धोंका निरूपण किया गया है; तथा बन्ध और मोक्षके स्वरूपका निर्देश करते हुए भेदकी असत्यता और आत्माकी सुखस्वरूपताका वर्णन किया है। द्वितीय प्रकरणमें चित्तशुद्धि और उसके साधनोंका निरूपण है, क्योंकि चित्तके शुद्ध हुए विना जिज्ञासा नहीं होती और विना जिज्ञासाके बोध नहीं होता। जिस समय अविद्याके मलरूप दोषकी निवृत्ति होनेसे चित्त स्वच्छ हो जाता है उसी समय साधकको तत्त्वोपदेश-ग्रहणकी योग्यता प्राप्त होती है। ऐसा साधक जिन विशिष्ट गुणोंसे सम्पन्न होना चाहिये उन्हें वेदान्त-ग्रन्थोंमें साधनचतुष्टय कहा है। विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन चार साधनोंसे सम्पन्न हुए विना कोई भी साधक ब्रह्मविद्याका रहस्य नहीं समझ सकता; अतः तत्त्वबोधके लिये इन्हें उपार्जन करना सर्वथा अनिवार्य है। तृतीय प्रकरणमें इन्हींका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। वहाँ संग्रहकर्ता-ने जो वाक्य उद्धृत किये हैं वे बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं। चतुर्थ प्रकरणमें संन्यासका निरूपण है। संन्यास दो प्रकारका होता है—विविदिषासंन्यास और विद्वत्संन्यास। जो साधक संसारके विषय-भोगोंसे अत्यन्त विरक्त होकर तत्त्वबोधकी प्रबल जिज्ञासासे संन्यास ग्रहण करता है उसे विविदिषा-संन्यासी कहते हैं; संन्याससम्बन्धी जितना विधि-निषेध है उसीके लिये है। किन्तु जिन्हें ब्रह्मात्मैक्यका सुदृढ बोध हो चुका है और जिनकी दृष्टिमें एकमात्र अखण्ड सच्चिदानन्दघन-

सिवा अन्य वस्तुका अत्यन्ताभाव है उनके लिये कोई विधि-निषेध नहीं है। उनके लिये तो उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ही विधिरूप है। किन्तु ऐसे ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष कोई विरले ही होते हैं, सर्वसाधारणको उनका अनुकरण करके स्वेच्छाचारी न हो जाना चाहिये। इस प्रकार संन्यासका प्रतिपादन कर फिर पञ्चम प्रकरणमें वेदान्तप्रक्रियाका निरूपण किया है। वहाँ महावाक्यके तत् और त्वम् पदके वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थका विचारकर लक्ष्यार्थमें उनकी एकता बतलाते हुए प्रत्यगात्मा और परमात्माकी अखण्डैकरसता सिद्ध की है तथा गुरुके उपदेशसे शिष्यकी कृतकृत्यता प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थका उपसंहार किया है।

यही इस ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयका संक्षिप्त विवरण है। यह ग्रन्थ वास्तवमें मुमुक्षुओंका सर्वस्व ही है; इसमें बतलाये हुए मार्गका अनुसरण करनेसे साधक अवश्य ही अपना ध्रुव लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। अभीतक यह ग्रन्थ प्रायः अप्रकाशित ही था; इसे प्रकाशित कर गीताप्रेसने बड़ा उपकार किया है।

इसका अनुवाद करते समय मुझे जहाँ-तहाँ कई महानुभावोंसे सहायता लेनी पड़ी है; उनमें पूज्यपाद श्रीस्वामी घनश्यामानन्दजी तीर्थ, ब्रह्मचारी श्रीस्वतन्त्रानन्दजी महाराज और पूज्य पं० परमानन्दजी महाराज प्रिंसिपल श्रीराधाकृष्ण-महाविद्यालय खुरजाका मैं विशेष ऋणी हूँ। पुस्तककी छपाईके समय मूल ग्रन्थके पाठ और अनुवादके संशोधन आदिमें मुझे पूज्य पं० ज्येष्ठारामजी महाराज और पं० श्रीरामनारायणदत्त-

जी शास्त्रीसे बहुत सहायता मिली है। अतः इन सभी महानुभावोंका मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। सम्भव है, मेरी अल्पज्ञताके कारण अब भी इसमें बहुत-सी त्रुटियाँ रह गयी होंगी। उनके लिये मैं विद्वन्मण्डलीसे सविनय क्षमा माँगता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि वे कृपा करके प्रेसको उनकी सूचना दे दें, जिससे आगामी संस्करणमें उन्हें यथासाध्य सुधारनेकी चेष्टा की जा सके।

गीताप्रेस, गोरखपुर
चैत्र शु० ५ सं० १९९२ } मुनिलाल

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

प्रथम प्रकरण

द्वितीय प्रकरण

तृतीय प्रकरण

चतुर्थ प्रकरण

पञ्चम प्रकरण

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी

सच्चिदानन्दरूपाय रामाय प्रत्यगात्मने ।
वेदान्तप्रतिपाद्याय दशास्यघातिने नमः ॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

मुमुक्षुसर्वस्वसार

प्रथम प्रकरण
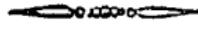
सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं सर्वातीतं सनातनम् ।
सत्यासत्यविनिर्मुक्तं स्वात्मानं संस्मराम्यहम् ॥

मङ्गलाचरण

सच्चिदानन्दरूपाय रामाय प्रत्यगात्मने ।
वेदान्तप्रतिपाद्याय दशास्यघातिने नमः ॥ १ ॥

सच्चिदानन्दस्वरूप, सबका अन्तरात्मा, वेदान्तद्वारा प्रतिपादित और दशवदन रावणका वध करनेवाले भगवान् रामको नमस्कार है ।

संसारसागरे मग्नं कामादिनक्रसंहृतम् ।
मां समुद्धृतवन्तो ये तान्वन्दे स्वगुरूनपि ॥ २ ॥

जिन्होंने कामादि नाकोंसे गृहीत होकर संसारसमुद्रमें डूबे हुए मेरा उद्धार किया उन अपने गुरुदेवकी भी मैं वन्दना करता हूँ ।

उपक्रम

आप्तवाक्यम्

अल्पेभ्यश्च महद्भ्यश्च ग्रन्थेभ्यो मतिमान्नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात्पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥ ३ ॥

जिस प्रकार भौंरा सब तरहके पुष्पोंसे उनका सार ले लेता है उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुषको छोटे-बड़े सभी ग्रन्थोंसे उनका सार ग्रहण कर लेना चाहिये ।

संग्रहकर्तृवचनम्

इत्येवमादिवाक्यानामर्थं बुद्ध्वाद्य सादरम् ।
सञ्जाता तु चिकीर्षा मे श्रुत्यादिवाक्यसङ्ग्रहे ॥ ४ ॥

ऐसे वाक्योंका अभिप्राय जानकर ही आज मुझे श्रद्धापूर्वक श्रुति आदिके वाक्योंका संग्रह करनेकी इच्छा हुई है ।

त्रिकाण्डात्मकशास्त्रस्य गीताख्यस्य तथा मया ।
शारीरकस्य चाप्यर्थः संक्षेपेणेह वक्ष्यते ॥ ५ ॥

इस संग्रहमें मैं [कर्म, उपासना और ज्ञान—इन] तीनों काण्डोंका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र तथा गीता और शारीरकके भी अर्थका संक्षेपसे प्रतिपादन करूँगा ।

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
इति लक्षणयोगोऽत्र निःसन्दिग्धमवस्थितः ॥ ६ ॥

जो शास्त्रके एक देशसे सम्बद्ध और शास्त्रके किसी एक

कार्यमें स्थित हो [उसे प्रकरण ग्रन्थ कहते हैं]—इस लक्षणका यहाँ निःसन्देहरूपसे योग है ।

एवं वेदान्तशास्त्रीयैरनुबन्धैर्भवेदिदम् ।
अनुबन्धि यतस्तस्य प्रकरणं त्विदं स्मृतम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार यह वेदान्तशास्त्रीय अनुबन्धोंसे अनुबन्धयुक्त है; क्योंकि यह उस (वेदान्त) का प्रकरण (प्रक्रिया) ग्रन्थ कहा गया है ।

अनुबन्ध-चतुष्टय

शास्त्रीयाः केऽनुबन्धाः स्युरिति चेच्छृणु तानपि ।
अधिकार्यभिधेयौ द्वौ सम्बन्धश्च प्रयोजनम् ॥ ८ ॥

अब, यदि तुम्हें यह शंका हो कि शास्त्रीय अनुबन्ध कौन-कौन-से हैं, तो सुनो—अधिकारी और अभिधेय (विषय) ये दो तथा सम्बन्ध और प्रयोजन [ये ही शास्त्रीय अनुबन्ध हैं] ।

इत्येते ह्यनुबन्धा वै चत्वारः सन्ति शास्त्रगाः ।
एतान्दृष्ट्वा तु बुद्धिमान् शास्त्रादौ सम्प्रवर्तते ॥ ९ ॥

इस प्रकार ये चार ही शास्त्रोक्त अनुबन्ध हैं । बुद्धिमान् पुरुष इन्हें जानकर ही शास्त्रादि [के अध्ययन] में प्रवृत्त हुआ करता है ।

चतुर्भिः साधनैर्युक्तो योऽधिकारी स कथ्यते ।
जीवस्य ब्रह्मणैक्यं यत्तद्विषय इहोच्यते ॥ १० ॥

जो पुरुष [शमादि] चार साधनोंसे सम्पन्न है वही इसका अधिकारी कहा जाता है । तथा ब्रह्मके साथ जो जीवकी एकता है वही इसका विषय कहा गया है ।

अशेषानर्थनाशो यो नित्यानन्दस्य चाप्तता ।
प्रयोजनमिहोक्तं तत्सम्बन्धो बहुधा स्मृतः ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण अनर्थोंका नाश और नित्यानन्दका जो प्राप्त होना है वही इसका प्रयोजन कहा गया है; तथा इसका सम्बन्ध तो कई प्रकारका है ।

वेदान्तैः प्रतिपाद्येन चैक्येन ब्रह्मजीवयोः ।
तेषां च विदुः सम्बन्धं बोध्यबोधकतां बुधाः ॥ १२ ॥

बुधजन वेदान्तशास्त्रोंसे प्रतिपादित ब्रह्म और जीवकी एकताके साथ शास्त्रोंका बोध्य-बोधकभाव सम्बन्ध मानते हैं ।

वेदान्तैश्चैक्यबोधस्योत्पाद्योत्पादकतां विदुः ।
शास्त्रमुक्त्योस्तु सम्बन्धः प्रयोजकप्रयोज्यता ॥ १३ ॥

इसी प्रकार जीव-ब्रह्मकी एकताके ज्ञानका वेदान्तशास्त्रके साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव तथा मुक्ति और शास्त्रमें प्रयोज्य-प्रयोजकभाव-रूप सम्बन्ध माना जाता है ।

बोधमुक्त्योश्च सम्बन्धः साधनसाध्यताह्वयः ।
एवं चतुर्विधः प्रोक्तः सम्बन्धोऽत्र बुधैः खलु ॥ १४ ॥

ऐसे ही बोध और मुक्तिमें साधन-साध्यभाव सम्बन्ध है । इस प्रकार विद्वानोंने इस वेदान्तशास्त्रमें चार प्रकारका सम्बन्ध कहा है ।

ननु भेदस्य सत्यत्वाद्बन्धस्याप्यमृषात्वतः ।
न स्याद्विषयसंसिद्धिः सिद्ध्येच्च न प्रयोजनम् ॥ १५ ॥

शङ्का—भेद सत्य है और संसारबन्धन भी मिथ्या नहीं है—

इसलिये इस ग्रन्थके [जीव-ब्रह्मकी एकतारूप] विषय और उक्त प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकते ।

तदसिद्धौ च नैव स्यात्प्रवृत्तिर्धीमतामिह ।
भेदस्य विषयत्वे तु न वेदान्तनिबन्धता ॥ १६ ॥

उन दोनोंकी सिद्धि न होनेके कारण बुद्धिमान् पुरुषोंकी इसमें प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती और यदि भेदको ही इसका विषय माना जाय तब तो यह वेदान्तका निबन्ध ही नहीं हो सकता ।

मैवं बन्धो भिदा चापि न सत्यौ कल्पितत्वतः ।
ततो विषयसिद्धिः स्यात्फलसिद्धिश्च सम्भवेत् ॥ १७ ॥

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि कल्पित होनेके कारण बन्धन और भेद दोनों ही सत्य नहीं हैं; अतः इस ग्रन्थके विषय तथा प्रयोजनकी भी सिद्धि हो सकती है ।

अविद्या-निरूपण

भेदबन्धद्वयोश्चापि कल्पितत्वं त्वविद्यया ।
सा तु चिन्मात्रमाच्छाद्य करोत्यत्र भिदादिकम् ॥ १८ ॥

भेद और बन्धन इन दोनोंकी कल्पना अविद्यासे ही हुई है । वही चिन्मात्र आत्मतत्त्वको आच्छादित कर इस लोकमें भेदादिका प्रादुर्भाव करती है ।

आच्छादितं परं ब्रह्म स्वाज्ञानेन बलीयसा ।
विक्षिप्तं तत्पुनस्तेन जीवेशजगदात्मना ॥ १९ ॥
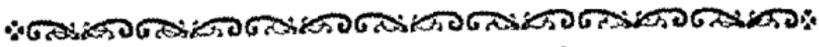
परब्रह्म अपने प्रबल अज्ञानसे आच्छादित है। उस (अज्ञान) के कारण ही वह जीव, ईश्वर और जगत्‌रूपसे विक्षिप्त हो रहा है।

आवरणादिशक्त्या तत्समर्थमात्मसंसृतौ।
अपरञ्च बलं तस्यात्माश्रयत्वादिकं महत्॥ २०॥

वह अज्ञान आवरण आदि शक्तिसे ही आत्माके जन्म-मरणादिमें समर्थ होता है। उस अज्ञानका आत्माश्रयत्व (आत्माके ही आश्रित रहना) आदि और भी एक महान् बल है।

एवमात्मा स्वयाथात्म्यमखण्डाद्वयरूपकम्।
अज्ञात्वात्मन्यनात्मानमध्यस्यायं प्रवर्तते॥ २१॥

इस प्रकार यह आत्मा अपने अखण्ड अद्वयरूप यथार्थ स्वरूपको न जानकर आत्मामें अनात्मा (अहंकार) का अध्यास कर नाना प्रकारसे प्रवृत्त होता है।

जगदिदमसावीशो जीवोऽहं विधिनोदितः।
काम्यादिकर्मणां कर्ता भोक्तास्मि तत्फलस्य च॥ २२॥
द्रष्टाहं स्वेष्टरूपादेः श्रोतास्मि गीतवाद्ययोः।
वक्ताहं साङ्गवेदस्य गन्तास्मि स्वगुरुं प्रति॥ २३॥
मनुष्योऽहं पितायं मे मातेयं मे सुतोऽस्ति मे।
युवास्म्यहं तथा वृद्धो ब्राह्मणोऽहं बहुश्रुतः॥ २४॥
क्षत्रियोऽहं महाञ्छूरो वैश्यश्चाहं सुखादिमान्।
शूद्रोऽस्मि द्विजभक्तोऽहं ब्रह्मचार्यस्मि नैष्ठिकः॥ २५॥

गृहस्थः पुत्रवानस्मि पुत्रे सुखिन्यहं सुखी ।
पुत्रनाशे च नष्टोऽहं धनाढ्योऽहं च वै सुखी ॥ २६ ॥
पुत्रादीन्परिहायाहं वनेऽस्मिन् फलपर्णभुक् ।
तपस्व्यहं वनस्थोऽस्म्यग्निहोत्री ह्यतिथिप्रियः ॥ २७ ॥
यतिश्चाहं परो हंसो मुण्डो दण्डकुसुम्भवान् ।
मोक्षायैव प्रवृत्तोऽहं संसाराभिधपाशतः ॥ २८ ॥
इत्यादिव्यवहारोऽयं पण्डितमूढयोरपि ।
अध्यासमन्तरेणास्य नान्यत्कारणमीक्ष्यते ॥ २९ ॥

'यह जगत् है, वह ईश्वर है, मैं शास्त्रविधिसे प्रेरित काम्यादि कर्मोंका कर्ता और उनके फलका भोग करनेवाला जीव हूँ, मैं अपने अभीष्ट रूपादिको देखनेवाला, गाना-बजाना आदि सुननेवाला, अंगोंसहित वेदका बखान करनेवाला और अपने गुरुजीके पास गमन करनेवाला हूँ, मैं मनुष्य हूँ, यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है, यह मेरा पुत्र है, मैं युवा हूँ, वृद्ध हूँ, ब्राह्मण हूँ, और बहुत पढ़ा-लिखा हूँ, मैं बड़ा शूरवीर क्षत्रिय हूँ, मैं सुखादिसम्पन्न वैश्य हूँ, मैं द्विजभक्त शूद्र हूँ, मैं नैष्ठिक ब्रह्मचारी हूँ, मैं पुत्रवान् गृहस्थ हूँ, पुत्रके सुखी होनेपर ही मैं भी सुखी हूँ, पुत्रके नष्ट होनेपर मेरा भी नाश ही है, मैं बड़ा धनाढ्य और सुखी हूँ, पुत्रादिको त्यागकर मैं इस वनमें फल और पत्ते खाकर रहता हूँ, मैं तपस्वी हूँ, वनवासी हूँ, अग्निहोत्री हूँ और अतिथियों-का प्रिय करनेवाला हूँ, मैं दण्ड-कमण्डलुधारी मुण्डितकेश परमहंस यति हूँ, इस समय मैं संसारनामक पाशसे मुक्त होनेके

लिये ही प्रवृत्त हुआ हूँ' इत्यादि प्रकारका यह व्यवहार मूढ और पण्डित दोनोंहीका देखा जाता है। इसका अध्यासके सिवा और कोई कारण नहीं देखा जाता।

अध्यासजननेऽज्ञानं समर्थमेकमस्ति च।
सादृश्यस्य त्वनैकान्त्यमात्मनि जातिकल्पने ॥ ३० ॥

इस प्रकारके अध्यासको उत्पन्न करनेमें एकमात्र अज्ञान ही समर्थ है, क्योंकि आत्मामें जातिकी कल्पना करनेमें सदृशताका व्यभिचार है। [आत्मा अखण्ड और एकमात्र है, जब उसमें भेद ही नहीं है तो भिन्न पदार्थोंमें रहनेवाली सदृशता ही कैसे रह सकती है? अतः सदृशताका अभाव होनेके कारण आत्मामें ब्राह्मण अथवा मनुष्य आदि जातिकी कल्पना भी नहीं हो सकती]।

करणगस्य ज्ञानस्य व्यभिचारोऽपि दृश्यते।
घटज्ञानं ममोत्पन्नं नष्टमित्यादिज्ञानवत् ॥ ३१ ॥

इसके सिवा 'मुझे घटका ज्ञान उत्पन्न हुआ अथवा नष्ट हो गया' इत्यादि ज्ञानके समान इसमें इन्द्रियगत ज्ञानका भी व्यभिचार देखा जाता है।

तस्मादाविद्यकौ बन्धभेदौ प्रतीचि न स्वतः।
स्वतस्त्वात्मा सदा शुद्धः स्वप्रकाशोऽद्वयात्मकः ॥ ३२ ॥

अतः प्रत्यगात्मामें बन्धन और भेद अविद्याजनित ही हैं, स्वतः नहीं। स्वयं आत्मा तो नित्य, शुद्ध, स्वयंप्रकाश और अद्वयरूप है।

नन्वज्ञानं कुतः शुद्धे स्वप्रकाशे चिदात्मनि।
न हि सूर्ये तमो दृष्टं स्वक्षिमता तु केनचित् ॥ ३३ ॥

अज्ञानेन विना न स्यादावृत्तिश्च चिदात्मनि ।
तामृते च वदाध्यासः कथमात्मनि सम्भवेत् ॥ ३४ ॥

शङ्का—शुद्ध और स्वयंप्रकाश चिदात्मामें अज्ञान कहाँसे आया ? क्योंकि किसी भी नीरोग नेत्रोंवाले पुरुषने सूर्यमें कभी अन्धकार नहीं देखा, और अज्ञानके बिना चित्स्वरूप आत्मामें आवरण भी नहीं हो सकता; फिर बताओ आवरणके बिना इस आत्मामें अध्यास भी कैसे हो सकता है ?

शृणु तमो यथा सूर्येऽप्युलूकदृष्टिकल्पितम् ।
स्वप्रकाशे तथाज्ञानमज्ञानुभूतिकल्पितम् ॥ ३५ ॥

समाधान—सुनो, जिस प्रकार सूर्यमें उल्लूकी दृष्टिसे अन्धकार-की कल्पना हो जाती है उसी प्रकार अज्ञजनोंके अनुभवसे ही स्वप्रकाश आत्मामें अज्ञान कल्पित हुआ है ।

यथा चाभ्रावृतः सूर्योऽभ्रादीनपि प्रकाशते ।
तथाज्ञानावृतोऽप्यात्मा सकार्याज्ञानभासकः ॥ ३६ ॥

जिस प्रकार मेघोंसे ढँका हुआ सूर्य उन मेघादिको भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार अज्ञानसे ढँका हुआ आत्मा अज्ञान-को उसके कार्यसहित प्रकाशित करनेवाला है ।

अज्ञानं स्वाश्रयानन्यविषयं स्यात्तमस्त्वतः ।
बाह्यं तमो यथा दृष्टं तथा चेदं ततस्तथा ॥ ३७ ॥

तमःस्वरूप होनेके कारण अज्ञान अपने आश्रय (आत्मा) से भिन्न पदार्थको विषय करनेवाला नहीं है। जिस प्रकार बाह्य अन्धकार
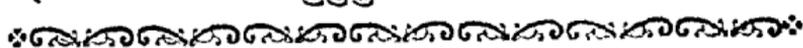
देखा जाता है उसी प्रकार यह आन्तरिक अन्धकार है; अतः उसी प्रकार [इसने भी अपने आश्रय आत्माको आच्छादित किया हुआ है] ।

आत्मा और अनात्माका अन्योन्याध्यास

आत्मस्थं सत्तदज्ञानमात्मनोऽनात्मनस्तथा ।
अन्योऽन्यं तु मृषाध्यासं जनयत्येव बन्धदम् ॥ ३८ ॥

वह अज्ञान आत्मामें स्थित रहकर आत्मा और अनात्मामें एक दूसरेका मिथ्या अध्यास उत्पन्न कर देता है, जो आत्माको बन्धनमें डालनेवाला है ।

नन्वितरेतराध्यासे त्वात्मापि स्यान्मृषा ध्रुवम् ।
अध्यस्तत्वाद्यथा शुक्तिरूप्यं रज्जूरगादिकम् ॥ ३९ ॥
आत्मनः सति मिथ्यात्वे शून्यवादः समापतेत् ।

शङ्का-यदि आत्मा और अनात्मामें अन्योन्याध्यास (परस्पर-मिथ्यारोप) माना जाय तो अध्यस्त होनेके कारण शुक्ति-रजत और रज्जु-सर्प आदिके समान आत्मा भी अवश्य ही मिथ्या हो जायगा* । इस प्रकार आत्माके मिथ्या सिद्ध होनेपर शून्य-वादकी प्राप्ति हो जायगी ।

मैवं वद शृणुष्वात्र व्यवस्थां ते वदाम्यहम् ॥ ४० ॥

---

* अध्यस्त पदार्थ मिथ्या हुआ करता है, जैसे शुक्तिमें रजत तथा रज्जुमें सर्प । अतः, जिस प्रकार वहाँ रजत और सर्प अध्यस्त होनेके कारण मिथ्या हैं उसी प्रकार यदि आत्माको अनात्मामें अध्यस्त माना जायगा तो वह भी मिथ्या सिद्ध होगा ।
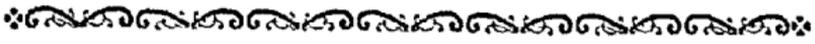
नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथा शुक्तेर्न भासते ।
तथाखण्डाद्वितीयत्वं भ्रान्तौ नात्मन ईक्ष्यते ॥ ४१ ॥

समाधान–ऐसा मत कहो; सुनो, इस विषयमें जो व्यवस्था है वह मै तुम्हें सुनाता हूँ। जिस प्रकार [शुक्तिमें रजतकी भ्रान्ति होनेपर] शुक्तिकी नीली पीठ और त्रिकोणता नहीं भासती उसी प्रकार भ्रान्तिकालमें आत्माका अखण्ड अद्वितीयत्व प्रतीत नहीं होता।

शुक्तेरेवेदमंशत्वं शुक्तिरूप्ये यथेक्ष्यते ।
तथात्मनोऽपि चैतन्यमनात्मनि समीक्ष्यते ॥ ४२॥

जिस प्रकार शुक्तिके स्थानमें भासनेवाली चाँदीमें शुक्तिहीका इदम्-अंशत्व* देखा जाता है उसी प्रकार अनात्मामें आत्माकी ही चेतनता देखी जाती है।

यथा रूप्यस्य रूप्यत्वं शुक्तीदमि प्रपश्यति ।
भ्रान्तो नरस्तथात्मापि कर्तृत्वाद्यात्मनीक्षते ॥ ४३ ॥

जिस प्रकार भ्रान्त पुरुष शुक्तिके इदम्-अंशमें रजतका रजतत्व देखता है उसी तरह आत्मा भी [अज्ञानवश] अपनेहीमें कर्तृत्व आदि धर्म देखा करता है।

---

* जिस समय सीपीमे चाँदीकी प्रतीति होती है और यह कहा जाता है कि 'इदं रूप्यमस्ति' (यह चाँदी है) तो इस वाक्यमें 'इदम्' (यह) पदसे चाँदीकी अधिष्ठानभूत सीपी ही लक्षित होती है। इस प्रकार चाँदीका अध्यास होनेपर भी इदम्-अंशसे सीपी उसमें अनुगत रहती ही है।

रूप्यं यथा स्वरूपेण शुक्त्यध्यस्ततया मृषा ।
तथाहमादयो भावाः स्वरूपेण मृषा चिति ॥ ४४ ॥

शुक्तिमें अध्यस्त होनेके कारण जिस प्रकार चाँदी स्वरूपसे मिथ्या ही है उसी प्रकार चेतनमें ये अहंकारादि भाव स्वरूपसे मिथ्या ही हैं।

इदमंशस्य संसर्गो रूप्येऽध्यस्ततया मृषा ।
यथा तथात्मसंसर्गोऽनात्माध्यस्ततया मृषा ॥ ४५ ॥

जिस प्रकार, अध्यस्त होनेके कारण चाँदीके साथ शुक्तिके इदम्-अंशका संसर्ग मिथ्या ही है उसी प्रकार अध्यस्तरूपसे अनात्माके साथ आत्माका संसर्ग मिथ्या ही है।

नीलपृष्ठत्रिकोणस्य यथा सम्यक्प्रबोधतः ।
ज्ञाते रूप्यस्य मिथ्यात्वे शुक्तिरेवावशिष्यते ॥ ४६ ॥
तथाद्वयात्मबोधेनाहङ्कारादेर्मृषात्मता ।
बुद्धा यदा तदात्मैवावशिष्यते सुखाद्वयः ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार अच्छी तरह देखनेसे नील पृष्ठ और त्रिकोणताका ज्ञान हो जानेपर जब चाँदी मिथ्या प्रतीत होने लगती है तो केवल शुक्ति ही शेष रह जाती है, उसी प्रकार अद्वितीय आत्माका ज्ञान होनेपर जब अहंकारादिके मिथ्यात्वका ज्ञान होता है तो एकमात्र आनन्दस्वरूप आत्मा ही शेष रह जाता है।

अतो न शून्यतावादप्रसङ्गोऽत्र कथञ्चन ।
बाधाबाधितया शिष्टे चिति शून्यं कथं भवेत् ॥ ४८ ॥
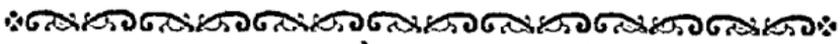
अतः इस (आत्मा और अनात्माका इतरेतराध्यास माननेके पक्ष) में शून्यवादकी प्राप्तिका कुछ भी प्रसंग नहीं है। जो चित्सत्ता अनात्म-पदार्थोंका बाध करते-करते उस (बाध) की अवधिरूपसे बच रहती है वह शून्य कैसे हो सकती है ?

एवमाविद्यकः सर्वो भोग्यादिलक्षणश्चिति ।
अध्यस्तत्वात्स्वरूपेण मिथ्या स्याच्छुक्तिरूप्यवत् ॥४९॥

इस प्रकार चेतनमें अविद्यासे प्रतीत होनेवाले ये भोग्यादिरूप सम्पूर्ण पदार्थ, अध्यस्त होनेके कारण, शुक्तिमें भासनेवाली चाँदीके समान स्वरूपसे मिथ्या ही हैं।

अध्यासनिरूपण

नन्वध्यस्तस्य मिथ्यात्वं सिद्धेऽध्यासे हि सम्भवेत् ।
सोऽसिद्धो लक्षणादृष्टेरिति चेत्तद्वदामि ते ॥५०॥

'अध्यस्त वस्तुका मिथ्यात्व अध्यासके सिद्ध हो जानेपर ही सम्भव है; किन्तु कोई लक्षण न देखा जानेके कारण इस आत्मामें अभीतक अध्यास सिद्ध ही नहीं है' यदि ऐसा कहो तो मैं तुम्हें बतलाता हूँ—

अध्यासोऽत्र द्विधा ज्ञेयो ज्ञानार्थाध्यासभेदतः ।
अन्यत्रान्यावभासादि ज्ञानाध्यासादिलक्षणम् ॥५१॥

यहाँ ज्ञानाध्यास और अर्थाध्यास भेदसे दो प्रकारका अध्यास समझना चाहिये। अन्य पदार्थमें अन्य पदार्थका भासित होना— यही ज्ञानाध्यासादिका लक्षण है।
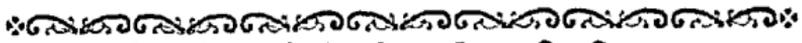
ततोऽज्ञानेन संछन्ने चिन्मात्रे परिकल्पितम् ।
भोक्तृभोग्यादिकं सर्वमज्ञानं चापि कल्पितम् ॥५२॥

अतः अज्ञानसे आच्छादित चेतनमात्रमें ही भोक्ता-भोग्यादि समस्त भाव और अज्ञान भी कल्पित हैं ।

अज्ञानमपि चिन्मात्रेऽस्त्यध्यस्तं नैव वस्तुतः ।
स्वाध्यासेऽपेक्षते नान्यत्संवित्स्वकाशने यथा ॥५३॥

अज्ञान भी उस चिन्मात्रमें अध्यस्त ही है—वस्तुतः नहीं, क्योंकि उस ज्ञानस्वरूपको जिस प्रकार अपनेको प्रकाशित करनेमें किसी अन्य पदार्थकी अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार अपने अध्यासमें भी किसीकी आवश्यकता नहीं है ।

स्वविषयं यथैवात्मा स्वं चाप्ययं प्रकाशते ।
परमते तथाज्ञानं स्वं स्वकार्यं च निर्वहेत् ॥५४॥

जिस प्रकार [मीमांसकादि] अन्य वादियोंके मतमें आत्मा अपने विषयोंको और अपनेको भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार वह अपने अज्ञान और अपने कार्यका भी निर्वाह करता है ।

चिद्रूपेऽज्ञानसिद्धौ हि मानं नैवोपलभ्यते ।
अज्ञोऽहमिति बोधात्तु व्यतिरेकेण किञ्चन ॥५५॥

'मैं अज्ञानी हूँ' इस अनुभवके सिवा चेतनस्वरूप आत्मामें अज्ञानकी सिद्धि करानेमें और कोई प्रमाण नहीं देखा जाता ।

ततोऽज्ञानं सकार्यं स्यान्मिथ्यैव शुक्तिरूप्यवत् ।
एवं ह्यात्मा स्वतःशुद्धोऽतो विषयादि सिध्यति ॥५६॥
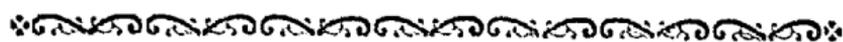
अतः शुक्तिमें भासनेवाली चाँदीके समान अज्ञान अपने कार्यके सहित मिथ्या ही है। इस प्रकार आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है; उसीसे विषय आदि सिद्ध होते हैं।

भेदकी असत्यता

जीवस्य ब्रह्मणाभेदज्ञानं मोक्षस्य साधनम्।
तयोर्भेदस्तु मिथ्यैवाध्यस्तत्वाच्चन्द्रभेदवत् ॥५७॥

ब्रह्मके साथ जीवका अभेद ज्ञान होना ही मोक्षका साधन है। [नेत्रदोषसे प्रतीत होनेवाले] चन्द्र-भेदके समान अध्यस्त होनेके कारण उनका भेद तो मिथ्या ही है।

न तद्द्वितीयमस्तीति भेदासत्त्वं श्रुतिर्जगौ।
स्वल्पं यः कुरुते भेदं तस्यापरा भयं जगौ ॥५८॥

श्रुतिने भी 'उससे भिन्न दूसरा कोई नहीं है' ऐसा कहकर भेदकी असत्ता बतलायी है; तथा एक दूसरी श्रुतिने जो थोड़ा-सा भी भेद करता है उसे भयकी प्राप्ति कही है।

नास्ति द्वैतं कुतो मर्त्यमित्याह स्मापरा श्रुतिः।
पञ्चधा भेदमिथ्यात्वेऽनुमानान्यपि सन्ति च ॥ ५९ ॥

एक अन्य श्रुतिने कहा है—'द्वैत है ही नहीं, फिर नाशवान् पदार्थ कहाँसे आये ?' इसके सिवा पाँचों प्रकारके भेदोंके* मिथ्या होनेमें अनुमान प्रमाण भी हैं।

* पाँच प्रकारके भेद ये हैं—(१) जीव और ईश्वरका भेद, (२) जीव और जगत्का भेद, (३) जीवोंका पारस्परिक भेद, (४) ईश्वर और जगत्का भेद, (५) जगत्का स्वगत भेद।
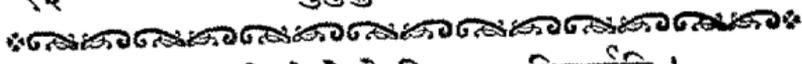
विवादाध्यासितो भेदो मिथ्या भवितुमर्हति ।
भेदत्वाद्दर्पणात्रादौ बिम्बितास्यादिभेदवत् ॥ ६० ॥

[यथा—] विवादसे अध्यस्त किया हुआ भेद मिथ्या होना चाहिये; क्योंकि वह भेद है । [जो-जो भेद है वह मिथ्या ही हुआ करता है] जैसे दर्पण और पानी इत्यादिमें प्रतीत होनेवाले मुख आदिके भेद [मिथ्या होते हैं] ।

विमता भेदसंविच्च मिथ्या भवितुमर्हति ।
भेदसंवेदनत्वाद्धि स्वप्नार्थभेदधीर्यथा ॥ ६१ ॥

भेद-ज्ञानरूप होनेके कारण विरुद्धपक्षसम्मत भेद-बुद्धि भी मिथ्या होनी चाहिये, जैसे कि स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले पदार्थोंका भेद-ज्ञान ।

भेद-निषेध

एवं हि भेदमात्रस्य तज्ज्ञानस्यापि दर्शितम् ।
मिथ्यात्वं तद्विशेषाणां निषेधोऽप्यद्य कथ्यते ॥ ६२ ॥

इस प्रकार सामान्यतः भेदमात्र और भेद-ज्ञानका भी मिथ्यात्व दिखलाया । अब उसके विशेष भेदोंका भी निषेध [अनुमान-प्रमाणद्वारा ही] किया जाता है ।

जीवात्मा ब्रह्मणो नैव तात्त्विकभेदवान् सदा ।
सच्चिदानन्दरूपत्वादात्मत्वाच्च परेशवत् ॥ ६३ ॥

सच्चिदानन्दरूप और आत्मा होनेके कारण जीवात्माका ब्रह्मसे कभी तात्त्विक भेद नहीं है, जैसे कि परमेश्वरका [अपनेसे भेद नहीं है] ।
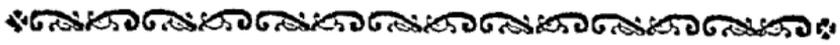
जीवात्मा सच्चिदानन्दो वेदवाक्यप्रमाणतः ।
तस्मान्न हेत्वसिद्ध्यादेः शङ्का युक्तेह काचन ॥ ६४ ॥

वेदवाक्योंके प्रमाणसे जीवात्मा सच्चिदानन्दरूप है। अतः इसमें हेतुकी असिद्धि आदिकी कोई शंका करनी उचित नहीं है।

विवादाध्यासिता जीवास्तत्त्वतः प्रतिवादिनः ।
न भिन्ना जीवभावेनात्मत्वाद्वा प्रतिवादिवत् ॥ ६५ ॥

प्रतिवादीके विपरीत मतसे आरोपित जीव वास्तवमें जीवरूपसे अथवा आत्मस्वरूप होनेके कारण परस्पर भिन्न नहीं हैं; जैसे प्रतिवादी जीव [अर्थात् जैसे प्रतिवादीके विचारसे भी जीव आत्मासे अभिन्न है उसी प्रकार भिन्न-भिन्न जीव भी आत्मासे अभिन्न होने और आत्मामें वस्तुतः कोई भेद न होनेके कारण परस्पर भिन्न नहीं हैं]।

जगज्जीवात्मनोर्भेदो न सत्यः स्यात्तु वस्तुतः ।
भेदत्वादिन्द्रजालान्तर्गतपदार्थभेदवत् ॥ ६६ ॥

[जो भेद है वह सत्य नहीं होता, इस व्याप्तिके अनुसार] जगत् तथा जीवात्माका भेद भी वस्तुतः सत्य नहीं है क्योंकि वह भी भेद है; जैसे इन्द्रजालसे प्रतीत होनेवाले पदार्थोंके भेद [सत्य नहीं होते]।

ईशप्रपञ्चयोश्चापि भेदः सत्यो न वस्तुतः ।
भेदत्वात्स्वप्नभावानां परस्परभिदा यथा ॥ ६७ ॥

भेदरूप होनेसे ही ईश्वर और प्रपञ्चका भेद भी वास्तवमें सत्य नहीं है; जिस प्रकार स्वप्नके पदार्थोंका पारस्परिक भेद सत्य नहीं होता।

विवादाध्यासितो भेदो जगतोऽपीतरेतरम् ।
न तात्त्विको हि भेदत्वान्मनोराज्यार्थभेदवत् ॥ ६८ ॥

विपरीत वादोंद्वारा आरोपित जगत्‌का पारस्परिक भेद भी, भेद-रूप होनेसे वास्तविक नहीं है; जैसे कि मनोराज्यके पदार्थोंका भेद।

तत्त्वमस्यादिवाक्यानां बहूनां खलु बाधतः ।
प्रत्यक्षाद्यप्रसिद्धत्वादफलत्वान्मृषात्वतः ॥ ६९ ॥
द्वेत्यादिभेदवाक्यानां न भिदास्त्यर्थगोचरा ।
जीवादीनां ततो भेदो मिथ्यैव न च संशयः ॥ ७० ॥

[भेद माननेसे] 'तत्त्वमसि' आदि बहुत-से वाक्योंका बाध होगा—इसलिये, तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे असिद्ध, निष्फल और मिथ्यारूप होनेसे भी 'द्वा सुपर्णा' आदि भेदवाक्योंका अभिप्राय भेद नहीं है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि जीवादिका भेद मिथ्या ही है।

प्रकाशादिवदित्यादिसूत्रेष्वौपाधिकी भिदा ।
दर्शिता सूत्रकारेण भाष्ये भाष्यकृता तथा ॥ ७१ ॥

'प्रकाशादिवच्चावैयर्थ्यात्' (ब्र० ३ । २ । १५) इत्यादि सूत्रोंमें सूत्रकार (व्यासजी) ने तथा शारीरक भाष्यमें भाष्यकार (श्रीशङ्कराचार्य) ने भी भेद उपाधिकृत ही दिखलाया है ।

ननु भेदस्य मिथ्यात्वे साङ्कर्यं सुखदुःखयोः ।
स्यादिति चेन्न भेदस्याप्यङ्गीकारादुपाधिना ॥ ७२ ॥

अब, यदि कहो कि भेदके मिथ्या सिद्ध होनेपर तो सुख-दुःख-

में संकरता हो जायगी, तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उपाधिसे भेद भी अङ्गीकार किया गया है।

औपाधिकेन भेदेन स्याद्व्यवस्था सुखान्ययोः।
प्रकाशेत्यादिसूत्रैश्च तामप्याह स सूत्रकृत् ॥ ७३ ॥

इस प्रकार औपाधिक भेदसे सुख-दुःखकी भी व्यवस्था हो जायगी। सूत्रकारने 'प्रकाशादिवच्च०' आदि सूत्रोंसे उसका भी प्रतिपादन किया है।

तस्माद्भेदश्रुतिर्बाध्या बाधिकाभेदगा श्रुतिः।
एवमुक्तं भिदासत्त्वं बन्धः स्याद्यत्तदुच्यते ॥ ७४ ॥

अतः भेद-प्रतिपादिका श्रुति बाधित होनेवाली है और अभेद-श्रुति उसका बाध करनेवाली है। इस प्रकार भेदके असत्यत्वका प्रतिपादन किया; अब जिसे बन्धन कहते हैं उसका वर्णन किया जाता है।

बन्धनिरूपण

कर्तृत्वादिकबन्धः सन्नध्यस्तत्वाद्भवेत् खलु।
यदित्थं तत्तथा दृष्टं शुक्तिरूप्यादिकं यथा ॥ ७५ ॥

कर्तृत्वादि बन्धन अध्यस्त होनेके कारण निश्चय ही सत्य नहीं हो सकता। जो ऐसा [यानी अध्यस्त] होता है वह वैसा [यानी मिथ्या] ही देखा जाता है; जैसे कि सीपीमें भासनेवाली चाँदी।

तस्माद्बुद्ध्यविवेकेनैवात्मा बद्ध इवेक्ष्यते।
स्वतस्तु सर्वदा मुक्तस्तत्त्वज्ञैरवधार्यते ॥ ७६ ॥

इसलिये बुद्धिके अविवेकसे ही आत्मा बद्ध-जैसा प्रतीत होता है। किन्तु स्वतः तो वह सदा मुक्तस्वरूप ही है; ऐसा तत्त्वज्ञानी पुरुष निश्चय करते हैं।

औपाधिकं तु कर्तृत्वाद्यात्मनि नैव वास्तवम्।
तद्गुणेत्यादिसूत्राभ्यां सूत्रकृतापि दर्शितम्॥ ७७॥

आत्मामें कर्तृत्वादि भाव उपाधिजनित ही हैं—वास्तविक नहीं। यह बात सूत्रकारने भी 'तद्गुणसारत्वात्तु' इत्यादि दो सूत्रोंसे* दिखायी है।

आत्माकी सुखस्वरूपता

स्यादात्मा सुखरूपश्च परप्रेमास्पदत्वतः।
य एवं न भवेन्नासौ प्रियतमो यथा घटः॥ ७८॥

परप्रेमका आश्रय होनेसे आत्मा सुखस्वरूप भी है। जो ऐसा [यानी परप्रेमका आस्पद] नहीं होता, वह प्रियतम भी नहीं हुआ करता; जैसे घट।

---

* वे सूत्र ये हैं—'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्' (२।३।२९) और 'यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्' (२।३।३०)। यदि आत्मा विभु है तो उसे अणु आदि क्यों बतलाया गया है? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—[संसारी होनेमें] आत्मामें बुद्धिके गुणोंकी प्रधानता होनेके कारण उसका बुद्धि-परिमाणरूपसे निर्देश किया जाता है। जैसे कि प्राज्ञ (परमात्मा) को अणु आदि कहकर पुकारा जाता है; यह पहले सूत्रका आशय है। इससे यह शङ्का होती है कि यदि आत्माका संसारित्व बुद्धिसे संयोग होनेके ही कारण है तो जिस समय बुद्धिसे इसका वियोग हो जायगा उस समय इसकी उपलब्धिका कोई साधन न रहनेके कारण आत्माका असत्यत्व ही

सजातीयादिभेदस्य दुःखादेश्च न तत्त्वतः ।
आत्मीयता यतस्तस्य सुप्तौ क्लृप्ता सुखात्मता ॥ ७९ ॥

सजातीयादि भेद और दुःखादि वास्तवमें आत्माके गुण नहीं हैं, क्योंकि सुषुप्तिमें उसकी सुखस्वरूपता मानी गयी है ।

सुखमत्राहमस्वाप्समिति सुप्तेः समुत्थिताः ।
स्मरन्ति च निजानन्दं प्रत्यहं सर्वमानवाः ॥ ८० ॥

सभी लोग नित्य ही सुषुप्तिसे उठकर 'मैं सुखपूर्वक सोया' इस प्रकार आत्मानन्दका स्मरण किया ही करते हैं ।

स्मृतेस्त्वनुभवाज्जन्म संस्कारद्वारतो मतम् ।
अतः स्मृतेर्निदानस्यानुभवस्यापि मानता ॥ ८१ ॥

स्मृतिका जन्म संस्कारद्वारा अनुभवसे ही माना गया है । अतः [मैं सुखपूर्वक सोया—इस] स्मृतिका मूलकारण अनुभव भी इसमें प्रमाण है ।

सौषुप्तानुभवेनेत्थं सिद्धात्मनः सुखात्मता ।
दुःखादिश्च भवेन्मिथ्या सुप्तावनुपलब्धितः ॥ ८२ ॥

निश्चित होगा । इसी शङ्काका दूसरे सूत्रसे उत्तर दिया गया है । उसका तात्पर्य यह है कि 'यह आत्मा जबतक संसारी है तभीतक इसका बुद्धिसे संयोग है; इसलिये इसमें पूर्वोक्त दोष नहीं आ सकता और ऐसा ही शास्त्रोंने प्रदर्शित भी किया है' क्योंकि वास्तवमें तो आत्मा ही एक सत्पदार्थ है, और तो जो कुछ बुद्धि आदि दिखलायी देते हैं वे अविद्यावश उसमें आरोपित ही हैं ।
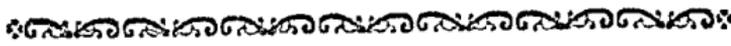
इस प्रकार सुषुप्तिके अनुभवसे भी आत्माकी सुखस्वरूपता सिद्ध होती है; तथा सुषुप्तिमें उपलब्ध न होनेके कारण दुःख आदि मिथ्या ही हैं ।

ग्रन्थकी सफलता

इत्थं वै वेदमूलेनानुमानेनेह दर्शिता ।
भेदमात्रस्य भेदानां बन्धस्य च मृषात्मता ॥ ८३ ॥

इस प्रकार यहाँ वेदमूलक अनुमानसे आत्मामें भेदमात्रकी तथा भेदजनित बन्धनकी असत्यता दिखलायी गयी है ।

जीवस्य ब्रह्मणाभेद एवं सत्युपपद्यते ।
ज्ञाते तस्मिंस्तदज्ञानं सविलासं विनश्यति ॥ ८४ ॥

ऐसा होनेपर ही ब्रह्मके साथ जीवका अभेद सिद्ध होता है । उस (ब्रह्म) का ज्ञान होते ही यह अज्ञान अपनी लीलाके सहित नष्ट हो जाता है ।

तस्मिन्नष्टे तु शास्त्रस्य विषयः सप्रयोजनः ।
सिद्ध्यत्येवं हि शास्त्रेऽस्मिन्धीमत्प्रवृत्तिकारणम् ॥ ८५ ॥

अज्ञानका नाश हो जानेपर शास्त्रका विषय अपने प्रयोजनके सहित सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार यही इस शास्त्रमें बुद्धिमानोंकी प्रवृत्ति होनेका कारण है ।

शास्त्रीययोस्तयोः सिद्धौ ग्रन्थस्यास्यापि सिध्यति ।
सफलो विषयो यस्मात्तस्य प्रकरणं त्वयम् ॥ ८६ ॥
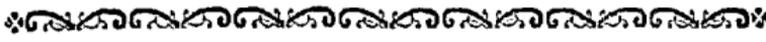
उन शास्त्रीय विपय और प्रयोजनोंके सिद्ध होनेपर इस ग्रन्थ-का विषय भी सफल सिद्ध होता है; क्योंकि यह भी उसीका एक प्रकरण है ।

विपयादिविचाराख्यं ग्रन्थारम्भोपपादकम् ।
आद्यं प्रकरणं पूर्णं जातं रामप्रसादतः ॥

इस प्रकार ग्रन्थका आरम्भ करनेवाला यह 'विपयादि-वि
नामक प्रथम प्रकरण भगवान् रामकी कृपासे पूर्ण हुआ ।

इति श्रीमुमुक्षुसर्वस्वसाराभिधे ग्रन्थे विपयाद्युपपादकं
प्रथमं प्रकरणम् ।

द्वितीय प्रकरण

चित्तशुद्धिके साधन

संग्रहकर्तृवचनम्

विवेकादिचतुर्भिर्हि साधनैः श्रुतिनोदितैः ।
सम्पन्नस्यैव शुद्धान्तःकरणस्य यतेरिह ॥ १ ॥
अधिकारोऽस्ति वेदान्तश्रवणे श्रुतिचोदिते ।
सम्यग्ब्रह्मात्मनोरैक्यं तुर्यस्य ज्ञातुमीप्सतः ॥ २ ॥

जो श्रुत्युक्त विवेकादि चारों साधनोंसे सम्पन्न तथा शुद्धचित्त है और जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंसे अतीत ब्रह्म एवं आत्माके पूर्ण एकत्वकी जिज्ञासा रखता है ऐसे यतिका ही इस श्रुति-प्रतिपादित वेदान्तशास्त्रके श्रवणमें अधिकार है ।

अन्तःकरणसंशुद्धेः साधनानीह भूरिशः ।
वक्ष्यन्ते तां विना सिद्धिर्विवेकादेर्यतो न हि ॥ ३ ॥

अब यहाँ अन्तःकरणकी सम्यक् शुद्धिके लिये अनेकों साधन बतलाये जायँगे, क्योंकि उस (चित्त-शुद्धि) के विना विवेक आदिकी सिद्धि नहीं हो सकती ।
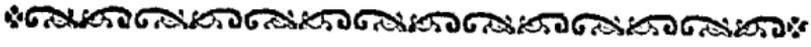
नन्वन्तःकरणस्य स्याच्छुद्धिः केनेह हेतुना ।
रागादिमलदिग्धस्य पङ्केनेव पटस्य वै ॥ ४ ॥

शङ्का—कीचड़में लिथड़े हुए वस्त्रके समान राग आदि मलसे भरे हुए इस अन्तःकरणकी शुद्धि भला कैसे हो सकती है ?

तदभावे विवेकादि स्यादन्तःकरणे कथम् ।
पङ्कलिप्ते यथा वस्त्रे दुर्लभा रागरञ्जना ॥ ५ ॥

और अन्तःकरणकी शुद्धि हुए विना उसमें विवेकादिका प्रादुर्भाव भी कैसे हो सकता है ? जिस प्रकार कीचड़में सने हुए वस्त्रपर कोई भी रंग चढ़ना अत्यन्त दुर्लभ है ।

विवेकादेरभावे च न तत्त्वज्ञानसम्भवः ।
तदभावे मुधैव स्याद्वेदोक्तं सर्वसाधनम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार विवेकादिका अभाव रहनेपर तत्त्वज्ञानका होना किसी प्रकार सम्भव नहीं है, और उस (तत्त्वज्ञान) के अभावमें तो वेदमें कहा हुआ सारा साधन व्यर्थ ही है ।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ

मलिनो हि यथादर्शो रूपालोकस्य न क्षमः ।
तथाविपक्वकरण आत्मज्ञानस्य न क्षमः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार मलिन दर्पण रूपका प्रतिबिम्ब दिखानेमें समर्थ नहीं होता उसी प्रकार जिसका अन्तःकरण परिपक्व (वासनाशून्य) नहीं है वह आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता ।

संग्रहकर्तृवचनम्

इति स्मृत्या च सम्प्रोक्तो ज्ञानाभावो हि तां विना।

इस प्रकार स्मृतिने चित्तशुद्धिके विना ज्ञानका अभाव बतलाया है।

शृणु त्वं सत्त्वशुद्धेस्तु साधनं वेदसम्मतम्।
फलाशां परिहायादौ यत्स्वधर्माभिसेवनम्॥ ८॥

समाधान—अब तुम चित्तशुद्धिके वेदविहित साधन सुनो। उनमें फलकी अभिलाषा त्यागकर अपने धर्मका आचरण करना सबसे पहला साधन है।

पापादीनि नरस्येह सत्त्वाशुद्धिकराणि वै।
धर्मेणेत्यादिवाक्यानि धर्मं तन्नाशकं विदुः॥ ९॥

इस लोकमें पाप आदि मनुष्यके चित्तको अशुद्ध करनेवाले हैं। 'धर्मेण पापमपनुदति' * (ना० उ० ७९) इत्यादि वाक्य धर्मको उन पापादिका नाशक बतलाते हैं।

दूषित अन्नका त्याग

कार्यं सत्त्वविशुद्ध्यर्थं स्ववर्णाश्रमकर्मणाम्।
अनुष्ठानं यथा त्याज्यं तथा दुष्टान्नभक्षणम्॥ १०॥

मनुष्यको चित्तकी शुद्धिके लिये जिस प्रकार अपने वर्णाश्रम-

* धर्मसे पाप दूर होता है।
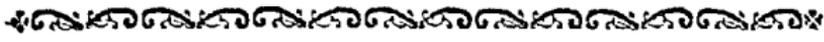
धर्मोंका अनुष्ठान करना आवश्यक है उसी प्रकार उसे दूषित अन्नका भोजन भी त्याग करने योग्य है।

अन्नमाश्रित्य तिष्ठन्ति पुंसां पापानि वै यतः।
तस्मात्सत्त्वविशुद्ध्यर्थी दुष्टान्नस्याशनं त्यजेत् ॥ ११ ॥

क्योंकि मनुष्यके सम्पूर्ण पाप अन्नके आश्रय ही स्थित रहते हैं, इसलिये चित्तशुद्धिकी इच्छावाले पुरुषको दुष्टान्न भक्षण करना छोड़ देना चाहिये।

दुष्टान्नभक्षणस्यापि सत्त्वाशुद्धेर्हि हेतुता।
पराशरादिभिः प्रोक्ता तद्वाक्यानि लिखाम्यतः ॥१२॥

पराशरादि स्मृतिकारोंने भी चित्तकी अशुद्धिमें दुष्टान्न-भक्षणको कारण बतलाया है। अतः अब मैं उनके वचन लिखता हूँ।

पराशरस्मृतौ

अन्नदोषेण चित्तस्य कालुष्यं सर्वदा भवेत्।
कलुषाकृष्टचित्तानां धर्मः सम्यङ् न भासते ॥ १३ ॥

अन्नके दोषसे सदा ही चित्त अशुद्ध होता है, और जिनका चित्त दूषित होता है उन्हें धर्मकी यथावत् प्रतीति नहीं हुआ करती।

दुष्कृतं निखिलं नृणामन्नाधारे व्यवस्थितम्।
तस्य प्रतिग्रहं कुर्यान्नापरीक्ष्य कथञ्चन ॥ १४ ॥

मनुष्योंका सारा पाप अन्नके ही आधारपर स्थित है; अतः अन्नकी परीक्षा किये बिना उसे कभी ग्रहण न करना चाहिये।

अकर्तव्यमकर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
कर्तव्यमेव कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥१५॥

जो अकर्त्तव्य है उसे प्राणोंके कण्ठगत होनेपर भी नहीं करना चाहिये और जो कर्त्तव्य है उसे ही प्राणोंकी बाजी लगाकर भी करना चाहिये ।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ

कर्तव्याशयशुद्धिस्तु भिक्षुकेण विशेषतः ।
ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात्स्वातन्त्र्यकरणाय च ॥१६॥

ज्ञानोत्पत्तिकी निमित्तरूप होनेसे भिक्षुको स्वातन्त्र्य-प्राप्तिके लिये विशेषरूपसे चित्तकी शुद्धि करनी चाहिये ।

संग्रहकर्तृवचनम्

दृष्टान्तान्यपि चोक्तानि धर्मशास्त्रे हि मानवे ।
भारतेऽपि तथोक्तान्यनुवदाम्यत्र तान्यपि ॥१७॥

इन दृष्टान्तोंका वर्णन मानव धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) और महाभारतमें भी किया है; यहाँ मैं उनके वाक्योंको उद्धृत करता हूँ ।

मनुस्मृतौ

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुर्हि स्वर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥ १८ ॥

राजाका अन्न प्रभावको, शूद्रका अन्न ब्रह्मतेजको, सुनारका अन्न आयुको और चर्मकारका अन्न यशको क्षीण करता है ।

कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च ।
गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥ १९ ॥

शिल्पकारका अन्न सन्तानका नाश करता है, धोबीका अन्न बलको नष्ट करता है तथा गण (संघ) और गणिका (वेश्या) का अन्न मनुष्यको शुभलोकोंसे दूर कर देता है ।

पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् ।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् ॥ २० ॥

चिकित्सकका अन्न पीब, कुलटाका वीर्य, सूदखोरका विष्ठा तथा शस्त्र बेचनेवालेका अन्न मलके तुल्य है ।

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः ।
सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ॥ २१ ॥

जो क्षत्रियसे उत्पन्न न हुआ हो ऐसे राजाका तथा कसाई, तेली, कलवार अथवा स्वाँग रचकर ही जीविका उपार्जन करनेवाले पुरुषका अन्न न ले ।

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ २२ ॥

दश कसाइयोंके समान एक तेली होता है, दश तेलियोंके समान एक कलवार है, दश कलवारोंके समान एक स्वाँगी है और दश स्वाँगियोंके समान एक राजा है ।

दशसूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥ २३ ॥
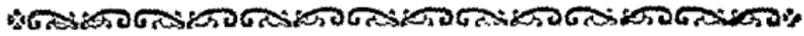
इस प्रकार जो कसाई दश सहस्र हत्या करता है उसके समान राजा माना गया है; अतः उसका अन्न ग्रहण करना अति भयावह है।

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम्॥ २४॥

जो पुरुष शास्त्रमार्गको छोड़कर चलनेवाले अर्थलोलुप राजाका अन्न ग्रहण करता है वह बारी-बारीसे इन इक्कीसों नरकोंमें जाता है।

महाभारते

दीक्षितस्य कदर्यस्य क्रतुविक्रयिकस्य च।
तक्ष्णश्चर्मावकर्तुश्च पुंश्चल्या रजकस्य च॥ २५॥
वामहस्ताहृतं चान्नं भुक्तं पर्युषितं च यत्।
सुरानुगतमुच्छिष्टमभोज्यं शेषितं च यत्॥ २६॥

यज्ञमें दीक्षित, अत्यन्त कृपण, यज्ञ-फल बेचनेवाले, बढ़ई, चर्मकार, व्यभिचारिणी और धोबीका अन्न, तथा बाँयें हाथसे परोसा हुआ, भुक्तशेष (अपना जूठा), पर्युषित (बासी), मदिरासे मिला हुआ, उच्छिष्ट और [दूसरेके लिये] बचाया हुआ अन्न अभोज्य है।

समानमेकपङ्क्त्यां तु भोज्यमन्नं नरेश्वर।
विषं हालाहलं भुङ्क्ते योऽप्रदाय सुहृज्जने॥ २७॥

हे राजन्! पंक्तिमें एक समान अन्न ही खाना चाहिये। जो पुरुष अपने इष्ट-मित्रोंको बिना दिये अकेला ही भोजन करता है वह हालाहल विष ही खाता है।

मनुस्मृतौ

य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः ।
तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ २८ ॥

जिनका अन्न खाने योग्य नहीं है, ऐसे जिन अन्य वर्णोंकी यहाँ क्रमशः चर्चा की गयी है, उनके अन्नको मनीषिजन त्वचा, अस्थि और रोमके तुल्य बतलाते हैं ।

संग्रहकर्तृवचनम्

क्षुधया पीड्यमानस्य मरणमापतेद्यदि ।
तदा दुष्टान्नभुक्तौ न दोषोऽस्तीत्यब्रवीन्मनुः ॥ २९ ॥

यदि भूखसे व्याकुल हुए किसी मनुष्यका मरणकाल उपस्थित हो जाय तो उस समय उसे दूषित अन्न भोजन करनेमें कोई दोष नहीं है—ऐसा मनुजीने कहा है ।

मनुस्मृतौ

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥ ३० ॥

जो पुरुष जीवनका अन्त उपस्थित होनेपर जहाँ-तहाँसे अन्न ग्रहण कर लेता है वह कीचड़से आकाशके समान पापसे लिप्त नहीं होता ।

संग्रहकर्तृवचनम्

येन केनाप्युपायेन स्वधर्मं परिपालयेत् ।
इति मन्वादितात्पर्यमतो नात्र विरोधता ॥ ३१ ॥
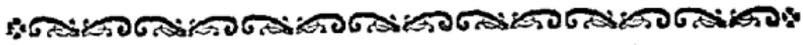
यहाँ मनु आदिका यही तात्पर्य है कि जैसे बने वैसे ही अपने धर्मका पालन करे। अतः उनके इस कथनमें पूर्वापर-विरोध नहीं है।

स्वधर्मपालन

नन्वन्तःकरणस्य प्राग्यदुक्तं शुद्धिसाधनम्।
स्वधर्मस्याभिसेवाख्यं तत्सम्यक् स्यात्कथं न्विह ॥ ३२ ॥

प्रश्न—आपने पहले अपने धर्मका पालनरूप जो अन्तःकरणकी शुद्धिका साधन बतलाया था वह इस लोकमें भली प्रकार कैसे सिद्ध हो सकता है?

यतो लक्षणमानाभ्यां वस्तुसिद्धिः प्रभण्यते।
धर्मस्य लक्षणं चातो धर्मे मानं च संवद ॥ ३३ ॥

क्योंकि पदार्थकी सिद्धि लक्षण और प्रमाणसे ही कही जाती है, अतः आप धर्मका लक्षण और उसमें प्रमाण बतलाइये।

लक्षणं शृणु धर्मस्य तत्र मानं तथा शृणु।
जैमिन्याद्यृषिवाक्याभ्यां तद्द्वयं हि वदामि ते ॥ ३४ ॥

उत्तर—अब तुम धर्मका लक्षण और धर्ममें प्रमाण सुनो। मैं जैमिनि आदि ऋषियोंके दो वाक्योंसे उन दोनोंका वर्णन करता हूँ।

चोदनालक्षणो धर्म इति धर्मस्य लक्षणम्।
श्रीमज्जैमिनिना प्रोक्तं मानं तु मनुनेरितम् ॥ ३५ ॥

'विधेयरूपसे [वेदोंका] अनुशासन ही धर्म है'—यह श्रीमान् जैमिनिने धर्मका लक्षण बतलाया है, तथा मनुजीने उसके विषयमें ये प्रमाण कहे हैं—
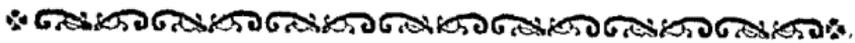
मनुस्मृतौ

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ३६ ॥

सम्पूर्ण धर्मका मूल वेद है । इसके सिवा वेदवेत्ताओंकी स्मृतियाँ और स्वभाव, साधु पुरुषोंका आचरण और अपने चित्तकी प्रसन्नता [—ये भी धर्मके सम्बन्धमें प्रमाण हैं] ।

संग्रहकर्तृवचनम्

स्वधर्मोऽनुष्ठितः सम्यङ्निष्कामः सत्त्वशुद्धिदः ।
स्ववर्णाद्यनुसारेण कामो ह्यनर्थकारणम् ॥ ३७ ॥

अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार सम्यक् प्रकारसे निष्कामभावसे अनुष्ठान किया हुआ स्वधर्म चित्तशुद्धि करनेवाला होता है और वही सकाम होनेपर अनर्थ (जन्ममरणरूप संसार) का हेतु होता है ।

कामात्मता न प्रशस्तेत्युक्तवांश्च यतो मनुः ।
तस्मात्कामं परित्यज्य कार्यं स्वधर्मसेवनम् ॥ ३८ ॥

क्योंकि मनुजीने 'सकामता श्रेष्ठ नहीं है' ऐसा कहा है, इसलिये मनुष्यको कामना छोड़कर अपने धर्मका सेवन करना चाहिये ।

सदाचारस्तथा सेव्यो धर्ममूलं यतोऽस्ति सः ।
आचारप्रभवो धर्म इति वाक्यात्स्मृतीरितः ॥ ३९ ॥

इसके सिवा, सदाचारका भी सेवन करना चाहिये; क्योंकि
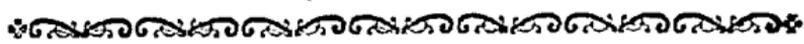
वह धर्मका मूल है, और 'धर्म आचारसे ही प्रकट हुआ है' इस वाक्यसे स्मृतिने भी यही बात कही है।

तथान्तःकरणस्यात्र शुद्धिं कर्तुमभीप्सता।
निष्कामकर्म कर्तव्यं गीताशास्त्रानुसारतः॥ ४०॥

तथा गीताशास्त्रके अनुसार भी अन्तःकरणकी शुद्धि करनेकी इच्छावाले पुरुषको निष्काम कर्म करना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीतासु

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्॥ ४१॥

योगिजन सब प्रकारकी आसक्ति छोड़कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे ही सब प्रकारके कर्म किया करते हैं। योगयुक्त पुरुष कर्मफलका त्याग करके स्थिर शान्ति प्राप्त करता है।

चित्तशुद्धिका फल

संग्रहकर्तृवचनम्

नन्वेवं कर्मणां चास्तु सत्त्वशुद्धेर्हि हेतुता।
तच्छुद्धेः किं फलं प्रोक्तं यदर्थं कर्म चोद्यते॥ ४२॥
शृणु विविदिषा ज्ञानं वा मुख्यं कर्मणां फलम्।
तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः॥ ४३॥
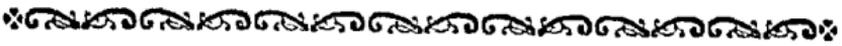
यदि तुम कहो कि 'इस प्रकार कर्म चित्तशुद्धिके कारण हैं, तो रहें, परन्तु उस शुद्धिका क्या फल बतलाया गया है जिसके लिये कर्म करनेकी आज्ञा दी गयी है?' तो सुनो—'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन'* (बृ० उ० ४ । ४ । २२) इत्यादि वाक्यके अनुसार 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' † इस न्यायसे कर्मोंका मुख्य फल जिज्ञासा अथवा ज्ञान ही है ।

स्याद्द्वारं सत्त्वशुद्धिस्तु विविदिषादिसम्भवे ।
द्वारत्वात्कर्मजत्वेन तस्यास्तत्फलतेरिता ॥ ४४ ॥

जिज्ञासा आदिकी उत्पत्तिमें चित्तशुद्धि ही द्वार है, अतः कर्मजन्य होनेसे उसका द्वार होनेके कारण वह (चित्तशुद्धि) जिज्ञासारूप फलवाली बतलायी गयी है ।

सत्त्वशुद्धिप्रसूतत्वं विविदिषात्मसंविदोः ।
अतस्तत्फलताप्यस्ति तयोर्मुख्येति निश्चिनु ॥ ४५ ॥

* इस प्रसिद्ध आत्माको ब्राह्मणलोग वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और उपवासद्वारा जानना चाहते हैं ।

† 'एकके उभयार्थक होनेमें फल-संयोगकी विभिन्नता कारण है', जैसे—'खादिरो यूपो भवति' (यज्ञमें खदिरका यूप हुआ करता है) 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत' (वीर्यकी इच्छावाले पुरुषके लिये खदिरका यूप बनावे) इन वाक्योंके अनुसार एक ही 'खादिर यूप' फल-संयोग-भेदसे यज्ञ तथा पुरुष दोनोंके ही लिये है । इसी प्रकार यहाँ फल-संयोग-भेदसे एक ही कर्म ज्ञान और जिज्ञासा दोनोंका उत्पादक हो सकता है ।

आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा और ज्ञान चित्तशुद्धिसे ही होते हैं; अतः यह निश्चय मानो कि वे ही दोनों उसके मुख्य फल हैं।

ननु च तद्यथेत्याद्यैर्वाक्यैर्हि निन्दितत्वतः।
सत्त्वशुद्धेस्तु हेतुत्वं कर्मणां नोपपद्यते ॥ ४६ ॥
मैवमुक्ता यतः श्रुत्या भगवद्गीतया तथा।
निष्कामकर्मणां पुंसः सत्त्वशुद्ध्यादिहेतुता ॥ ४७ ॥

यदि कहो कि 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' * (छा० उ० ८ । १ । ६) आदि वाक्योंसे कर्मकी निन्दा की गयी है; इसलिये कर्म चित्तशुद्धिके कारण नहीं हो सकते, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति और भगवद्गीताने भी मनुष्यकी चित्तशुद्धिमें निष्काम कर्मोंका कारणत्व प्रतिपादन किया है।

तद्यथेत्यादिका निन्दा सा फलाशानिषेधिका।
धर्मेणेत्यादिवाक्यानि स्मृत्वा चाशङ्कितो भव ॥ ४८ ॥

'तद्यथेह·····'आदि वाक्योंसे जो कर्मकी निन्दा की गयी है वह तो कर्मफलकी आशाका ही निषेध करनेवाली है। इस विषयमें 'धर्मेण पापमपनुदति' (ना० उ० ७९) आदि वाक्योंको स्मरण करके तुम निःशंक हो जाओ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वेति श्रुत्येत्यवगम्यते।
फलेच्छां तु विना कर्म कृतं सत्त्वस्य शुद्धिकृत् ॥ ४९ ॥

---

* जिस प्रकार यहाँ कर्मसे प्राप्त हुआ लोक क्षीण हो जाता है उसी प्रकार परलोकमें पुण्योपार्जित लोक क्षीण हो जाता है।
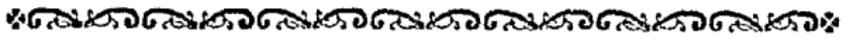
'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' * (ई० उ० ११) इत्यादि श्रुतिसे भी यही जाना जाता है कि फलकी इच्छाके बिना किया हुआ कर्म चित्तकी शुद्धि करनेवाला होता है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'
इत्यादिस्मृतिभिश्चापि फलाशैव निषिध्यते ॥ ५० ॥

'कर्ममें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं' इत्यादि [गीता आदि] स्मृतियोंसे भी फलकी कामनाका ही निषेध किया गया है।

हृच्छुद्ध्यादेर्हि नन्वस्तु कर्मजत्वं श्रुतेर्बलात्।
नात्मज्ञानस्य तद्युक्तं प्रमाणजं यतोऽस्ति तत् ॥ ५१ ॥

शङ्का–श्रुतिकी सामर्थ्यसे चित्तशुद्धि आदि भले ही कर्मजन्य मान ली जायँ परन्तु आत्मज्ञानको कर्मजनित मानना तो किसी प्रकार उचित नहीं है, क्योंकि वह तो शब्दप्रमाणसे ही उत्पन्न होता है।

विमतं ह्यात्मनो ज्ञानं नैव कर्माण्यपेक्षते।
स्वोत्पत्तिं प्रति मात्वेन घटज्ञानादिकं यथा ॥ ५२ ॥

आत्माका ज्ञान इस (कर्म) से विरुद्ध है। घटज्ञानादिके समान उसे अपनी उत्पत्तिमें प्रमाणरूपसे कर्मोंकी अपेक्षा नहीं होती।

वाक्यश्रवणमात्रात्स्यात्तत्त्वज्ञानं यतो नृणाम्।
तेन मोक्षोऽपि संसिद्ध्येज्ज्ञानायातः क्रिया वृथा ॥ ५३ ॥

---

* अविद्या (कर्म) से मृत्युको पार करके विद्या (उपासना) से अमरत्व प्राप्त करता है।
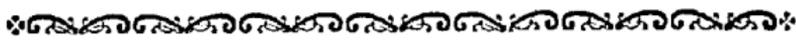
क्योंकि मनुष्योंको महावाक्यके श्रवणमात्रसे ही तत्त्वज्ञान हो जाता है, और उसी (ज्ञान) से मोक्षकी भी सिद्धि हो सकती है। अतः ज्ञानोत्पत्तिके लिये कर्म करना वृथा ही है।

सत्यं प्रमाणजन्यत्वं ज्ञानस्यास्माकमीप्सितम् ।
कर्मजत्वं तथाप्यस्य यज्ञेनेति श्रुतेर्बलात् ॥ ५४ ॥

समाधान—ठीक है, ज्ञानका प्रमाणजन्यत्व हमें भी अभीष्ट है। परन्तु 'यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' (बृ० उ० ४।४।२२) इत्यादि श्रुतिके बलसे यह कर्मजनित भी सिद्ध होता है।

उत्पन्नमात्मनो ज्ञानं त्वनपेक्षं फलं प्रति ।
स्वोत्पत्तिं प्रत्यपेक्षेत कर्म योग्यतयाश्ववत् ॥ ५५ ॥

उत्पन्न हुआ आत्मज्ञान फलके प्रति निरपेक्ष है; किन्तु अपनी उत्पत्तिके लिये उसे कर्मकी अपेक्षा है, क्योंकि कर्ममें ही चित्तशुद्धि-द्वारा ज्ञान उत्पन्न करनेकी योग्यता है; जैसे अश्व [कृषिमें उपयोगी न होनेपर भी रथ खींचनेमें तो उसकी योग्यता है ही]।

अज्ञानस्य न चोच्छेदे ज्ञानाद्भिन्नमपेक्ष्यते ।
तस्योत्पत्तौ तु नैवान्यद्विवेकादेरपेक्ष्यते ॥ ५६ ॥

अज्ञानका नाश होनेमें तो ज्ञानके सिवा और किसीकी भी आवश्यकता नहीं है, और ज्ञानकी उत्पत्तिमें भी विवेकके सिवा और किसीकी अपेक्षा नहीं है।

विवेकादेस्तु संजन्यै सत्त्वशुद्धिरपेक्ष्यते ।
सत्त्वशुद्ध्यै तु निष्कामकर्मभ्यो नान्यदिष्यते ॥ ५७ ॥

विवेकादिकी उत्पत्तिके लिये केवल चित्तशुद्धिकी आवश्यकता है और चित्तशुद्धिके लिये तो निष्काम कर्मके सिवा और किसीकी भी अपेक्षा नहीं है।

पारम्पर्येण युक्तैवं ज्ञानस्य कर्मजन्यता।
साधनं स्यादतः कर्म तत्साध्यमात्मवेदनम्॥ ५८॥

इस प्रकार परम्परासे ज्ञानको कर्मजनित मानना ठीक ही है। अतः कर्म साधन है और आत्मज्ञान उसका साध्य है।

संगूहकर्तृवचनम्

'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्मभिः पक्के ततो ज्ञानं प्रवर्तते'॥ ५९॥
इत्यादिस्मृतिभिः प्रोक्ता कर्मणां ज्ञानहेतुता।
तस्माज्ज्ञानार्थिना तावत्कार्या यागादिकाः क्रियाः॥ ६०॥

'कर्म वासनाके क्षीण होनेका साधन है और ज्ञान तो परम-गति ही है। कर्मोद्वारा वासनाओंके क्षीण हो जानेपर फिर ज्ञान प्रवृत्त होता है' इत्यादि स्मृतियोंने कर्मोंका ज्ञानोत्पत्तिमें कारणत्व प्रतिपादन किया है। इसलिये जिज्ञासुको ज्ञानोपलब्धिपर्यन्त यज्ञ-यागादि कर्म करते ही रहना चाहिये।

वेदव्यासोऽपि विद्यायाः कर्मजन्यत्वमुक्तवान्।
सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववदित्यतः॥ ६१॥

'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' * (ब्र० सू० ३ । ४ । २६) इस सूत्रसे वेदव्यासजीने भी ज्ञानका कर्मजन्यत्व प्रतिपादन किया है ।

अशुद्धचेतसो भ्रान्त्या ज्ञाने भोगादिनाशके ।
भवेत्पापवतो द्वेषः प्रतिबन्धस्य सत्त्वतः ॥ ६२ ॥

जिसका चित्त अशुद्ध है उस पापात्माको ज्ञानका प्रतिबन्ध रहनेके कारण भोगादिका नाश करनेवाले ज्ञानमें भ्रान्तिवश द्वेष रहा करता है ।

यागाद्यैः शुद्धचित्तस्य विवेकः सत्त्वशुद्धिजः ।
जिहासां सत्यलोकादौ व्यनक्त्येवाशु निर्मलाम् ।
तस्मात्पापौघनाशाय कार्यो धर्मो मुमुक्षुभिः ॥ ६३ ॥

परन्तु यागादिसे जिसका चित्त शुद्ध हो गया है उसके हृदयमें, चित्तशुद्धिजनित विवेक शीघ्र ही सत्यलोकादिमें विशुद्ध त्याग-बुद्धि उत्पन्न कर देता है; अतः मुमुक्षुको पापराशिका नाश करनेके लिये धर्मानुष्ठान करना ही चाहिये ।

ननु चित्तस्य काशुद्धिर्या स्वधर्मेण नाश्यते ।
पापोपलेपरूपा वा विषयाकारताथवा ॥ ६४ ॥

---

* 'यज्ञेन तपसानाशकेन' (बृ० उ० ४ । ४ । २२) इत्यादि श्रुतिके अनुसार विद्या [अपनी उत्पत्तिमें तो] सम्पूर्ण वर्णाश्रमविहित कर्मोंकी अपेक्षावाली है [किन्तु फलसिद्धिमें नहीं] जैसे घोड़ा [हल खींचनेमें तो उपयोगी नहीं है तथापि रथमें तो जोता ही जाता है] ।
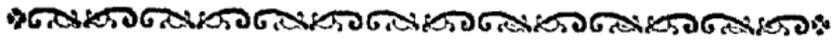
शङ्का—जिसका स्वधर्मपालनसे नाश किया जाता है वह चित्तकी अशुद्धि क्या है ? वह पापसंस्काररूपा है या विषयाकारतारूप ?

किल्बिषानामनन्तत्वाद्विना ज्ञानादिना क्षयः ।
न सम्भवति यस्माद्धि तस्मान्नाद्यस्य सम्भवः ॥ ६५ ॥

पाप अनन्त हैं; अतः ज्ञानादिके बिना उनका क्षय नहीं हो सकता । इसलिये [धर्मपालनमात्रसे उसका नाश न होनेके कारण पापसंस्काररूप] प्रथम पक्ष तो हो नहीं सकता ।

जलादेर्द्रवतादीनां तत्सत्त्वे न यथा क्षयः ।
चित्तसत्त्वे न तद्वत्स्याद्विषयाकारताक्षयः ॥ ६६ ॥

जिस प्रकार जलादिके धर्म द्रवता आदिका उन (जलादि) की सत्ता रहते क्षय नहीं हो सकता, उसी प्रकार चित्तके रहते हुए उसकी विषयाकारताका नाश नहीं हो सकता ।

धर्मिणि सति धर्मस्य न नाशोऽस्ति स्वभावतः ।
तस्मिन्नष्टे त्वयत्नेन धर्मनाशोऽपि सम्भवेत् ॥ ६७ ॥

स्वाभाविक होनेके कारण धर्मीके रहते हुए धर्मका नाश नहीं हो सकता । हाँ, उसके नष्ट हो जानेपर तो बिना प्रयत्नके ही धर्मका भी नाश होना सम्भव है ।

द्वितीयासम्भवश्चैवमतो धर्माभिसेवने ।
राजान्नादेश्च सन्त्यागे जिज्ञासोः स्याच्छ्रमो वृथा ॥ ६८ ॥

अतः [विषयाकारतारूप] द्वितीय पक्ष भी असम्भव ही है,

इसलिये धर्मपालन करनेमें और राजाके अन्न आदिके त्यागनेमें जिज्ञासुका श्रम वृथा ही होगा।

सत्यं किल्विषबाहुल्यं यत्त्वयोक्तं तथापि तु।
विना ब्रह्मात्मविज्ञानं यद्वद्ब्रह्मवधादिकाः ॥६९॥
अधर्मा नाशमायान्ति प्रायश्चित्ताख्यकर्मणा।
तद्वद्धर्मेण संनश्येत्पापं चित्तप्रदूषकम् ॥७०॥

समाधान—तुमने जो पापोंकी अधिकता बतलायी सो तो ठीक है; परन्तु जैसे आत्माके ब्रह्मत्वका ज्ञान हुए बिना भी ब्रह्मवध आदि पाप प्रायश्चित्त नामक कर्मसे ही नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार चित्तको दूषित करनेवाला पाप भी धर्मसे नष्ट हो सकता है।

अतश्चित्तप्रसादस्य जनकत्वेन हेतुना।
धर्मो जिज्ञासुना कार्यो यावज्ज्ञानं न सम्भवेत् ॥७१॥

अतः जबतक ज्ञान न हो तबतक जिज्ञासुको चित्तशुद्धिका जनक होनेके कारण धर्मका ही आचरण करना चाहिये।

भोगेनाप्यखिलाघानां यस्त्वन्यत्रोच्यते क्षयः।
स नास्त्यभिनवं यस्माद्भोगकालेऽघमुद्भवेत् ॥७२॥

तथा अन्यत्र जो कर्मफलभोगद्वारा सम्पूर्ण पापोंका क्षय होना

---

* चित्तकी शुद्धिके लिये ही राजा आदिके अन्नोंका त्याग करना पड़ता है, यदि चित्तकी अशुद्धि विषयाकारतारूप मानी जाय तो यह चित्तके रहते हुए नष्ट नहीं हो सकती। ऐसी दशामें अन्न-त्याग व्यर्थ ही होगा, इसलिये द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं।
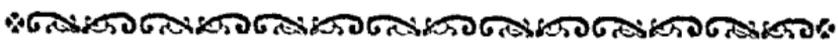
बतलाया जाता है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि भोगकालमें तो और भी नवीन पाप उत्पन्न हो जायगा।

विषयाकारताख्या या चित्तस्याशुद्धिरीरिता।
सापि नाशयितुं शक्या यतः स्वाभाविकी न सा ॥७३॥

इसके सिवा जो विषयाकारता नामकी चित्तकी अशुद्धि बतलायी गयी है वह भी नष्ट की जा सकती है, क्योंकि वह स्वाभाविकी नहीं है।

स्वार्थसङ्गो यथा स्थूलविषयाकारतां प्रति।
चित्तस्य जागरे हेतुर्हृदः स्वप्ने तथा पुनः ॥७४॥
विषयाकारताहेतुर्वासना हि मनोगता।
उभयोरत्यये चित्तं सुप्तौ निर्विषयं यतः ॥७५॥

जिस प्रकार जाग्रत्कालमें चित्तकी स्थूलविषयाकारतामें इन्द्रिय-ग्राह्य विषयोंका संग कारण है उसी प्रकार स्वप्नावस्थामें हृदयकी विषयाकारताका हेतु मनोगत वासना ही है, क्योंकि सुषुप्तिमें इन दोनोंका क्षय हो जानेपर चित्त निर्विषय हो जाता है।

सुप्तौ न लीयते चित्तं विषयाकारता तदा।
निमित्तापगमादेव नाशं याति ह्यतिस्फुटम् ॥७६॥

सुषुप्तिमें चित्त लीन नहीं होता। उस समय केवल [विषय एवं वासनारूप] निमित्तका अभाव हो जानेसे ही विषयाकारता अत्यन्त स्फुट रीतिसे नष्ट हो जाती है।

सुप्तौ लीयेत चेच्चित्तं नोत्थितस्य पुनर्भवः।
तर्हि चित्तस्य सत्तातः सुप्तावस्तीति गम्यते ॥७७॥

यदि सुषुप्तिमें चित्त लीन हो जाता तो जागनेवाले पुरुषमें उसका फिर प्रादुर्भाव नहीं हो सकता था; अतः इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्तिमें चित्तकी सत्ता रहती है ।

तदापीतेर्हि संसारव्यपदेशादितीरयन् ।
श्रीव्यासोऽपि जगौ सुप्तौ मनस्सत्तां भवोद्भवाम् ॥ ७८ ॥

श्रीव्यासजीने भी 'तदापीतेः संसारव्यपदेशात्' * (ब्र० सू० ४।२।८) ऐसा कहकर सुषुप्तिमें जगत्की कारणरूप मनकी सत्ता मानी है ।

अपञ्चीकृतभूतानां सात्त्विकांशाद्धि निर्मलात् ।
उत्पन्नं चित्तवस्तु स्यात्स्वयं तु मलिनं कथम् ॥ ७९ ॥

अपञ्चीकृत भूतोंके विशुद्ध सात्त्विक अंशसे उत्पन्न हुआ मनस्तत्त्व भला स्वयं तो किस प्रकार मलिन हो सकता है ?

सितेभ्य इह तन्तुभ्यो नासितो जायते पटः ।
विषयाकारताशुद्धिर्हृदोऽतो नैव वास्तवी ॥ ८० ॥

इस संसारमें श्वेत तन्तुओंसे श्याम वस्त्र कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः चित्तकी विषयाकारतारूप अशुद्धि वास्तविकी † नहीं है ।

---

* यह मन ['योनिमन्ये प्रपद्यन्ते' इत्यादि श्रुतिद्वारा ज्ञानसे पूर्व] संसारप्राप्तिका निर्देश किये जानेके कारण मोक्षपर्यन्त रहता है ।

† तात्पर्य यह है कि जैसे श्वेत तन्तुसे श्याम वस्त्र प्रकट नहीं होता उसी प्रकार शुद्ध सत्त्वांशसे मलिन चित्त भी उत्पन्न नहीं हो सकता । अतः चित्तकी अशुद्धि कपड़ेमें मैलकी तरह वास्तविक नहीं है ।

अतः समो न दृष्टान्तः पूर्वपक्षी यमुक्तवान् ।
द्रवत्वादेर्म्बुवादीनां स्वभावताक्षिगोचरा ॥ ८१ ॥

अतः पूर्वपक्षीने जो [चित्तकी अशुद्धिके विषयमें पापोपलेप और विषयाकारतारूप] दृष्टान्त दिया है, वह ठीक नहीं है क्योंकि जल आदिके द्रवता आदि गुणोंकी स्वाभाविकता तो प्रत्यक्ष ही है ।

प्रथमाशुद्धिनाशाय धर्मानुष्ठानमीरितम् ।
द्वितीयाशुद्धिनाशाय ज्ञानशुद्धिं निबोधत ॥ ८२ ॥

[पूर्वोक्त चित्तकी अशुद्धियोंमेंसे] पहली अशुद्धिके नाशके लिये धर्मानुष्ठान बतलाया गया है और दूसरी अशुद्धिके नाशका हेतु ज्ञानशुद्धि (विचारशुद्धि) समझो ।

आहारस्यैव संशुद्धौ सत्त्वशुद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
इतिच्छान्दोग्यवाक्येन ज्ञानशुद्धिः प्रदर्शिता ॥ ८३ ॥
हेतुता सत्त्वशुद्धेर्हि तथा भाष्यकृतापि च ।
आहारो विषयज्ञानं भोक्तुर्भोगाय यद्भवेत् ॥ ८४ ॥

'आहारकी ही शुद्धिसे निश्चय सत्त्व-शुद्धि होती है' इस प्रकार छान्दोग्य-श्रुतिके वचनसे, तथा भाष्यकारके मतसे भी चित्तशुद्धिका कारण विचारकी शुद्धि ही बतलायी गयी है । वह आहार विषयज्ञान है, जो कि भोक्ताके भोगके लिये होता है ।

रागद्वेषादिराहित्यं तस्य शुद्धिरिहोच्यते ।
तस्यां सत्यां च सत्त्वस्यान्तःकरणस्य शुद्धता ॥ ८५ ॥

यहाँ (भाष्यकारके इस कथनमें) उस (भोग) की शुद्धि राग-द्वेषसे रहित होना ही बतलाया गया है । उसके होनेपर ही सत्त्व अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धता होती है ।

इतिच्छान्दोग्यवाक्यार्थः सङ्क्षेपेणेह दर्शितः ।
ज्ञानशुद्धिश्च कर्तव्या चित्तशुद्ध्यै ह्यतो बुधैः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार यहाँ छान्दोग्य-श्रुतिका अर्थ संक्षेपसे दिखाया गया है । अतः बुद्धिमानोंको चित्तशुद्धिके लिये विचारका शोधन भी करना चाहिये ।

रागद्वेषादिना चित्तं द्रुतं सद्विषयाकृतिम् ।
यात्यतस्तत्परित्याज्यं चित्तशुद्ध्यर्थिना सदा ॥ ८७ ॥

राग-द्वेषादिसे चित्त द्रवीभूत होकर विषयाकार हो जाता है अतः चित्तशुद्धिके इच्छुकोंको उन्हें सदा ही त्यागना चाहिये ।

रागद्वेषौ विहायैवं दुष्टान्नभक्षणं तथा ।
स्वधर्मश्च सदा सेव्यश्चित्तशुद्ध्यर्थिभिर्जनैः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार राग-द्वेष और दूषित अन्नभक्षणको त्यागकर चित्तशुद्धिके इच्छुक पुरुषोंको सदा ही स्वधर्मका पालन करना चाहिये ।

कलियुगमें चित्तशुद्धि कैसे होगी ?

ननु घोरे कलौ काले सर्वधर्माभिभावके ।
वर्णाश्रमाश्रितो धर्मः प्रायेणाल्पत्वमागतः ॥ ८९ ॥

शङ्का—सम्पूर्ण धर्मोंका ह्रास करनेवाले इस भयंकर कलिकालमें वर्णाश्रमसम्बन्धी धर्म प्रायः क्षीण हो गया है ।
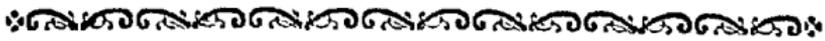
तेन चित्तस्य शुद्धिः स्यान्नृणां नैव कलौ युगे ।
यथात्यल्पेन क्षारेण चक्रिवस्त्रं न शुद्ध्यति ॥ ९० ॥

इसलिये कलियुगमें मनुष्योंकी चित्तशुद्धि नहीं हो सकती, जैसे कि तेलीका वस्त्र थोड़े-से क्षारसे साफ नहीं हो सकता ।

जना यतः कलावत्र प्रायेण स्त्रीपराजिताः ।
नानुतिष्ठन्ति धर्मान्स्वान्दैवमायाविमोहिताः ॥ ९१ ॥

क्योंकि इस कलियुगमें लोग प्रायः स्त्रीके वशीभूत हैं; इसलिये भगवान्‌की मायासे मोहित होकर वे अपने धर्मोंका पालन नहीं करते ।

ते तु कुर्वन्ति चेद्धर्मं ख्यात्याद्यर्थं न चेतसः ।
शुद्धये तं परेशार्थमर्पयन्ति कलेर्वशात् ॥ ९२ ॥

वे यदि धर्म करते भी हैं तो नाम कमानेके लिये ही करते हैं; कलिकालके वशीभूत होनेके कारण वे उसे चित्तशुद्धिके लिये परमात्माको अर्पण नहीं करते ।

नन्वल्पोऽपि यथा वह्निर्दहति तृणकूटकम् ।
तथा स्वल्पः कृतो धर्मोऽधर्मं स नाशयेद्ध्रुवम् ॥ ९३ ॥
सत्यमेवं त्वयोक्तं स्याद्यदि धर्मः सुसाधितः ।
भवेत्तं हि न सम्यङ्ना कलौ साधयितुं क्षमः ॥ ९४ ॥

यदि कहो कि जिस प्रकार थोड़ा-सा भी अग्नि तृणके समूहको जला डालता है उसी प्रकार थोड़ा-सा भी धर्मानुष्ठान अधर्मको अवश्य नष्ट कर देगा, तो तुम्हारा यह कथन तब तो ठीक हो सकता
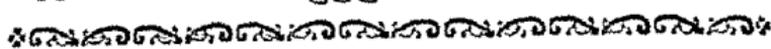
था जब कि वह थोड़ा-सा धर्म भी भली प्रकार सम्पन्न किया जाता। किन्तु इस कलिकालमें मनुष्य उसे यथावत् सिद्ध करनेमें ही समर्थ नहीं है।

धर्मसङ्करता चापि दृश्यते हि यतः कलौ।
धर्मैर्वर्णाश्रमाणां स्याच्चित्तशुद्धिरतः कथम्॥९५॥

इसके सिवा कलियुगमें धर्मसंकरता भी देखी जाती है। अतः वर्णाश्रमोंके धर्मोंसे चित्तकी शुद्धि किस प्रकार हो सकती है?

ज्ञानशुद्धिस्तु या प्रोक्ता सापीश्वरकृपां विना।
नास्त्यल्पधर्मकस्यात्र युगे हृच्छुद्धिसाधनम्॥९६॥

तथा तुमने जिस चित्तशुद्धिकी साधनभूत ज्ञानशुद्धिका पहले वर्णन किया है वह भी इस कलियुगमें स्वल्पधर्मा पुरुषको भगवान्‌की कृपाके बिना प्राप्त नहीं हो सकती।

पराशरादिसर्वज्ञैः कलेर्बलं निरूपितम्।
स्वीयेषु धर्मशास्त्रेषु तद्वाक्यान्यनुसंब्रुवे॥९७॥

पराशरादि सर्वज्ञोंने अपने धर्मशास्त्रोंमें कलियुगके बलका निरूपण किया है। यहाँ हम उनके वाक्योंका उल्लेख करते हैं।

पराशरस्मृतौ

जितो धर्मो ह्यधर्मेण जितं सत्यमनृतेन च।
जिताश्चौरैश्च राजानः स्त्रीभिश्च पुरुषाः कलौ॥९८॥

कलियुगमें धर्म अधर्मसे, सत्य मिथ्यासे, राजालोग चोरोंसे और पुरुष स्त्रियोंसे जीत लिये गये हैं।

विष्णुपुराणे

भैक्षवृत्त्या तथा शूद्राः प्रव्रज्यालिङ्गिनोऽधमाः ।
पाखण्डसंश्रयां वृत्तिमाश्रयिष्यन्त्यसंस्कृताः ॥ ९९ ॥
सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति सम्प्राप्ते तु कलौ युगे ।
नानुतिष्ठन्ति मैत्रेय शिश्नोदरपरायणाः ॥१००॥

[कलियुगमें] पापी और संस्कारहीन शूद्रगण संन्यासके चिह्न धारणकर भिक्षावृत्तिका आश्रय ले पाखण्डियोंके आचरणका अवलम्बन करेंगे । हे मैत्रेय ! कलिकाल आनेपर सभी लोग ब्रह्म-ज्ञानकी बातें करने लगेंगे । वे इन्द्रिय-विलास और उदर-पोषणमें आसक्त होकर धर्मानुष्ठान नहीं करेंगे ।

भविष्यपुराणे

गृहे गृहे पुस्तकभारभारं
पुरे पुरे पण्डितयूथयूथम् ।
मठे मठे तापसवृन्दवृन्दं
न ब्रह्मवेत्ता न च कर्मकर्ता ॥१०१॥

[कलिकालमें] घर-घरमें बोझ-की-बोझ पुस्तकें होंगी, नगर-नगरमें झुण्ड-के-झुण्ड पण्डित होंगे, मठ-मठमें यूथ-के-यूथ तपस्वी दिखायी देंगे; किन्तु उनमें न तो कोई ब्रह्मज्ञानी ही होगा और न कोई कर्म करनेवाला ही ।

श्रीमद्भागवते

तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः ।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव ॥१०२॥
इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद्यतः ।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः ॥१०३॥

[राजा परीक्षित कहते हैं—'हे धर्म !] सत्ययुगमें तुम्हारे तप, शौच, दया और सत्य ये चार चरण थे; किन्तु अब अभिमान, आसक्ति और मदरूप अधर्मके अंशोंसे उनमेंसे तीन टूट गये हैं। हे धर्म ! इस समय क्योंकि तुम्हारा सत्य नामक केवल एक ही चरण रह गया है, इसलिये असत्यकी सहायतासे सबल हुआ यह कलियुग अब उसे भी तोड़ना चाहता है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

इत्थं पराशरादीनां वाक्यैर्वर्णाश्रमाश्रितम् ।
धर्मं तिरस्करोत्येवाधर्मेण वर्द्धितः कलिः ॥१०४॥

इस प्रकार पराशरादिके कथनानुसार भी अधर्मसे वृद्धिको प्राप्त हुआ कलियुग धर्मका तिरस्कार कर ही देता है ।

अतोऽन्यत्साधनं वाच्यं यत्कलिनातिरस्कृतम् ।
सर्वाधिकारकं यच्च सुकरं शास्त्रसम्मतम् ॥१०५॥

अतः अब ऐसा कोई और साधन बतलाना चाहिये जो कलियुगसे तिरस्कृत न हुआ हो, जिसके सभी अधिकारी हों, जो सबके लिये सुकर हो और शास्त्रानुकूल भी हो ।

चित्तस्य शोधकं चाशु द्विविधाशुद्धिनाशकम् ।
तादृक्तु साधनं नास्ति स्याद्धृच्छुद्धिरतः कथम् ॥१०६॥

इस समय जो चित्तको शीघ्र ही शुद्ध करनेवाला और दोनों प्रकारकी अशुद्धिका नाशक हो ऐसा कोई साधन नहीं है; फिर चित्तकी शुद्धि कैसे हो सकती है ?

भक्तिकी महिमा

मैवं भगवतो भक्तियोगोऽस्त्येवेश्वरेरितः ।
द्विविधाशुद्धिनाशाय श्रीमद्भागवते खलु ॥१०७॥

समाधान—ऐसा मत कहो, क्योंकि इन दोनों प्रकारकी अशुद्धियों-को नष्ट करनेके लिये श्रीमद्भागवतमें कृष्णचन्द्रका कहा हुआ भगवान्का भक्तियोग तो है ही ।

भक्तेश्च महिमा नैव कलिनाप्यभिभूयते ।
इत्युक्तं धर्मराजेन यमस्मृतौ तु वै स्फुटम् ॥१०८॥

और धर्मराजने यमस्मृतिमें भी यह बात स्पष्टतया कही है कि भक्तिकी महिमा तो कलियुगसे भी तिरस्कृत नहीं हो सकती ।

प्राणिमात्रोऽधिकार्यस्याः श्रीगीतायां समीरितः ।
सुकरत्वं च भक्तेर्वै भारते समुदीरितम् ॥१०९॥

श्रीगीताजीमें प्राणिमात्रको इसका अधिकारी बतलाया है और महाभारतमें भक्तिकी सुकरताका भी प्रतिपादन किया है ।
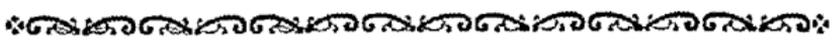
पापकर्मादिभिश्चित्तं मालिन्यमुपढौकते ।
भक्तेश्चाघविरोधित्वाद्भवेद्धृच्छुद्धिहेतुता ॥११०॥

पापकर्मादिसे ही चित्तपर मलिनता चढ़ जाती है; अतः पापकी विरोधिनी होनेसे भक्तिका चित्तशुद्धिमें कारण बनना ठीक ही है ।

यथापां क्षारयुक्तानां वस्त्रादिशुद्धिहेतुता ।
इति युक्तिस्तथैवोह्या भक्तेश्चित्तप्रशोधने ॥१११॥

जिस प्रकार क्षारयुक्त जल वस्त्रादिकी सफाई करनेमें कारण है, वही युक्ति चित्तको शुद्ध करनेमें भक्तिके विषयमें समझनी चाहिये।

प्रोक्तेयं नवधात्वेन पुराणे वेदसंमता ।
कैर्वाक्यैरुदितं चैतदिति चेच्छृणु तान्यपि ॥११२॥

यह वेदविहित भक्ति पुराणमें नौ प्रकारसे बतलायी गयी है। अब यदि कहो कि इसका वर्णन किन वाक्योंमें हुआ है, तो उन वाक्योंको भी सुनो ।

श्रीमद्भागवते

यथाग्निना हेममलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते स्वरूपम् ।
आत्मा तु कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥११३॥

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मामसकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥११४॥

जिस प्रकार अग्निसे तपाये जानेपर सोना मलको त्यागकर अपना शुद्ध रूप ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार मेरे भक्तियोगसे आत्मा अपने कर्मबन्धनको त्यागकर मुझे ही प्राप्त हो जाता है। जो ऊपर बतलाये हुए भक्तियोगसे मेरा भजन करता है उस मुनिकी सभी हृदयस्थित कामनाएँ, चित्तमें मेरे विराजमान होनेपर, नष्ट हो जाती हैं।

यमस्मृतौ

घोरे कलियुगे प्राप्ते सर्वधर्मविवर्जिते।
वासुदेवपरा राजंस्ते कृतार्था न संशयः॥११५॥

हे राजन्! सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित घोर कलिकालके आनेपर जो लोग वासुदेवपरायण होंगे वे निःसन्देह कृतार्थ हो जायँगे।

श्रीमद्भगवद्गीतासु

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥११६॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥११७॥

हे अर्जुन! मेरा आश्रय करके तो स्त्री, वैश्य और शूद्र तथा जो पापयोनियाँ हैं वे भी परमगतिको प्राप्त हो जाती हैं। फिर परम पवित्र ब्राह्मण और भक्त राजर्षियोंकी तो बात ही क्या है? अतः इस अनित्य और दुःखमय लोकको पाकर तुम मेरा भजन करो।

महाभारते

पत्रेषु पुष्पेषु फलेषु तोये-
ष्वक्रीतलभ्येषु सदैव सत्सु ।
भक्त्यैकलभ्ये पुरुषे पुराणे
मुक्त्यै कथं न क्रियते प्रयत्नः ॥११८॥

बिना मोल ही मिलनेवाले पत्र, पुष्प, फल और जल आदिके सदा रहते हुए भी, भवबन्धनसे मुक्त होनेके लिये, एकमात्र भक्तिसे ही मिलनेवाले पुराणपुरुष श्रीहरिको प्रसन्न करनेका प्रयत्न क्यों नहीं किया जाता ?

श्रीमद्भागवते

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥११९॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥१२०॥

भगवान् विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, पूजन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन । यह नौ प्रकारकी भक्ति मनुष्यद्वारा भगवान् विष्णुको अर्पण की जाय तो, मैं तो इसे उत्तम अध्ययन समझता हूँ ।

संग्रहकर्तृवचनम्

सङ्कीर्तनाख्यभक्तेस्तु महिमा ब्रह्मणोदितः ।
कलिसन्तरणाख्यायामुपनिषद्यपि स्फुटम् ॥१२१॥

ब्रह्माजीने कलिसन्तरण नामकी उपनिषद्में भी संकीर्तननाम्नी भक्तिकी महिमा तो अति स्पष्टतया वर्णन की है ।

तामर्थतः पठामीह तस्या मन्त्रौ च पाठतः ।
पठामि नुः प्रवृत्त्यर्थं भक्तौ हृच्छुद्धिमीप्सतः ॥१२२॥

यहाँ चित्तशुद्धिके इच्छुक पुरुषोंकी भक्तिमें प्रवृत्ति करानेके लिये उसका भावार्थ और दो मन्त्रोंका ज्यों-का-त्यों पाठ लिखता हूँ ।

द्वापरान्ते समभ्येत्य नारदः परिपृष्टवान् ।
ब्रह्माणं स्वोपदेष्टारं कलिसन्तरणे विधिम् ॥१२३॥
कथन्नु भगवंश्चाहं पृथिवीं पर्यटन् सदा ।
सन्तरेयं कलिं घोरं सर्वधर्मप्रणाशकम् ॥१२४॥

एक बार द्वापरके अन्तमें नारदजीने अपने उपदेशक श्रीब्रह्माजीके पास आकर उनसे कलियुगसे पार होनेका साधन पूछा । [वे बोले—] 'भगवन् ! मै सदा ही पृथिवीपर घूमा करता हूँ; अतः सम्पूर्ण धर्मोंको नष्ट करनेवाले इस कलियुगको किस प्रकार पार कर सकूँगा ?

साधु पृष्टोऽस्मि सर्वासां श्रुतीनां सुरहस्यकम् ।
शृणु येन कलिं त्वं त्वनायासात्सन्तरिष्यसि ॥१२५॥

[तब ब्रह्माजीने कहा—] 'तुमने सम्पूर्ण श्रुतियोंका रहस्यरूप यह बड़ा सुन्दर प्रश्न किया है । अतः जिस प्रकार तुम अनायास ही कलियुगको पार कर सकोगे वह उपाय सुनो ।
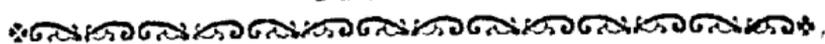
नारायणस्य विष्णोर्वै नाम्ना भगवतो मुने ।
पप्रच्छ नारदो भूयस्तन्नाम भगवन्वद ॥१२६॥

'हे मुने ! तुम नारायण भगवान् विष्णुके नामद्वारा उसे पार कर लोगे ।' तब नारदजीने फिर पूछा—'भगवन् ! उनका वह नाम बतलाइये ।'

स होवाच शृणुष्वाद्य विष्णोर्नामानि नारद ।
यानि पठन्नरो याति सलोकतादिकं हरेः ॥१२७॥

तब उन्होंने कहा—'नारद ! जिनका उच्चारण करनेसे मनुष्य भगवान्के सालोक्य आदिको प्राप्त हो जाता है, अब श्रीविष्णुके उन नामोंको सुनो ।

मन्त्रौ

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥१२८॥
इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम् ।
नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते ॥१२९॥

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे—ये सोलह नाम कलियुगके सभी पापोंको नष्ट करनेवाले है। सम्पूर्ण वेदोंमें इससे बड़ा उपाय और कोई नहीं देखा जाता ।'

संग्रहकर्तृवचनम्

इति षोडशकं जप्तं जीवाज्ञानं विनाशयेत् ।
ततः प्रकाशते ब्रह्म मेघापाये रविर्यथा ॥१३०॥
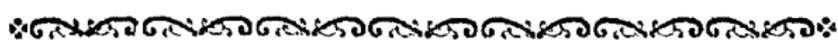
यह सोलह नामोंका मन्त्र जप किये जानेपर जीवके अज्ञानको नष्ट कर देता है। फिर, मेघके हट जानेपर जैसे सूर्य प्रकाशित होने लगता है उसी प्रकार ब्रह्मका प्रकाश होने लगता है।

पप्रच्छ नारदो भूयः कोऽस्य विधिर्जपे पितः।
स होवाच च नैवास्ति विधिरस्य जपे सुत ॥१३१॥

तब नारदजीने पूछा—'पिताजी! इसका जप करनेकी क्या विधि है?' इसपर ब्रह्माजीने कहा—'बेटा! इसके जपमें किसी विधिकी आवश्यकता नहीं है।

शुचिः सन्नशुचिर्वा सन्पठन्नेति सलोकताम्।
सामीप्यं ब्रह्मणस्तद्वत्सायुज्यं चैति वै नरः ॥१३२॥

'पवित्र हो अथवा अपवित्र, इसका पाठ करनेसे ही मनुष्य भगवान्‌के लोकको प्राप्त कर लेता है। इससे ब्रह्मकी समीपता प्राप्त होती है और इसीसे मनुष्य सायुज्य-मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।

षोडशकस्य चेत्सार्द्धं त्रिकोटिं जपतीह यः।
तरति ब्रह्महत्यां स वीरहत्यां तथैव च ॥१३३॥

'जो मनुष्य इन सोलह नामोंका साढ़े तीन करोड़ जप कर लेता है वह ब्रह्महत्या और वीरहत्या-जैसे पापोंसे भी मुक्त हो जाता है।

मुच्यते हेमचौर्यात्स वृषलीगमनात्तथा।
पितृदेवमनुष्याणामृणानपनयात्तथा ॥१३४॥

'वह सुवर्णकी चोरी, शूद्रागमन और पितृ-ऋण, देव-ऋण तथा मनुष्य-ऋणकी निवृत्ति न करनेके दोषसे भी मुक्त हो जाता है।

स्वस्वधर्मपरित्यागपापात्सद्यः स मुच्यते ।
इत्युक्तवांस्त्रिवारं स्वब्जयोनिर्नारदाय वै ॥१३५॥

'वह अपने धर्मके परित्यागरूप पापसे भी तत्काल छूट जाता है'—इस प्रकार श्रीब्रह्माजीने नारदमुनिसे तीन बार कहा।

भक्तेर्हि महिमा यस्माद्वेदेनापीत्थमीरितः ।
तस्माद्धृच्छुद्धये कार्या कलौ सा सर्वथा बुधैः ॥१३६॥

इस प्रकार, क्योंकि वेदने भी भक्तिकी महिमा ऐसी ही कही है; इसलिये इस कलियुगमें बुद्धिमान् पुरुषोंको अपनी चित्तशुद्धिके लिये सर्वथा उसीका आश्रय लेना चाहिये।

शिव और विष्णुकी एकता

कस्य भक्तिर्विधेयेति चेच्छृणुष्व वदामि ते ।
विष्णोः शिवस्य वा भक्तिर्विधेया श्रद्धया स्वया ॥१३७॥

अब यदि कहो कि 'भक्ति किसकी करनी चाहिये' तो सुनो, मैं बतलाता हूँ। अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार विष्णुभगवान् और शिवजीकी भक्ति करनी ही उचित है।

नरः सत्त्वविशुद्ध्यर्थी कलौ नामानि कीर्तयेत् ।
शिवस्य वाथवा विष्णोः स्वस्वप्रीत्यनुसारतः ॥१३८॥

चित्तशुद्धिकी इच्छावाला पुरुष कलियुगमें अपनी प्रीतिके अनुसार भगवान् शिव या विष्णुके नामोंका कीर्तन करे।

न तयोर्भेददृष्टिस्तु कर्तव्या हि कदाचन।
तद्भेदज्ञस्य शास्त्रेषु दुःखावाप्तिः श्रुता यतः ॥१३९॥

मनुष्यको उन दोनोंमें भेद-दृष्टि कभी न करनी चाहिये क्योंकि शास्त्रोंमें उनमें भेदबुद्धि करनेवालेके लिये दुःखकी प्राप्ति सुनी गयी है।

नारदीयपुराणे

हरिरूपी महादेवो लिङ्गरूपी जनार्दनः।
ईषदप्यन्तरं नास्ति भेदकृन्नरकं व्रजेत् ॥१४०॥

श्रीमहादेवजी हरिरूप हैं और विष्णुभगवान् लिंगमय (शिवस्वरूप) हैं। इन दोनोंमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। जो पुरुष इनमें भेद करता है वह नरकको जाता है।

कर्मविपाके

यो ब्रह्मविष्णुरुद्राणां भेदमुत्तमभावनः।
साधयेदुदरव्याधियुक्तो भवति मानवः ॥१४१॥

जो पुरुष उत्तम भावनायुक्त होकर भी ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजीमें भेद करता है वह उदररोगवाला हो जाता है।

भविष्यपुराणे

विष्णोरन्यं तु पश्यन्ति ये मां ब्रह्माणमेव च।
कुतर्कमतयो मूढाः पच्यन्ते नरकेष्वधः ॥१४२॥
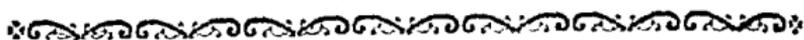
[शिवजी कहते हैं—] जो कुतर्कबुद्धि मूढ़ पुरुष मुझे और ब्रह्माजीको विष्णुभगवान्‌से अलग देखते हैं वे नीचे नरकादिमें दुःख भोगते हैं ।

गुरुभक्ति

संग्रहकर्तृवचनम्

यथा भेदं परित्यज्य कार्या भक्तिर्हरीशयोः ।
यस्य देव इति श्रुत्या भक्तिः कार्या गुरोस्तथा ॥१४३॥

[इस प्रकार] जिस तरह श्रीहरि और भगवान् शंकरकी भक्ति भेदभावको त्यागकर करनी उचित है उसी प्रकार 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' (श्वे० उ० ६ । २३) इत्यादि श्रुतिके अनुसार गुरुकी भक्ति भी करनी चाहिये ।

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।
इत्यादिस्मृतिवाक्यैश्च सा कार्या चित्तशुद्धये ॥१४४॥

'शिवजीके रूठ जानेपर गुरुदेव रक्षा कर लेते हैं किन्तु गुरुजीके रूठनेपर कोई नहीं बचा सकता' इत्यादि स्मृति-वाक्योंके अनुसार चित्तशुद्धिके लिये गुरुभक्ति भी अवश्यकर्तव्य है ।

भक्तिका लक्षण

ननु लक्षणमानाभ्यां वस्तुसिद्धिर्भवेद्यतः ।
लक्षणं ब्रूहितो भक्तेर्मानं चाप्यघनाशने ॥१४५॥

शङ्का—वस्तुकी सिद्धि उसके लक्षण और तत्सम्बन्धी प्रमाणोंसे

ही हुआ करती है; इसलिये आप भक्तिका लक्षण और उसके पापनाशक होनेमें प्रमाण बतलाइये ।

शृण्वस्या लक्षणं प्रोक्तं ग्रन्थे भक्तिरसायने ।
पापाद्यशुद्धिदग्धृत्वं भागवते समीरितम् ॥१४६॥

समाधान—सुनो, इसका लक्षण भक्तिरसायन नामक ग्रन्थमें किया है और इसका पाप आदि अशुद्धियोंको भस्म करना भागवतमें बतलाया गया है ।

भक्तिरसायने

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥१४७॥

भगवद्धर्मोंसे द्रवीभूत हुए चित्तकी सर्वेश्वरके प्रति धारावाहिकताको प्राप्त हुई वृत्ति 'भक्ति' कहलाती है ।

श्रीमद्भागवते

यथाग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥१४८॥

हे उद्धव ! जिस प्रकार भली प्रकार बढ़ी हुई अग्निकी ज्वाला ईंधनको भस्म कर डालती है उसी प्रकार मेरी भक्ति सम्पूर्ण पापोंको सर्वथा नष्ट कर देती है ।

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥१४९॥
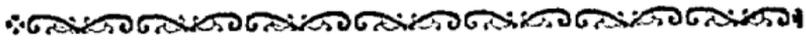
मेरा अजितेन्द्रिय भक्त विषयोंसे बाधित होनेपर भी मेरी प्रौढ़ भक्तिके प्रभावसे प्रायः उनके वशीभूत नहीं होता ।

संग्रहकर्तृवचनम्

तस्माद्विष्ण्वीशयोर्भक्तिर्गुरुभक्तिस्तथैव च ।
वाक्कायमानसैः कार्या सत्त्वशुद्ध्यर्थिना सदा ॥१५०॥

अतः चित्तशुद्धिके इच्छुक पुरुषको अपने मन, वचन और शरीरसे भगवान् विष्णु, शिव और गुरुदेवकी भक्ति सदा ही करते रहना चाहिये ।

प्रकरणका उपसंहार

पारम्पर्येण मोक्षस्य साधनत्वं समीरितम् ।
हृच्छुद्धेस्तु यतः श्रुत्यादौ तां सम्पादयेत्ततः ॥१५१॥

क्योंकि श्रुतिने भी परम्परासे चित्तशुद्धिको मोक्षका साधन बतलाया है । इसलिये सबसे पहले उसीका सम्पादन करना चाहिये ।

मैत्रेय्युपनिषदि

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥१५२॥

चित्तप्रसादसे ही पुरुष शुभाशुभ कर्मको नष्ट कर सकता है । वह अपने प्रसादयुक्त चित्तमें स्थित होकर ही अक्षय सुख पा सकता है ।
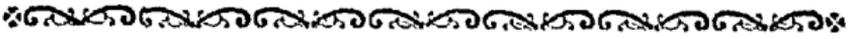
संग्रहकर्तृवचनम्

फलाशां सर्वथा हित्वा नित्यादिकर्मणां कृतिः ।
भगवतो गुरोस्तद्वदृजुभावेन सेवनम् ॥१५३॥
दुष्टान्नाशनसन्त्यागो ज्ञानशुद्धिस्तथैव च ।
चत्वार्येतानि सत्त्वस्य शुद्धिहेतुतया मया ॥१५४॥
साधनानि द्वितीयेऽस्मिन् श्रुतिस्मृत्यनुसारतः ।
निरूपितानि सेव्यानि सत्त्वशुद्धिमभीप्सुभिः ॥१५५॥

इस दूसरे अध्यायमें मैंने श्रुति एवं स्मृतिके अनुसार चित्तशुद्धिके लिये फलाशाको सर्वथा त्यागकर नित्यादि कर्मोका अनुष्ठान करना, सरल भावसे भगवान् और गुरुदेवकी सेवा करना, दुष्टान्नभक्षणका त्याग और विचारशुद्धि इन चार साधनोंका वर्णन किया है । अतः सत्त्वशुद्धिके इच्छुकोंको इनका सेवन करना चाहिये ।

एवं मुमुक्षुसर्वस्वसाराख्ये सङ्ग्रहात्मके ।
हृच्छुद्धिसाधनानां हि ग्रन्थे पूर्णं निरूपणम् ॥१५६॥

इस प्रकार इस संग्रहरूप मुमुक्षुसर्वस्वसार नामक ग्रन्थमें यह चित्तशुद्धिके साधनोंका निरूपण समाप्त हुआ ।

इति श्रीमुमुक्षुसर्वस्वसाराभिधे ग्रन्थे सत्त्वशुद्ध्याख्यं
द्वितीयं प्रकरणम् ।
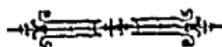
तृतीय प्रकरण

साधनचतुष्टय

शुद्धसत्त्वाः पुमांसो हि विवेकादीन्प्रकुर्वते ।
यत्स्वरूपविचाराय तं श्रीराममहं भजे ॥ १ ॥

जिनके स्वरूपका विचार करनेके लिये शुद्धचित्त पुरुष विवेकादि किया करते है उन श्रीरामको मैं भजता हूँ ।

निष्कामकर्मसेवाद्यैर्हृच्छुद्धिर्यस्य जायते ।
नष्टाघौघस्य तस्यैव विवेकादेर्हि योग्यता ॥ २ ॥

निष्काम कर्म आदिका सेवन करते-करते जिसे चित्तशुद्धि प्राप्त हो जाती है, तथा जिसकी सम्पूर्ण पापराशि नष्ट हो गयी है उस पुरुषको ही विवेकादिकी योग्यता प्राप्त होती है ।

नित्यानित्यविवेकस्तु सुदृढो यस्य जायते ।
इहामुत्रार्थवैराग्यं सम्यक्तस्यैव सम्भवेत् ॥ ३ ॥

जिसका नित्यानित्यवस्तुविवेक सुदृढ हो जाता है उसीको लौकिक एवं पारलौकिक भोगोंसे पूर्ण वैराग्य होना सम्भव है ।
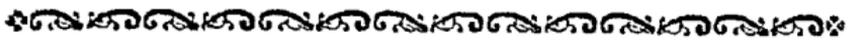
ततः शमादिना सार्द्धं संन्यासस्तस्य सम्भवेत् ।
शमादीनां हि सम्पत्तेर्मोक्षेच्छा तस्य सम्भवेत् ॥ ४ ॥

और ऐसा होनेपर ही उसके लिये शमादि साधनोंके साथ संन्यास सम्भव हो सकता है तथा शमादिके पूर्ण होनेपर ही उसमें मुमुक्षुता होना सम्भव है ।

वेदान्तश्रवणस्यैव सूत्रकृदधिकारिणम् ।
अथात इति शब्दाभ्यामाद्यसूत्रे ह्यसूत्रयत् ॥ ५ ॥

सूत्रकार व्यासजीने भी अपने ब्रह्मसूत्रोंके प्रथम सूत्र (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा) में ही 'अथ' और 'अतः' इन दो शब्दोंद्वारा वेदान्तश्रवणके अधिकारीका लक्षण सूत्रबद्ध किया है ।

सहेतुका मनःशुद्धिर्द्वितीये प्रागुदीरिता ।
प्रकरणे तृतीयेऽस्मिन्विवेकादि प्रपञ्च्यते ॥ ६ ॥

पहले द्वितीय प्रकरणमें हेतुसहित मानसिक शुद्धिका वर्णन किया गया है; अब इस तृतीय प्रकरणमें विवेकादिका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है ।

म्लानचित्तस्य पुंसस्तु विवेकादि सुदुर्लभम् ।
अतत्त्वे तत्त्वधीत्वाद्धीशुद्धिस्तज्जनिका ततः ॥ ७ ॥

मलिनचित्त पुरुषको विवेकादि होना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उसकी असार वस्तुओंमें सारबुद्धि रहती है । अतः चित्तशुद्धि ही उन (विवेकादि) को उत्पन्न करनेवाली है ।
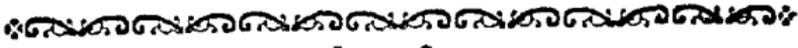
कारणं हि भवेत्पूर्वं कार्यं च तदनन्तरम् ।
हृच्छुद्ध्यादिनिबन्धौ द्वौ पौर्वापर्यमतोऽर्हतः ॥ ८ ॥

पहले कारण होता है और उसके पीछे कार्य हुआ करता है । अतः चित्तशुद्धि और विवेक इन दोनोंमें पूर्वापर भाव रहना उचित ही है ।

नित्यानित्यवस्तुविवेक

नित्यं दृगात्मतत्त्वं हि दृश्यं त्वनित्यमुच्यते ।
परोक्षो निश्चयो ह्येवं यः स विवेक उच्यते ॥ ९ ॥

सर्वसाक्षी आत्मतत्त्व नित्य है और दृश्य अनित्य कहा जाता है—इस प्रकारका जो परोक्ष निश्चय है वही 'विवेक' कहलाता है ।

श्रुतयस्तद्यथेत्याद्या विवेके यान्ति मानताम् ।
कृतकं यत्तदेवासदितिन्यायसमन्विताः ॥ १० ॥

विवेकके सम्बन्धमें 'जो कुछ कृतक (किया हुआ) है वह सब अनित्य है' इस न्यायसे युक्त 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छा० उ० ८ । १ । ६) इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं ।

नित्यानित्यविवेकस्याभ्यासः सम्यगनुष्ठितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं शमादिषट्ककारणम् ॥ ११ ॥
इहामुत्रार्थभोगेषु सत्कारस्य च नाशकम् ।
सूतेऽरणिर्यथा वह्निं मथिता दारुदाहकम् ॥ १२ ॥
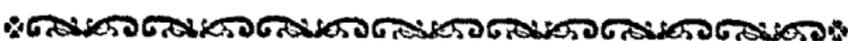
जिस प्रकार मन्थन की जानेपर अरणि काष्ठको जला डालनेवाला अग्नि उत्पन्न कर देती है उसी प्रकार नित्यानित्य-विवेकका भलीभाँति किया हुआ अभ्यास तुरन्त ही वैराग्य उत्पन्न कर देता है, जो (वैराग्य) शमादि षट् सम्पत्तियोंका कारण और लौकिक एवं पारलौकिक पदार्थोंमें स्पृहाका नाश करनेवाला होता है।

विवेकस्य समावृत्तिर्वसिष्ठेन प्रदर्शिता।
मोक्षधर्मेषु चाप्युक्तं विवेकाभ्यसनं मुहुः॥ १३॥

इस विवेककी आवृत्ति वसिष्ठजीने [अपने योगवासिष्ठ नामक ग्रन्थमें] दिखलायी है तथा मोक्षधर्ममें भी विवेकका बारम्बार अभ्यास कहा है।

योगवासिष्ठे

अद्य ये महतां मूर्ध्नि ते दिनैर्निपतन्त्यधः।
हन्त चित्त महत्तायां केयं विश्वस्तता तव॥ १४॥

अरे! आज जो महापुरुषोंके शिरमौर बने हुए हैं वे कुछ ही दिनोंमें अधःपतित हो जाते हैं। रे चित्त! इस महत्तामें तेरा यह क्या विश्वास हो रहा है?

कोटयो ब्रह्मणो याता गताः सर्गपरम्पराः।
प्रयाताः पांशुवद्भूपाः का धृतिर्मम जीवने॥ १५॥

करोड़ों ब्रह्मा बीत गये, अनेकों सृष्टियाँ समाप्त हो गयीं, बहुत-से राजालोग धूलिकी तरह उड़ गये। अब इस जीवनमें मेरी क्या आस्था हो?

येषां निमेषणोन्मेषौ जगतां प्रलयोदयौ ।
तादृशाः सन्ति वै नष्टा मादृशां गणनैव का ॥ १६ ॥

जिनके निमेषोन्मेष ही संसारकी उत्पत्ति और प्रलयके कारण थे ऐसे-ऐसे लोग नष्ट हो गये । फिर हम-जैसोंकी तो गणना ही क्या है ?

उत्पातवायुरेवायुर्मित्राण्येवातिशत्रवः ।
बन्धवो बन्धनान्येव धनान्येवातिनैधनम् ॥ १७ ॥

आयु ही उत्पातवायु (बवण्डर) है । मित्र ही बहुत बड़े शत्रु हैं, बन्धुजन ही बन्धन हैं और धन ही बड़ा भारी निधन (मृत्यु) है ।

सुखान्येवातिदुःखानि सम्पदः परमापदः ।
भोगा भवमहारोगा रतिरेव परारतिः ॥ १८ ॥

सुख ही अत्यन्त दुःख है, सम्पत्ति ही बड़ी भारी आपत्ति है, भोग ही संसारके महारोग हैं और राग ही परम दुःख है ।

भोगा विषयसम्भोगा भोगा एव फणावताम् ।
दशन्त्यपि मनाक् स्पृष्टा दृष्टा नष्टाः प्रतिक्षणम् ॥ १९ ॥

भोग और विषयसामग्री मानो सर्पोंके फन ही हैं । ये जरा छूते ही डस लेते हैं और प्रतिक्षण देखते-देखते नष्ट हो रहे हैं ।

भोगाशावृद्धतृष्णानामपमानं पदे पदे ।
आलानमवलीनानां वन्यानामिव दन्तिनाम् ॥ २० ॥

जिनकी तृष्णा भोगाशासे अत्यन्त बढ़ गयी है उनका खम्भेमें बँधे हुए जङ्गली हाथियोंके समान पद-पदपर अपमान होता है ।

सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणाछत्रच्छायासु रमते बुधः ॥ २१ ॥

सम्पदा और प्रमदा [अर्थात् काञ्चन और कामिनी] तरंग-भङ्गीके समान क्षणभङ्गुर हैं । वे सर्पके फनरूप छत्रकी छायाके समान हैं; उनमें कौन बुद्धिमान् अनुरक्त होता है ?

संसाररात्रिदुःस्वप्ने शून्ये देहमये भ्रमे ।
आस्थां चेदनुबध्नामि धिङ् ममास्तु तदा स्थितिम् ॥ २२ ॥

संसाररात्रिके दुःस्वप्नमें प्रतीत होनेवाले इस देहरूप थोथे भ्रममें यदि मैं आस्था करूँ तो मेरी ऐसी स्थितिको धिक्कार है ।

संसार एव दुःखानां सीमान्तः किल कथ्यते ।
तन्मध्यपतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥ २३ ॥

यह संसार तो दुःखोंकी सीमा ही कहा जाता है । उसके बीचमें पड़े हुए देहमें भला सुख कैसे मिल सकता है ?

न तदस्तीह यदयं कालः सकलघस्मरः ।
ग्रसते न जगज्जातं प्रोत्थाब्धिमिव वाडवः ॥ २४ ॥

जिस प्रकार वडवानल बढ़े हुए समुद्रको लील जाता है उसी प्रकार इस जगत्में उत्पन्न हुआ ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसे सबको निगल जानेवाला काल न खा जाय ।

ये रम्या ये शुभारम्भाः सुमेरुगुरवोऽपि ये ।
कालेन विनिगीर्णास्ते गरुडेनेव पन्नगाः ॥ २५ ॥

जो बड़े रमणीय और शुभारम्भ हैं, तथा जो सुमेरुके समान भारी हैं, वे सब भी इस प्रकार कालग्रस्त हो रहे हैं; जैसे गरुडसे सर्प ।

शक्रोऽप्याक्रम्यते वक्त्रैर्यमोऽपि हि नियम्यते ।
वायुरप्येत्यवायुत्वं कैवास्था मम जीवने ॥ २६ ॥

इस कालके मुखका इन्द्रपर भी आक्रमण होता है, यह यमका भी नियमन करता है, इसके भयसे वायु भी अवायु (न चलनेवाला) हो जाता है ! फिर मेरे जीवनमें ही क्या आस्था की जाय ?

अद्योत्सवोऽयं मृतिरेष तथेह यात्रा
ते बन्धवः सुखमिदं सविशेषभोगम् ।
इत्थं मुधैव कलयन् सुविकल्पजाल-
मालोलपेलवमतिर्गलतीह लोकः ॥ २७ ॥

आज यह उत्सव है, यह मृत्यु हुई, यहाँ यात्रा हो रही है, वे मेरे बन्धुजन हैं, यह विशेष भोगसम्पन्न सुख है—इस प्रकार यह चञ्चल तथा मुग्ध बुद्धिवाला पुरुष व्यर्थ ही अनेकों कल्पनाएँ करता हुआ क्षीण होता रहता है ।

पर्णानि जीर्णानि यथा तरूणां
समेत्य जन्माशु लयं प्रयान्ति ।
तथैव लोकाः स्वविवेकहीनाः
समेत्य गच्छन्ति कुतोऽप्यहोभिः ॥ २८ ॥

जिस प्रकार वृक्षोंके पत्ते जन्म लेनेके अनन्तर पक जानेपर

शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मविवेकसे रहित पुरुष जन्म ले-लेकर कुछ ही दिनोंमें कहीं चले जाते हैं।

कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः
कास्ता दिशो यासु न दुःखदाहः।
कास्ताः प्रजा यासु न भङ्गुरत्वं
कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया॥ २९॥

ऐसी कौन दृष्टियाँ हैं जिनमें दोष न हों? ऐसी कौन दिशाएँ हैं जिनमें दुःखका दाह न हो? ऐसी कौन प्रजा है जिसमें क्षणभङ्गुरता न हो? और ऐसी कौन-सी क्रिया है जिसमें माया न हो?

स्वदन्ते तावदेवैते भावा जगति धीमते।
यावत्स्मृतिपथं याति न विनाशः कुराक्षसः॥ ३०॥

बुद्धिमान् पुरुषको संसारमें ये पदार्थ तभीतक रुचते हैं जबतक कि विनाशरूप दुष्ट राक्षसकी स्मृति नहीं होती।

विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते।
जन्मान्तरघ्ना विषया एकदेहहरं विषम्॥ ३१॥

विषयकी विषमता ही विष है, विष विष नहीं है; क्योंकि विष तो एक ही शरीरको नष्ट करता है किन्तु विषय तो जन्मान्तरके देहोंको भी नष्ट कर डालते हैं।

मोक्षधर्मे

श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम्॥ ३२॥

जो कार्य कल करना हो उसे आज ही कर लेना चाहिये, और जो अपराह्णमें (दोपहरके बाद) करना है उसे पूर्वाह्णमें ही कर लेना चाहिये, क्योंकि मृत्यु इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करती कि इसने अपना कार्य समाप्त किया है या नहीं।

तं पुत्रपशुसम्पन्नं व्यासक्तमनसं नरम्।
सुप्तं व्याघ्रं महौघेव मृत्युरादाय गच्छति॥ ३३॥

जिस प्रकार जलका महाप्रवाह किसी सोये हुए बाघको बहा ले जाय उसी प्रकार यह मृत्यु पुत्र और पशु आदिसे सम्पन्न तथा उनमें आसक्तचित्त पुरुषको [चुपचाप] उठा ले जाती है।

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत्कृताकृतम्।
एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वशे॥ ३४॥

'मैंने यह कार्य कर लिया, मुझे यह और करना है तथा इनके सिवा ये कार्य और भी किये एवं बिना किये हुए हैं'—इस प्रकार इच्छामात्रके सुखोंमें आसक्त पुरुषको काल अपने वशीभूत कर लेता है।

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि॥ ३५॥

ये जरा और मृत्यु बलवान्, दुर्बल एवं छोटे-बड़े सब प्रकारके प्राणियोंको भेड़ियोंके समान खा जानेवाली हैं।

एवं भूतेषु भूतात्मा नित्यभूतोऽध्रुवेषु च।
कथं हि हृष्येज्जातेषु मृतेषु च न सञ्ज्वरेत्॥ ३६॥
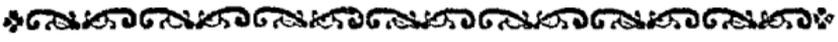
इस प्रकारके नाशवान् प्राणियोंमें यह जीवात्मा नित्यरूप है। वह उनके जन्म लेनेपर कैसे प्रसन्न होगा ? और न वह उनके मरनेपर शोक ही करेगा।

फेनमात्रोपमे देहे जीवे शकुनिवत्स्थिते।
अनित्येऽप्रियसंवासे कथं स्वपिषि पुत्रक॥ ३७॥

हे पुत्र! इस फेनोपम देहमें, जो अनित्य और दुःखोंका निवासस्थान है तथा जिसमें यह जीव पक्षीके समान स्थित है, तू कैसे सो रहा है ?

अप्रमत्तेषु जाग्रत्सु नित्ययुक्तेषु शत्रुषु।
अन्तरं लिप्समानेषु कथं त्वं नावबुध्यसे॥ ३८॥

जो सदा अवसरकी ताकमें रहते हैं उन अति सावधान और नित्ययुक्त शत्रुओंके जागते रहनेपर भी तू क्यों नहीं चेतता है ?

पुरा शरीरमन्तको भिनत्ति रोगसारथिः।
प्रसह्य जीवितक्षये तपो महत्समाचर॥ ३९॥

अरे! जिसका सारथि रोग है वह काल भगवान् जीवनका अन्त होनेपर इस शरीरको बलात्कारसे नष्ट कर डालता है; अतः सबसे पहले तू महान् तपस्या कर।

विवेकका अभ्यास

संग्रहकर्तृवचनम्

वैराग्यकारणत्वेन विवेकः सम्मतो विदाम्।
तदभ्यासस्य संसिद्धौ वाक्योदाहरणं मुहुः॥ ४०॥

विद्वानोंने विवेकको वैराग्यका कारण माना है। उसके अभ्यासकी सम्यक् सिद्धिके लिये बारम्बार इन वाक्योंका अभ्यास करना चाहिये।

अनित्यत्वादिदोषाणामालोचनं मुहुर्मुहुः।
भवेऽनुभूतियुक्तिभ्यां विवेकाभ्यसनं स्मृतम् ॥ ४१ ॥

इस संसारमें अनुभव और युक्तिपूर्वक अनित्यत्व आदि दोषोंका पुनः-पुनः विचार करना ही विवेकका अभ्यास कहलाता है।

वैराग्यस्य यतो हेतुर्विवेकाभ्यास उच्यते।
तस्मादुक्तप्रकारेण स कार्योऽर्थजिहासुना ॥ ४२ ॥

क्योंकि यह विवेकाभ्यास ही वैराग्यका हेतु कहा जाता है, इसलिये जिसे लौकिक पदार्थोंको त्यागनेकी इच्छा हो उसे उपर्युक्त प्रकारसे विवेकाभ्यास ही करना चाहिये।

विवेकाभ्यासचिह्नादि वसिष्ठेनोदितं तु यैः।
तद्वाक्यानि लिखामीह विवेकाद्यवबुद्धये ॥ ४३ ॥

जिन वाक्योंसे वसिष्ठजीने विवेकाभ्यासके लक्षण आदिका वर्णन किया है, उन्हें विवेकादिका ज्ञान प्राप्त करानेके लिये यहाँ लिखता हूँ।

योगवासिष्ठे

विचारः सफलस्तस्य विज्ञेयो यस्य सन्मतेः।
दिनानुदिनमायाति तानवं भोगगृध्नुता ॥ ४४ ॥

जिस सुबुद्धि पुरुषकी भोग-लालसा दिनोंदिन मन्द पड़ती जाय उसीका विचार सफल समझना चाहिये।

यथा स्पर्शेन पवनः सत्तामायाति नो गिरा ।
तथेच्छातानवेनैव विवेकोऽस्य विबुध्यते ॥ ४५ ॥

जिस प्रकार पवनकी सत्ता स्पर्शसे ही सिद्ध होती है, वाणीसे नहीं, उसी प्रकार इच्छाकी कमी होनेसे ही जीवको विवेक हुआ समझा जाता है ।

यथा देहोपयुक्तं हि करोत्यारोग्यमौषधम् ।
तथेन्द्रियजयेऽभ्यस्ते विवेकः फलितो भवेत् ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार शरीरद्वारा सेवन की हुई ओषधि ही उसे नीरोग कर सकती है उसी प्रकार इन्द्रियजयका अभ्यास हो जानेपर ही विवेक सफल होता है ।

विवेकोऽस्ति वचस्येव चित्रेऽग्निरिव भासुरः ।
यस्य तेनापरित्यक्ता दुःखायैवाविवेकिता ॥ ४७ ॥

चित्रमें प्रतीत होनेवाले अग्निके समान जिसके केवल वचनमें ही विवेक दिखलायी देता है उसने मानो दुःख भोगनेके लिये ही अभी अविवेकको नहीं छोड़ा है ।

चित्रामृतं नामृतमेव विद्धि
चित्रानलं नानलमेव विद्धि ।
चित्राङ्गना नूनमनङ्गनेति
वाचा विवेकस्त्वविवेक एव ॥ ४८ ॥

चित्रके अमृतको अमृत ही मत समझो, चित्रके अग्निको

अग्नि ही मत मानो, चित्रलिखित स्त्री निश्चय ही स्त्री नहीं है तथा वाणीका विवेक भी अविवेक ही है ।

ये हि प्राज्ञाः स्वनियता विदग्धाः शास्त्रशालिनः ।
रागद्वेषमयास्ते वै जम्बुकास्ते धिगस्तु तान् ॥ ४९ ॥

जो लोग बुद्धिमान्, आत्मपरायण, पण्डित एवं शास्त्रज्ञ होकर भी रागद्वेषयुक्त हैं वे तो मानो गीदड़ ही हैं । उन्हें धिक्कार है ।

श्रूयतां ज्ञानसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते ॥ ५० ॥

ज्ञानका सारसर्वस्व सुनो और उसे सुनकर चित्तमें धारण करो, 'भोगेच्छामात्र ही बन्धन है और उसका त्याग ही मोक्ष कहा गया है' ।

किमन्यैः शास्त्रसन्दर्भैः क्रियतामिदमेव तु ।
यद्यत्स्वाद्विह तत्सर्वं दृश्यतां विषवह्निवत् ॥ ५१ ॥

और अनेकों शास्त्रसमूहोंकी क्या आवश्यकता है ? केवल इतना ही करो कि इस लोकमें जो-जो पदार्थ स्वादिष्ट हों उन्हें विषाग्निके समान देखो ।

पूर्वं विवेकेन तनुत्वमेति
रागोऽथ वैरं च समूलमेव ।
पश्चात्परिक्षीयत एव यतः
सा पावनी यत्र विवेकितास्ति ॥ ५२ ॥
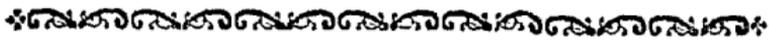
जहाँ वह परमपावनी विवेकशीलता विराजती है वहाँ पहले तो विवेकसे राग और वैर अपने मूलसहित मन्द पड़ जाते हैं तथा उसके पीछे यत्नमें शिथिलता आ जाती है ।

महाजडलवाधारे संसारविषमार्णवे ।
इन्द्रियग्राहगहने विवेकः पोतको महान् ॥५३॥

जो इन्द्रियरूप ग्राहोंके कारण अति गहन हो रहा है उस महान् जडरूप कणोंके आधार संसाररूप विकराल समुद्रमें विवेकरूप एक महान् पोत (जहाज) है ।

धनानि नाभिवाञ्छयन्ते तमांसीव विवेकिना ।
त्यज्यन्ते विद्यमानानि संशुष्कामेध्यपर्णवत् ॥५४॥

विवेकी पुरुष अन्धकारके समान धनकी भी इच्छा नहीं करते । बल्कि जो कुछ उनके पास होता है उसे भी वे सूखे और अपवित्र पत्तेके समान त्याग देते हैं ।

वैराग्य

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं विवेकचिह्नादि वसिष्ठोक्त्येह दर्शितम् ।
विवेकजं तु वैराग्यमधुनाग्रे प्रदर्श्यते ॥५५॥

इस प्रकार यहाँतक वसिष्ठजीके कथनानुसार विवेकके चिह्न आदि दिखलाये । अब आगे विवेकजनित वैराग्य प्रदर्शित किया जाता है ।
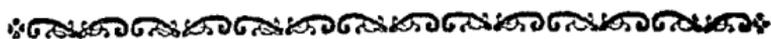
भोग्येषु वीततृष्णत्वं वैराग्यमिति कथ्यते ।
त्यक्तेषु तेष्वदैन्यं यत्तद्वैराग्यफलं विदुः ॥५६॥

भोग्य पदार्थोंमें तृष्णा न रहना—यही वैराग्य कहलाता है, और उनके त्याग दिये जानेपर जो दीनताका अभाव हो जाता है वही त्यागका फल माना गया है ।

ध्वाङ्क्षोच्चार इवार्थेष्वनादरो यश्च सर्वथा ।
वैराग्यस्यावधिं प्राहुस्तं विरक्ता यतीश्वराः ॥५७॥

विषयोंमें जो काक-विष्ठाके समान अत्यन्त घृणा हो जाना है उसीको विरक्त यतीश्वरगण वैराग्यकी अवधि बतलाते हैं ।

परीक्ष्येत्येवमाद्याश्च श्रुतयो यान्ति मानताम् ।
वैराग्ये मुण्डकादीनां लोकादिदोषदर्शिकाः ॥५८॥

वैराग्यके विषयमें मुण्डक आदि उपनिषदोंकी 'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायात्'[1] (मु० उ० १ । २ । १२) आदि लोकादिके दोष प्रदर्शित करनेवाली श्रुतियाँ प्रमाण हैं ।

तदिदं शुक्रमित्याद्या गर्भोपनिषदः श्रुतिः ।
वैराग्यार्थं जगादोच्चैर्देहजन्मक्रमं स्फुटम् ॥५९॥

तथा गर्भोपनिषद्की 'शुक्रं शुक्रशोणितसंयोगादावर्तते गर्भः'[2]

---

१ ब्राह्मणको चाहिये कि कर्मद्वारा प्राप्त हुए लोकोंकी [निःसारताकी] परीक्षा कर उपरत हो जाय ।

२ [मज्जासे] शुक्र होता है; फिर शुक्र (वीर्य) और शोणित (रज) के संयोगसे गर्भ होता है ।

इत्यादि श्रुतियोंने भी वैराग्यके लिये ही इस देहोत्पत्तिके क्रमका उच्च स्वरसे स्फुट वर्णन किया है ।

तथा गर्भस्थचिन्तापि तन्मन्त्रैश्च प्रकाशिता ।
देहाद्विरागसंसिद्धौ भोगाधिष्ठानतोऽस्थिरात् ॥ ६० ॥
अस्थिपञ्जरतोऽनित्यादसृग्विण्मूत्रभाजनात् ।
सङ्गृह्णामीह तान्मन्त्रान्पाठक्रमानुसारतः ॥ ६१ ॥

तथा उस (गर्भोपनिषद्) के ही मन्त्रोंने भोगोंके आश्रयस्वरूप इस अस्थिर देहसे, जो केवल अस्थियोंका पञ्जर, अनित्य और रक्त एवं मूत्रादिका पात्र है, विरक्त करनेके लिये गर्भस्थित बालककी चिन्ता भी प्रदर्शित की है । मैं उन मन्त्रोंको, उनके पाठक्रमके अनुसार यहाँ संगृहीत करता हूँ ।

गर्भदुःख

गर्भोपनिषन्मन्त्राः

आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ।
जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः ॥ ६२ ॥
मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥ ६३ ॥

मैंने विविध प्रकारके भोजन किये हैं और तरह-तरहके स्तन पान किये हैं । मैं [कई बार] जन्मा हूँ और [कई बार] मरा हूँ । इस प्रकार मेरे पुनः-पुनः कई जन्म

होते रहे हैं, तथा पुनः जन्म लेकर भी मरा हूँ और फिर मरकर जन्म लिया है। इस प्रकार ऐसी अनेक प्रकारकी सहस्रों योनियाँ हैं जिनमें मैं रह चुका हूँ।

मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा।
अवाङ्मुखः पीडितोऽहं जन्तुभिश्च समन्वितः॥६४॥*

मैंने कितनी ही माताएँ, कितने ही पिता और अनेकों सुहृद्जन देखे हैं। मै [गर्भाशयमें] अनेकों कीड़ों-मकोड़ोंके सहित नीचेको मुख किये पीडित होता रहा हूँ।

यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्।
एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फलभोगिनः॥६५॥

मैंने अपने कुटुम्बियोंके लिये जो नाना प्रकारके शुभाशुभ कर्म किये थे उनसे मैं अकेला ही दुःख भोग रहा हूँ। उनका फल भोगनेवाले वे कुटुम्बी तो अब चले गये।

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्॥६६॥

यदि इस योनिसे मुझे छुटकारा मिल गया तो मैं सब प्रकारके अशुभका अन्त करनेवाले और मुक्तिरूप फल प्रदान करनेवाले श्रीमहेश्वरकी शरण लूँगा।

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये नारायणम्।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्॥६७॥

* इमें श्लोक ६३ और ६४ गर्भोपनिषद्में नहीं मिले।
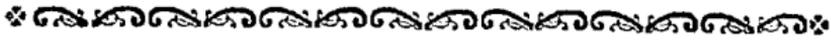
यदि इस योनिसे मुझे छुटकारा मिल गया तो मैं सब प्रकारके अशुभका अन्त करनेवाले और मुक्तिरूप फल देनेवाले श्रीनारायणकी शरण लूँगा ।

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे ।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ॥ ६८ ॥

यदि इस योनिसे मुझे छुटकारा मिल गया तो मैं सब प्रकारके अशुभका अन्त करनेवाले और मुक्तिरूप फल देनेवाले सांख्य एवं योगका अभ्यास करूँगा ।

संग्रहकर्तृवचनम्

गर्भोपनिषदो ह्यर्थं रामाय भगवाञ्छिवः ।
प्रोक्तवाञ्छिवगीतासु तद्वचांस्यप्यनुब्रुवे ॥ ६९ ॥

शिवगीतामें भगवान् शंकरने भी श्रीरामचन्द्रजीसे गर्भोपनिषद्का ही आशय कहा है । यहाँ हम उनके वाक्योंका उल्लेख करते हैं ।

शिवगीतासु

पञ्चभूतैः समारब्धो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ।
तत्र प्रधानं पृथिवी शेषाणां सहकारिता ॥ ७० ॥

पाँच भूतोंसे आरम्भ होनेवाला यह देह पाञ्चभौतिक है । इनमें पृथिवी प्रधान है और शेष (चार भूत) उसके सहकारी हैं ।

जरायुजोऽण्डजश्चैव स्वेदजश्चोद्भिजस्तथा ।
एवं चतुर्विधः प्रोक्तो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ॥ ७१ ॥

जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इस तरह यह पाञ्चभौतिक देह चार प्रकारका कहा गया है ।

मानसस्तु परः प्रोक्तो देवानामेव स स्मृतः ।
तत्र वक्ष्ये प्रथमतः प्रधानत्वाज्जरायुजम् ॥ ७२ ॥

इनके सिवा एक मनोमय देह भी होता है, जो देवताओंका ही माना गया है । उनमें प्रधान होनेसे सबसे पहले मैं जरायुजका वर्णन करता हूँ ।

या स्त्रीचर्मावृतिः सूक्ष्मा जरायुः सा निगद्यते ।
शुक्रशोणितसंयोगस्तस्मिन्नेव भवेद्यतः ॥ ७३ ॥
तत्र गर्भो भवेद्यस्मात्तेन प्रोक्तो जरायुजः ।
अण्डजाः पक्षिसर्पाद्याः स्वेदजा मशकादयः ॥ ७४ ॥

स्त्रियोंके गर्भाशयमें जो अत्यन्त हल्की झिल्ली होती है उसे जरायु कहते हैं । क्योंकि पुरुषके वीर्य और स्त्रीके रजका संयोग उसीमें होता है और उसीसे गर्भ स्थित होता है, इसलिये [उससे उत्पन्न होनेवाले प्राणी] जरायुज कहलाते हैं । पक्षी तथा सर्पादि अण्डज हैं और मच्छर आदि स्वेदज हैं ।

उद्भिज्जा वृक्षगुल्माद्या मानसाश्च सुरर्षयः ।
जन्मकर्मवशादेव निषक्तं स्मरमन्दिरे ॥ ७५ ॥
शुक्रं रजःसमायुक्तं प्रथमे मासि तद्द्रवम् ।
बुद्बुदं कललं तस्मात्ततः पेशी भवेदिदम् ॥ ७६ ॥

वृक्ष और गुल्म आदि उद्भिज्ज पदार्थ हैं तथा देवता और ऋषि मानस हैं। अपने प्रारब्ध-कर्मके वशीभूत होकर गर्भाशयमें छोड़ा हुआ वीर्य रजसे मिलनेपर प्रथम मासमें पहले तरलाकार रहता है, उससे बुद्बुद और बुद्बुदसे कलल बन जाता है। फिर उससे यह पेशीरूप हो जाता है।

पेशीघनं द्वितीये तु मासि पिण्डः प्रजायते ।
कराङ्घ्रिशीर्षकादीनि तृतीये सम्भवन्ति हि ॥७७॥

दूसरे महीनेमें वह पेशी पिण्डरूपमें परिणत हो जाती है और तीसरे महीनेमें उसमें हाथ, पाँव और शिर आदि निकल आते हैं।

अभिव्यक्तिश्च जीवस्य चतुर्थे मासि जायते ।
ततश्चलति गर्भोऽपि जनन्या जठरे स्वतः ॥७८॥

चौथे महीनेमें उसमें जीवात्माकी अभिव्यक्ति हो जाती है। तब वह गर्भ अपनी माताके उदरमें स्वयं ही डोलने-फिरने लगता है।

अदानाद्दोहदानां स्युर्गर्भस्य व्यङ्गतादयः ।
मातुर्यद्विषये लोभस्तदार्तो जायते सुतः ।
प्रवृद्धं पञ्चमे चित्तं मांसशोणितपुष्टता ॥७९॥

उस समय गर्भिणीकी इच्छाओंको पूर्ण न करनेसे गर्भस्थ बालकमें अङ्गहीनता आदि दोष हो जाते हैं। माताका जिस विषयमें राग रहता है पुत्र भी उसी विषयके लिये आतुर रहा करता है, तथा पाँचवें मासमें चित्तका आविर्भाव होनेपर उसके मांस और रक्त पुष्ट हो जाते हैं।
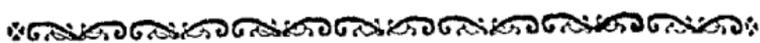
षष्ठेऽस्थिस्नायुनखरकेशलोमविविक्तता
बलवर्णौ चोपचितौ सप्तमे त्वङ्गपूर्णता ॥८०॥

छठे महीनेमें अस्थि, स्नायु, नख, केश और लोम प्रकट हो जाते हैं तथा सातवें महीनेमें बल और कान्ति बढ़कर सब अंग पूर्ण हो जाते हैं।

पादान्तरितहस्ताभ्यां श्रोत्ररन्ध्रे पिधाय सः।
उद्विग्नो गर्भसंवासादस्ति गर्भभयान्वितः ॥८१॥

टाँगोंमें होकर निकले हुए हाथोंसे अपने दोनों कर्णरन्ध्रोंको मूँदकर वह बालक गर्भवाससे दुःखित हो पुनः गर्भमें जानेसे भयभीत हो जाता है।

आविर्भूतप्रबोधोऽसौ गर्भदुःखादिसंयुतः।
हा कष्टमितिनिर्विण्णः स्वात्मानं शोशुचीत्यथ ॥८२॥

उस समय उसे ज्ञान उत्पन्न होता है और वह गर्भदुःखसे पीडित होकर 'हाय! कैसा कष्ट है' इस प्रकार अति खिन्न होकर अपने लिये इस प्रकार शोक करने लगता है।

अनुभूता महासह्यपुरो मर्मच्छिदोऽसकृत्।
करम्भवालुकास्तप्ताश्चादहन्तासुखाशयाः ॥८३॥

अहो! मैंने कई बार अत्यन्त असह्य मर्मच्छेदी [नारकी] शरीरोंका अनुभव किया है। तथा मुझे अत्यन्त दुःखमयी और तपी हुई भाड़की बालुओंने तपाया है।

जठरानलसन्तप्तपित्ताख्यरसविप्रुषः ।
गर्भाशये निमग्नं तु दहन्त्यतिभृशं हि माम् ॥ ८४ ॥

जठरानलसे तपायी हुई पित्त नामक रसकी बूँदें गर्भाशयमें पड़े हुए मुझको अत्यन्त सन्तप्त कर रही हैं ।

उदर्यक्रिमिवक्त्राणि कूटशाल्मलिकण्टकैः ।
तुल्यानि च तुदन्त्यार्त्तं पार्श्वास्थिक्रकचार्दितम् ॥ ८५ ॥

पसलीकी हड्डीरूप किरचोंसे पीडित होते हुए मुझको उदरमें रहनेवाले कीड़ोंके सेमलके काँटेके समान कठोर मुख नोच रहे हैं ।

गर्भे दुर्गन्धभूयिष्ठे जठराग्निप्रदीपिते ।
दुःखं मयाप्तं यत्तस्मात्कनीयः कुम्भिपाकजम् ॥ ८६ ॥

जठराग्निसे सन्तप्त इस दुर्गन्धपूर्ण गर्भाशयमें मैंने जैसे-जैसे दुःख भोगे हैं उनके सामने कुम्भीपाक नरककी पीडाएँ भी बहुत छोटी हैं ।

पूयासृक्छ्लेष्मपायित्वं वान्ताशित्वं च यद्भवेत् ।
अशुचौ क्रिमिभावश्च तत्प्राप्तं गर्भशायिना ॥ ८७ ॥

संसारमें जो पीब, रक्त और श्लेष्मा आदि पान करना, वमन भक्षण करना तथा गन्दे स्थानमें कीड़ा बनना आदि दुःख हैं वह सब मैंने इस गर्भमें रहकर ही पा लिये हैं ।

एवं स्मरन्पुरा प्राप्ता नानाजातीश्च यातनाः ।
मोक्षोपायमपि ध्यायन्वर्ततेऽभ्यासतत्परः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें पायी हुई नाना प्रकारकी यातनाओंको स्मरण कर तथा मोक्षप्राप्तिके साधनोंका भी विचारकर वह अभ्यासमें तत्पर रहता है।

अष्टमे त्वक्स्मृती स्यातामोजस्तेजश्च हृद्भवम्।
शुद्धमापीतरक्तं च निमित्तं जीवने मतम्॥८९॥

आठवें महीनेमें उसमें त्वचा और गतिरूप क्रिया तथा हृदयसे उत्पन्न होनेवाला ओज और तेज पैदा हो जाता है जो अति शुद्ध और कुछ पीलापन लिये रक्तवर्ण होता है तथा मनुष्यके जीवनका कारण माना गया है।

किञ्चित्कालमवस्थानं संस्कारात्पीडिताङ्गवत्।
समयः प्रसवस्य स्यान्मासेषु नवमादिषु॥९०॥

फिर कुछ काल संस्कारवश पीडित अंगोंसे गर्भाशयमें रहना पड़ता है। तदनन्तर नवम आदि महीनोंमें प्रसवकाल उपस्थित होता है।

मातुरस्रवहां नाडीमाश्रित्यान्ववतारिता।
नाभिस्थनाडी गर्भस्य मात्राहाररसावहा॥९१॥

माताकी रक्तवाहिनी नाड़ीका आश्रय करके एक नाड़ी फैली हुई है। वह नाभिस्था नाड़ी ही [गर्भके लिये] माताके आहारका रस वहन करनेवाली होती है।

तेन जीवति गर्भोऽपि मात्राहारेण पोषितः।
अस्थियन्त्रविनिष्पिष्टः पतितः कुक्षिवर्त्मना॥९२॥

उस माताके आहारसे ही पोषित होकर वह गर्भ जीवित रहता है। तदनन्तर वह अस्थियन्त्रसे पीडित होकर माताके कुक्षिमार्गसे बाहर गिर जाता है।

मेदोऽसृग्दिग्धसर्वाङ्गो जरायुपुटसंवृतः।
निष्क्रामन् भृशदुःखार्त्तो रुदन्नुच्चैरधोमुखः॥९३॥

उसके सम्पूर्ण अंग मेद और लोहूमें भरे रहते हैं और जब वह गर्भवेष्टनसे लिपटा हुआ नीचेको मुख किये बाहर निकलता है तो अत्यन्त दुःखसे पीडित होकर रोने लगता है।

यन्त्रादेवं विनिर्मुक्तः पतत्युत्तानशाय्युत।
जातः स वायुना स्पृष्टो न स्मरति शुभाशुभम्॥९४॥

इस प्रकार वह [योनिरूप] यन्त्रसे छूटकर उतान सोया हुआ गिरता है। उस समय जन्म लेनेपर उसे ज्यों ही वायुका स्पर्श होता है त्यों ही उसको भले-बुरेका ज्ञान नहीं रहता।

शरीरनिन्दा

संग्रहकर्तृवचनम्

तदेवं गर्भदुःखानि तस्य दोषाश्च दर्शिताः।
देहाद्वैराग्यसंसिद्ध्यै तद्बीभत्साप्यथोच्यते॥९५॥

इस प्रकार यहाँ गर्भके दुःख और उनके दोषोंका दिग्दर्शन कराया गया। अब देहसे वैराग्य करानेके लिये उसके बीभत्स (घृणित) स्वरूपका भी वर्णन किया जाता है।
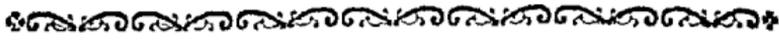
भोगानामाश्रयो देहः स च दोषगणान्वितः ।
विण्मूत्रास्थ्यादयो दोषा यतः सन्ति शरीरगाः ॥ ९६ ॥

शरीर भोगोंका आश्रयस्थान है और अनेकों दोषोंसे पूर्ण है, क्योंकि विष्ठा, मूत्र और हड्डी आदि दोष इस शरीरमें ही रहते हैं।

तस्मिन्विष्ठादिसङ्घाते भोक्तुं नेच्छति बुद्धिमान् ।
गर्त्ते विण्मति भुङ्क्ते कः स्थित्वा श्वादीन्विना पुमान्॥९७॥

कोई भी बुद्धिमान् पुरुष विष्ठा आदिके संघातरूप इस देहमें भोगकी इच्छा नहीं कर सकता। भला विष्ठाके गड्ढेमें रहकर श्वान आदिके सिवा और कौन पुरुष भोगोंको भोग सकता है ?

मूढस्तु तत्र भुङ्क्ते हि प्रत्युत विषयान्मुदा ।
सम्मूढोऽतिशिशुर्यद्वद्भुङ्क्ते स्वीयं मलादिकम् ॥ ९८ ॥

किन्तु मूढ पुरुष तो इस शरीरमें बैठकर ही अति आनन्दपूर्वक विषयोंको भोगता है, जिस प्रकार कोई अत्यन्त मूढ बालक अपने मल आदिको खाने लगता है।

अस्यैवार्थस्य दार्ढ्याय श्रीरामवचनान्यहम् ।
तथा व्यासशुकादीनां सङ्गृह्णामि समासतः ॥ ९९ ॥

इसी अर्थकी पुष्टिके लिये मैं यहाँ श्रीरामचन्द्रजीके वचन तथा व्यास एवं शुकदेव आदिके वाक्योंको संक्षेपसे संगृहीत करता हूँ।

योगवासिष्ठे श्रीरामवाक्यानि

मांसस्नाय्वस्थिवलिते शरीरपटहेऽदृढे ।
मार्जारवदहं तात तिष्ठाम्यत्र गतध्वनौ ॥१००॥

हे तात! मांस, स्नायु और हड्डियोंसे वेष्टित इस शरीररूप अदृढ (कमजोर) एवं ध्वनिहीन ढोलमें मैं त्रिल्लीके समान रहता हूँ।

कलेवरमहङ्कारगृहस्थस्य महागृहम् ।
लुठत्वप्येतु वा स्थैर्यं किमनेन मुने मम ॥१०१॥

यह शरीर तो अहंकाररूप गृहस्थका एक विशाल गृह है। हे मुने! यह लुढ़क जाय अथवा स्थिर रहे, इससे मेरा क्या होगा?

पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं चलत्तृष्णागृहाङ्गनम् ।
रागरञ्जितसर्वाङ्गं नेष्टं देहगृहं मम ॥१०२॥

यह देहरूपी घर, जिसमें इन्द्रियरूप पशु पंक्तिबद्ध हैं, तृष्णारूपा गृहिणी चलती-फिरती है तथा जिसके सभी भाग राग-रूप-रंगसे रञ्जित हैं, मुझे प्रिय नहीं है।

चित्तभृत्यकृतानन्तचेष्टावष्टब्धसंस्थितिः ।
मिथ्यामोहमहास्थूणं नेष्टं देहगृहं मम ॥१०३॥

चित्तरूप सेवककी की हुई अनन्त चेष्टाओंके कारण ही जिसकी स्थिति है तथा जिसमें मिथ्या मोहरूप बड़े-बड़े खम्भे लगे हुए हैं वह देहरूप घर मुझे प्रिय नहीं है।

दुःखार्भककृताक्रन्दं सुखशय्यामनोरमम् ।
दुरीहादग्धदासीकं नेष्टं देहगृहं मम ॥१०४॥

जिसमें दुःखरूप बालक रो रहा है, जो सुखरूप शय्यासे सुशोभित है और जिसमें दुश्चेष्टारूप दुष्ट दासी रहती है वह देहरूप घर मुझे प्रिय नहीं है।
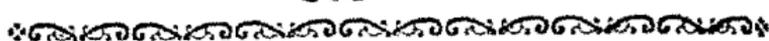
जिह्वामर्कटिकाक्रान्तवदनद्वारभीषणम् ।
दृष्टदन्तास्थिशकलं नेष्टं देहगृहं मम ॥१०५॥

जो जिह्वारूप बँदरीसे आक्रान्त मुखरूप द्वारके कारण अति भयानक है तथा जिसमें दिखायी देनेवाले दाँतरूप हड्डीके टुकड़े लगे हुए हैं वह देहरूप घर मुझे प्रिय नहीं है ।

मानावमानबहुला बहुलाभमनोरमाः ।
शरीरमात्रबद्धास्थं घ्नन्ति दोषदृशो नरम् ॥१०६॥

जिनमें मानापमानकी भरमार है और जो अनेकों प्रकारके लाभोंसे मनोहर प्रतीत होती हैं ऐसी अनेकों दोषमयी दृष्टियाँ शरीरमें ही आस्था रखनेवाले पुरुषको नष्ट कर देती हैं ।

कायोऽयमचिरापायो बुद्बुदोऽम्बुनिधाविव ।
व्यर्थं कार्यपरावर्ते परिस्फुरति निष्फलः ॥१०७॥

यह शरीर समुद्रमें उठनेवाले बुलबुलेके समान शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है । यह कार्यपरतारूप भँवरके रूपमें व्यर्थ और निष्फल ही स्फुरित हो रहा है ।

बद्धास्था ये शरीरेषु बद्धास्था ये जगत्स्थितौ ।
तान्मोहमदिरोन्मत्तान्धिगस्त्वेव पुनः पुनः ॥१०८॥

जो शरीरमें आस्था रखते हैं तथा जिन्हें संसारकी स्थिरतामें भी विश्वास है उन मोहरूप मदिरासे उन्मत्त हुए पुरुषोंको बारम्बार धिक्कार ही है ।
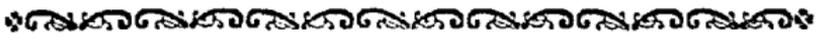
व्यासवाक्यम्

सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः ।
शरीरकस्यापिकृते मूढाः पापानि कुर्वते ॥१०९॥

हाय ! सारी गन्दगीके खजाने, कृतघ्न और विनाशशील इस देहके लिये ही मूढ़ पुरुष नाना प्रकारके पापकर्म करते हैं !

यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत् ।
दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत् ॥११०॥

इस शरीरके भीतर जो [मल, मांस, रक्त, मज्जा आदि दुर्गन्धमय वस्तुएँ भरी पड़ी] हैं वे ही यदि बाहर निकल आवें तो यह लोक [इसकी रक्षाके लिये] हाथमें डण्डा लेकर कुत्तों और कौओंको हटाता फिरेगा ।

शुकदेववाक्यम्

अमेध्यपूर्णं कृमिराशिसङ्कुलं
स्वभावदुर्गन्धमशौचमध्रुवम् ।
कलेवरं मूत्रपुरीषभाजनं
रमन्ति मूढा न रमन्ति पण्डिताः ॥१११॥

जो गन्दगीसे भरा हुआ, कीड़ों-मकोड़ोंके समूहसे संकुलित, स्वभावसे ही अत्यन्त दुर्गन्धित और अत्यन्त अस्थिर है उस मलमूत्रके पात्ररूप शरीरमें मूढजन ही सुख मानते हैं, पण्डितजन तो सर्वदा उससे विरत ही होते हैं ।

विष्णुपुराणे

मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
देहे चेत्प्रीतिमान् मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥११२॥

मांस, लोहू, पीव, विष्टा, मूत्र, स्नायु, मज्जा और अस्थियोंके समूहरूप इस देहमें यदि किसी मूढ़ पुरुषकी प्रीति हो सकती है तो वह नरकमें भी प्रेम कर सकता है।

स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान् ।
वैराग्यकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते ॥११३॥

जिस पुरुषको अपने शरीरकी अपवित्र गन्धसे विराग नहीं होता उसे वैराग्यके और किस कारणका उपदेश दिया जाय?

व्यासवचनम्

स्थानाद्बीजादुपष्टंभान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिताः ह्यशुचिं विदुः ॥११४॥

उत्पत्तिस्थान, बीज, आश्रय तथा जन्म और मरणके कारण शरीरमें केवल कल्पित पवित्रता होनेसे ही पण्डितजन उसे अपवित्र मानते हैं।

संग्रहकर्तृवचनम्

मैत्रायणीयशाखायामपि दोषाः प्रदर्शिताः ।
भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जेत्यादिवाक्यतः ॥११५॥
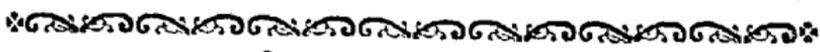
'भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जा'* इत्यादि वाक्यद्वारा मैत्रायणी-शाखामें भी इस शरीरके दोष दिखलाये गये हैं।

एवं भोगाश्रयाङ्गस्य गर्भे जनौ तथा स्थितौ ।
दोषा दुःखानि वेदादिप्रमाणेनेह दर्शिताः ॥११६॥

इस प्रकार भोगोंके आश्रयभूत इस शरीरके गर्भवास, जन्म तथा स्थिति आदिमें जो-जो दोष है वे सब यहाँ वेदादि प्रमाणोंसे दिखला दिये।

तस्मात्सर्वैरुपेक्ष्योऽयं देहः स्नाय्वादिपञ्जरः ।
तत्पुष्टिहेतुभोग्येषु त्याज्या चेच्छा मुमुक्षुभिः ॥११७॥

इसलिये स्नायु आदिके ढाँचेरूप इस देहकी सभीको उपेक्षा करनी चाहिये। तथा मोक्ष-कामियोंको उसकी पुष्टिके कारणरूप भोग्य पदार्थोंकी भी इच्छा त्याग देनी चाहिये।

नन्वात्मत्वेन सर्वेषां प्रसिद्धो देहको यतः ।
दुर्लभश्चोदितस्तस्मान्नोपेक्ष्यो विषयास्तथा ॥११८॥

श्रीमद्भागवते

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।

---

* भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिते विण्मूत्रवातपित्तसङ्घाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिञ्छरीरे किं कामोपभोगैः।
(मैत्रा० उ० १।२)
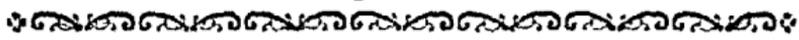
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥११९॥

शङ्का—यह देह तो सबके आत्मारूपसे प्रसिद्ध है और इसे बड़ा दुर्लभ भी कहा गया है; इसलिये यह तथा इसके विषय उपेक्षायोग्य नहीं हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—यह मनुष्यदेह सबसे अग्रगण्य, [सुकृतियोंके लिये] सुलभ, [पापात्माओंके लिये] अत्यन्त दुर्लभ और सुदृढ नौकारूप है। साक्षात् गुरुदेव ही इसके कर्णधार हैं। यदि मनुष्य अनुकूल वायुरूप मेरेद्वारा प्रेरित होनेपर [इसमें बैठकर] भवसागरको पार नहीं करता तो वह अपनी आत्माका घात करनेवाला ही है।

संग्रहकर्तृवचनम्

सत्यं हि दुर्लभः सोऽस्तूपेक्ष्यस्तथापि सम्भवेत्।
अनात्मत्वाद्यथा नौका नौनिभे स्यात्स्वधीः कथम्॥१२०॥

समाधान—सचमुच यह शरीर अत्यन्त दुर्लभ है; तो भी अनात्मा होनेके कारण उपेक्षा ही करनेयोग्य है। जिस प्रकार कि नौका। भला, इस नौकाके समान शरीरमें आत्मबुद्धि कैसे हो सकती है?

दुर्लभत्वं हि शास्त्रेषु देहस्य यत्प्रकीर्तितम्।
तद्भवोत्तरणायैव नात्मत्वेनानुपेक्षया॥१२१॥

शास्त्रमें जो शरीरकी दुर्लभता बतायी है वह उसके द्वारा

संसारसागरको पार करनेकी दृष्टिसे ही कही है—आत्मदृष्टिसे उसकी उपेक्षा न करनेके लिये नहीं।

आत्मत्वेन च तं मत्वा यो भोगार्थं समीहते।
देहस्यैवेह पुष्ट्यर्थं पशुतुल्यः स ना स्मृतः ॥१२२॥

जो पुरुष उसे आत्मारूप मानकर देहकी पुष्टिहीके लिये उसके भोगोंके लिये चेष्टा करता है वह पशुवत् माना गया है।

यदुक्तं विषयाश्चापि नोपेक्ष्या इति तन्मृषा।
यतस्तदनुपेक्षायां हेतुर्नैवोपलभ्यते ॥१२३॥

और यह जो कहा कि 'देहके विषय भी उपेक्षायोग्य नहीं हैं' सो ठीक नहीं, क्योंकि उनकी उपेक्षा न करनेका कोई कारण दिखायी नहीं देता।

ननु कैश्चिन्महाभाग्यैर्लभ्यन्ते विषया यतः।
अतस्तदनुपेक्षायां स्याद्दौर्लभ्यस्य हेतुता ॥१२४॥
मैवं श्वशूकरैश्चापि पापिष्ठैः सुरतादिकाः।
लभ्यन्ते विषया यस्मादतस्ते नैव दुर्लभाः ॥१२५॥

यदि कहो कि ये विषय तो किन्हीं महान् भाग्यशालियोंको ही प्राप्त होते हैं; अतः उनकी दुर्लभता ही उनकी अनुपेक्षामें कारण है। तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ये मैथुन आदि विषय तो अत्यन्त पापी श्वान और शूकरादिको भी मिल जाते हैं। अतः वे अत्यन्त दुर्लभ नहीं हैं।
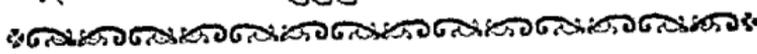
नृदेहं दुर्लभं लब्ध्वा भोगाय तं युनक्ति यः ।
आप्तैः प्रत्युत नुस्तस्य दर्शिता मन्दभाग्यता ॥१२६॥

प्रत्युत आप्तपुरुषोंने उसी पुरुषकी मन्दभाग्यता दिखलायी है जो इस दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर इसे भोगोंमें लगा देता है ।

आप्तवाक्यम्

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति तिलखलांश्चान्दनैरिन्धनौघैः
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः ।
छित्त्वा कर्पूरखण्डान् वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्
प्राप्येमां कर्मभूमिं विचलति मनुजः कस्ततो मन्दभाग्यः ॥

जो पुरुष वैडूर्यकी बटलोहीमें चन्दनके ईंधनसे तिलकी खल पकाता है, आक बोनेके लिये सोनेके हलसे पृथिवी जोतता है, कर्पूरखण्डोंको काटकर सब ओर कोदोकी बाड़ी लगाता है अथवा इस कर्मभूमिको पाकर अपने कर्तव्यसे विमुख रहता है उससे अधिक अभागा और कौन है ?

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं सिद्धं ह्युपेक्ष्यत्वं विषयदेहयोर्ध्रुवम् ।
मुमुक्षुस्तत्र रागस्योच्छित्त्यै स्याद्दोषदृक्सदा ॥१२८॥

इस प्रकार शरीर और उसके विषयोंकी उपेक्ष्यता सिद्ध ही है। अतः मुमुक्षुपुरुषको उनके रागका उच्छेद करनेके लिये उनमें सर्वदा दोषदृष्टि करनी चाहिये ।

बाल्याद्या अपि देहस्यावस्था या दुःखहेतवः ।
ताभ्यस्तथा विरक्तः स्यादिच्छेच्चेदात्मनो हितम् ॥१२९॥

यदि मनुष्यको आत्मकल्याणकी चाह हो तो सब प्रकारके दुःखोंकी कारणरूप जो शरीरकी बाल्य आदि अवस्थाएँ हैं उनसे सदा विरक्त रहे ।

बाल्यावस्थाके दोष

ननु बाल्याभिधावस्था सुखरूपा हि सम्भवेत् ।
सर्वप्रीत्यास्पदत्वाद्धि यथात्मा सुखरूपकः ॥१३०॥

शङ्का—जिस प्रकार आत्मा सुखस्वरूप है उसी प्रकार सबकी प्रीतिपात्र होनेसे बाल्यावस्था तो सुखरूप ही होनी चाहिये ।

स यथेत्याद्यया श्रुत्या बृहदारण्यसंस्थया ।
सुप्तौ दृष्टान्तभावेन बाल्यस्य सुखतोदिता ॥१३१॥

बृहदारण्यक उपनिषद्की 'स यथा'* इत्यादि श्रुतिसे भी सुषुप्तिमें दृष्टान्तरूप होनेसे बाल्यावस्थाकी सुखरूपता प्रकट होती है ।

सर्वप्रीत्यास्पदत्वाद्धि बाल्यस्य सुखतेति यत् ।
तन्न यस्मान्न सर्वत्र भ्रान्तप्रेमसुखान्वितम् ॥१३२॥

---

* 'स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ।' (बृ० उ० २ । १ । १९)

जिस प्रकार कुमार, महाराज अथवा महाब्राह्मण (महान् ब्रह्मनिष्ठ) आनन्दकी निश्चिन्त अवस्थाको प्राप्त होकर सोता है उसी प्रकार इस अवस्थामें यह शयन करता है ।
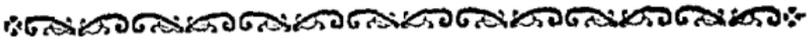
समाधान—सबकी प्रीतिपात्र होनेसे जो बाल्यकालकी सुखरूपता प्रतीत होती है वह ठीक नहीं, क्योंकि वह सर्वत्र सुख-रूपा नहीं है, केवल भ्रमजनित प्रेमके सुखसे अन्वित है।

वातादिदोषदुष्टानां स्वदेहमर्दनादिके।
प्रीतिर्यथा तथा बाल्ये न सा सुखत्वसाधिका ॥१३३॥

जिस प्रकार वातादि दोषोंसे दूषित होनेपर अपने शरीरके मर्दन आदिमें प्रीति होती है उसी प्रकारकी प्रीति बाल्यावस्थामें हुआ करती है। वह उसकी सुखरूपताको सिद्ध करनेवाली नहीं हो सकती।

हेतुर्विशेषणासिद्धो विवेकिनाश्च सा यतः।
स्वात्मन्यदृश्यमात्रे हि क्वापि प्रीतिर्न दृश्यते ॥१३४॥

अतः यह (सर्वप्रीत्यास्पदत्वरूप) हेतु विशेषणासिद्ध* है, क्योंकि विवेकियोंकी प्रीति अपने अदृश्य आत्मामें ही देखी जाती है, अन्यत्र कहीं नहीं।

बाल्यस्य सुखरूपत्वे श्रुतिर्योदाहृता त्वया।
न बाल्यस्य सुखात्मत्वं वक्ति सापि कथञ्चन ॥१३५॥

इसके सिवा तुमने बाल्यावस्थाकी सुखरूपतामें जिस श्रुतिका प्रमाण दिया है वह भी किसी प्रकार बाल्यावस्थाकी सुखरूपता नहीं बताती।

---

* जो हेतु विशेषणविशिष्ट होकर पक्षमें संघटित नहीं होता उसे विशेषणासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं; यहाँ 'सर्व' पदविशिष्ट 'प्रीत्यास्पदत्व'का बाल्यावस्थामें व्यभिचार है, इसलिये यह हेतु विशेषणासिद्ध है।

विक्षेपाभावमात्रांशे बालोपमा तयोदिता ।
वक्तुं यस्मात्प्रवृत्ता सा जीवस्य ब्रह्मरूपताम् ॥१३६॥

उसने तो विक्षेपाभावमात्र अंशमें ही बालककी उपमा दी है, क्योंकि वह तो जीवकी ब्रह्मरूपता प्रतिपादित करनेके लिये ही प्रवृत्त हुई है।

सा स्वार्थं हि कथं त्यक्त्वा बाल्यस्य सुखतां वदेत् ।
उभयोर्बोधने दोषो वाक्यभेदः समापतेत् ॥१३७॥

वह अपने अभीष्ट अर्थको त्यागकर बाल्यावस्थाकी सुखरूपता क्यों बतलायेगी ? और यदि यह माना जाय कि वह इन दोनों अर्थोंका बोध कराती है तो वाक्यभेदरूप दोषकी प्राप्ति होगी।

बाल्यं विक्रियते नित्यं विकारिणि च शं कुतः ।
तस्माद्बाल्यं हि दुःखाय सुखाय न कदाचन ॥१३८॥

बाल्यावस्था सदा विकारको प्राप्त होती रहती है और विकारीमें सुख कहाँ ? इसलिये बाल्यकाल तो दुःखका ही कारण है, उसमें सुख कभी नहीं है।

बाल्यदुःखानि दोषांश्च रामाय प्राब्रवीच्छिवः ।
रामचन्द्रोऽपि वासिष्ठे बाल्यदुःखानि चोक्तवान् ॥१३९॥

बाल्यावस्थाके दुःख और दोषोंका श्रीरामचन्द्रजीसे शिवजीने वर्णन किया है तथा योगवासिष्ठमें रामचन्द्रजीने भी बाल्यकालके दुःख सुनाये हैं।

तद्वाक्यानि लिखामीह वाद्याशङ्कापनुत्तये ।
वाक्यमानविचारेण वैराग्यस्य च सिद्धये ॥१४०॥

अतः वादीकी शङ्का दूर करनेके लिये और आप्तवाक्यरूप प्रमाणके विचारसे वैराग्यकी सिद्धिके लिये मैं यहाँ उनके वचन लिखता हूँ ।

शिवगीतासु

अकिञ्चित्करस्तदा लोकैर्मांसपेशीवदास्थितः ।
श्वमार्जारादिदंष्ट्रिभ्यो रक्ष्यते दण्डपाणिभिः ॥१४१॥

उस समय कुछ भी करनेमें असमर्थ मांसकी पेशीके समान पड़े हुए उस बालककी लोगोंको कुत्ता और बिल्ली आदि दाढ़ोंवाले जीवोंसे हाथमें डण्डा लेकर रक्षा करनी पड़ती है ।

पितृवद्राक्षसं वेत्ति मातृवड्डाकिनीमपि ।
पूयं पयोवदज्ञानाद्दीर्घकष्टं तु शैशवम् ॥१४२॥

वह अज्ञानवश राक्षसको अपने पिताके समान समझता है, डाकिनीको भी अपनी माता मानता है तथा पीबको दूधके समान समझता है । वस्तुतः शैशवकाल अत्यन्त कष्टरूप ही है ।

श्लेष्मणा पिहिता नाडी सुषुम्ना यावदेव हि ।
व्यक्तवर्णं च वचनं तावद्वक्तुं न शक्यते ॥१४३॥
अत एव च गर्भेऽपि रोदितुं नैव शक्यते ॥१४४॥

जबतक उसकी सुषुम्ना नाड़ी कफसे रुकी रहती है तबतक

वह स्पष्ट अक्षर भी उच्चारण नहीं किया जा सकता। इसीलिये गर्भस्थ बालक रोनेमें भी असमर्थ रहता है।

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं बालो महादुःखी तद्वक्तुमपि न क्षमः ॥१४५॥

इस प्रकार बालक अत्यन्त दुःखी रहता है; और वह अपने दुःखको बतला भी नहीं सकता।

योगवासिष्ठे

न मृतौ न जरारोगे न चापदि न यौवने।
ताश्चिन्ता विनिकृन्तन्ति हृदयं शैशवेषु याः ॥१४६॥

शैशवकालमें जैसी-जैसी चिन्ताएँ चित्तको नोचती रहती हैं वैसी मृत्यु, बुढ़ापे, रोग, आपत्ति और युवावस्थामें भी नहीं होतीं।

सर्वाणि दुःखभूतानि सर्वे दोषा दुराधयः।
बालमेवोपजीवन्ति श्रीमन्तमिव मानवाः ॥१४७॥

जिस प्रकार साधारण मनुष्य धनी पुरुषके आश्रित रहते हैं उसी प्रकार सारे दुःख, सारे दोष और सारी व्याधियाँ बाल्यावस्थाके आश्रित ही रहती हैं।

बाल्यं रम्यमिति व्यर्थबुद्धयः कल्पयन्ति ये।
तान्मूर्खपुरुषान् ब्रह्मन् धिगस्तु हतचेतसः ॥१४८॥

'बाल्यावस्था सुखमयी है' ऐसी जो व्यर्थबुद्धिलोग कल्पना किया करते हैं, हे ब्रह्मन्! उन बुद्धिहत मूर्ख पुरुषोंको धिक्कार है।

शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः पितृतस्तथा ।
जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम् ॥१४९॥

इस शैशवकालमें गुरु, माता, पिता, दूसरे लोग तथा बड़े बालक सभीसे भय बना रहता है । सचमुच बाल्यावस्था भयका घर ही है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं बहुविधं दुःखं बाल्येऽनुभूयते जनैः ।
तस्माद्बाल्याद्विरज्येत स्वश्रेयश्चेदिहेच्छति ॥१५०॥

इस प्रकार शैशवकालमें लोगोंको नाना प्रकारका दुःख भोगना पड़ता है । इसलिये यदि संसारमें अपने कल्याणकी इच्छा हो तो बाल्यावस्थासे विरक्त हो जाय ।

युवावस्थाके दोष

बाल्यान्ना यौवनं याति प्रायेण दोषसंयुतम् ।
यद्दोषैर्नरकं याति रतिमत्राप्यतस्त्यजेत् ॥१५१॥

बाल्यावस्थासे मनुष्य यौवनको प्राप्त होता है, जो प्रायः दोषसे परिपूर्ण है तथा जिसके दोषसे वह नरकमें गिरता है । अतः मनुष्यको इसमें भी रागका त्याग करना चाहिये ।

दुःखान्यप्यत्र लभ्यन्ते येषां संख्या न विद्यते ।
तस्मात्ततो विरज्येत श्रेयोऽर्थी नरकादिव ॥१५२॥

इस अवस्थामें भी उसे इतने दुःख प्राप्त होते हैं कि जिनकी
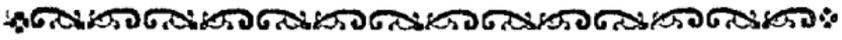
कोई गणना नहीं हो सकती । अतः कल्याणकामीको उससे नरकके समान उपरत हो जाना चाहिये ।

यौवनस्य च ये दोषास्तस्य दुःखानि यानि च ।
त्यागाय शिवरामाभ्यां सङ्क्षेपात्तेऽपि दर्शिताः ॥१५३॥

यौवनावस्थाके जो-जो दोष हैं और उनसे जितने दुःख उठाने पड़ते हैं उनका भी शिव और रामने, त्याग करनेके लिये संक्षेपसे दिग्दर्शन कराया है ।

तद्वाक्यानि लिखामीह विरत्यै यौवनादपि ।
सर्वतःसारसञ्चित्यै प्रयत्नोऽयं यतो मम ॥१५४॥

यौवनसे वैराग्य हो—इसलिये मैं यहाँ उनके वाक्य भी लिखता हूँ, क्योंकि मेरा यह प्रयत्न तो सब जगहसे सार संग्रह करनेके लिये ही है ।

शिवगीतायाम्

दृप्तोऽथ यौवनं प्राप्य मन्मथज्वरविह्वलः ।
गायत्यकस्मादुच्चैस्तु तथाकस्माच्च वल्गति ॥१५५॥

मनुष्य युवावस्था पाकर मतवाला हो जाता है । वह कामज्वरसे व्याकुल होकर जोर-जोरसे गाने और डींग हाँकने लगता है ।

आरोहति तरून्वेगाच्छान्तानुद्वेजयत्यपि ।
कामक्रोधमदान्धः सन्न किञ्चिदपि वीक्षते ॥१५६॥

वह बड़े वेगसे वृक्षोंपर चढ़ जाता है, शान्त पुरुषोंको

उद्विग्न करने लगता है और काम, क्रोध तथा मदसे अन्धा होकर कुछ भी नहीं देखता ।

अस्थिमांसशिरालाया वामाया मन्मथालये ।
उत्तानपूतिमण्डूकपाटितोदरसन्निभे ।
आसक्तः स्मरबाणार्त आत्मना दह्यते भृशम् ॥१५७॥

अस्थि, मांस और शिराओंवाली कामिनीके काममन्दिर (योनि) में, जो कि उत्तान पड़े हुए अति दुर्गन्धित मेंढकके फटे ए पेटके समान है, आसक्त तथा कामबाणसे पीडित हुआ वक पुरुष अपने-आप अत्यन्त दग्ध होता रहता है ।

योगवासिष्ठे

असत्यं सत्यसङ्काशमचिराद्विप्रलम्भदम् ।
स्वप्नाङ्गनासङ्गसमं यौवनं मे न रोचते ॥१५८॥

जो असत्य होकर भी सत्यवत् प्रतीत होता है और तत्काल धोखा देनेवाला है वह स्वप्न-सुलभ रमणीके सहवासके समान यौवन मुझे नहीं भाता ।

आपातमात्ररमणं सद्भावरहितान्तरम् ।
वेश्यास्त्रीसङ्गमप्रख्यं यौवनं मे न रोचते ॥१५९॥

जो आरम्भमें ही सुखदायक प्रतीत होती है किन्तु भीतरसे सर्वथा सारहीन है वह वेश्या स्त्रीके सहवासके सदृश युवावस्था मुझे प्रिय नहीं है ।

सन्निर्मलापि विस्तीर्णा पावन्यपि च यौवने ।
मतिः कलुषतामेति प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥१६०॥

जिस प्रकार वर्षाऋतुमें नदी मैली हो जाती है उसी प्रकार युवावस्थामें अच्छी निर्मल, विस्तीर्ण और परमपवित्र मति भी मलिनताको प्राप्त हो जाती है ।

तावदेव विवल्गन्ति रागद्वेषपिशाचकाः ।
नास्तमेति समस्तैषा यावद्यौवनयामिनी ॥१६१॥

जबतक यह युवावस्थारूपी रात्रि पूर्णतया अस्त नहीं होती तभीतक रागद्वेषरूप पिशाचगण नाच-कूद किया करते हैं ।

हार्दान्धकारधारिण्या भैरवाकारवानपि ।
यौवनाज्ञानयामिन्या बिभेति भगवानपि ॥१६२॥

हार्दिक अन्धकारको धारण करनेवाली इस युवावस्थारूप अज्ञानमयी रात्रिसे भैरवाकार भगवान् भी भय मानते हैं ।

हर्षमायाति यो मोहात्पुरुषः क्षणभङ्गिना ।
यौवनेन महामुग्धः स वै नरमृगः स्मृतः ॥१६३॥

जो महामुग्ध पुरुष मोहवश इस क्षणभङ्गुर यौवनसे आनन्दित होता है वह तो नरपशु माना गया है ।

ते पूज्यास्ते महात्मानस्त एव पुरुषा भुवि ।
ये सुखेन समुत्तीर्णाः साधो यौवनसङ्कटात् ॥१६४॥

हे साधो ! जो लोग इस यौवनरूप आपत्तिसे सुखपूर्वक पार हो गये हैं वे ही पूजनीय हैं, वे ही महात्मा हैं और वे ही इस पृथ्वीतलपर वास्तविक पुरुष हैं ।

वृद्धावस्थाके दोष

संग्रहकर्तृवचनम्

यौवनं भोक्तुमभ्येति जरा नुः शक्तिनाशिका ।
सर्पः सर्पान्तरं यद्वद्भोक्तुमभ्येति वैरतः ॥१६५॥

जिस प्रकार वैरवश एक सर्प दूसरे सर्पको निगलनेके लिये आता है उसी प्रकार यौवनको हड़प जानेके लिये उसके पीछे मनुष्यकी शक्तिको नष्ट कर डालनेवाला बुढ़ापा आता है ।

यौवनेऽस्ति यथा दुःखं दोषाश्च सन्ति भूरिशः ।
जरायां ते तथा सन्त्यतस्तत्रापि रतिं त्यजेत् ॥१६६॥

जिस प्रकार यौवनमें दुःख है और अनेकों प्रकारके दोष हैं उसी प्रकार बुढ़ापेमें भी हैं । इसलिये उसमें भी अनुरागका त्याग करना चाहिये ।

ननु कामादिभिर्दोषैर्नुर्मास्तु यौवने सुखम् ।
वार्द्धक्ये तदभावाद्वै न हि तद्दुःखसम्भवः ॥१६७॥

शङ्का—युवावस्थामें कामादि दोषोंके कारण मनुष्यको भले ही सुख न मिले किन्तु वृद्धावस्थामें तो उनका सर्वथा अभाव होनेसे तज्जनित दुःखकी कोई सम्भावना नहीं है ।

कार्याशक्त्या भवेद्दुःखमिति चेन्न यतः सुताः ।
पौत्राद्याश्चापि वृद्धस्य सन्ति कार्यकराः प्रियाः ॥१६८॥

यदि कर्म करनेकी असमर्थताके कारण दुःख माना जाय तो ठीक नहीं, क्योंकि वृद्ध पुरुषके सब कार्य करनेवाले उसके प्रिय पौत्रादि तो होते ही हैं ।

सेव्यमानः स पुत्राद्यैर्दुःखी स्यान्न कथञ्चन ।
वार्द्धिक्यान्नुरतो नैव विरागः स्यात्तु धीमतः ॥१६९॥

पुत्रादिके सेवा करते रहनेसे वह किसी प्रकार दुःखी नहीं होता । इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको वृद्धावस्थासे वैराग्य नही हुआ करता ।

मैवं यतो हि वृद्धानामपि दोषास्तु चित्तगाः ।
कामाद्या नैव नश्यन्त्यर्थविचारादिभिर्विना ॥१७०॥

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वृद्ध पुरुषोंके भी कामादिक मानसिक दोष परमार्थ-वस्तुका विचार किये बिना नष्ट नहीं होते ।

विना वस्तुविचारेण वार्द्धिक्यमात्रतो यदि ।
नश्येयुस्ते तदा वृद्धा न वाञ्छेयू रसादिकान् ॥१७१॥

यदि वस्तुका विचार किये बिना केवल वार्द्धिक्यमात्रसे ही उनका नाश हो जाता तो वृद्धजन रस आदिकी इच्छा न किया करते ।

वृद्धानां प्रत्युत वाञ्छा दृश्यते हि विशेषतः ।
भोगैः शाम्यति सा नैवेति भारते समीरितम् ॥१७२॥

वृद्धजनोंको तो उन रत्नादिकी इच्छा और भी अधिक देखी जाती है। वह भोगोंसे शान्त नहीं हो सकती। यही बात महाभारतने कही है।

महाभारते

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥१७३॥

भोगोंकी कामना भोगोंको भोगनेसे कभी शान्त नहीं होती; बल्कि अग्नि जिस प्रकार हविसे प्रज्वलित हो जाता है उसी प्रकार वह और भी अधिक बढ़ जाती है।

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा ममैतेष्वभिजायते ॥१७४॥

मुझे विषयासक्त चित्त रहते एक सहस्र वर्ष बीत गये। तथापि इनमें मेरी तृष्णा दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥१७५॥

जैसे-जैसे जरावस्था प्राप्त होती है केश जीर्ण होते जाते हैं, दाँत जर्जरित तथा अंग-प्रत्यंग शिथिल होते जाते हैं किन्तु एकमात्र तृष्णा तरुण हो जाती है।

संग्रहकर्तृवचनम्

जरायां बहवो दोषाः शिवादिभिरपीरिताः।
श्लोकांस्तन्निमितानत्र विरक्त्यै संलिखाम्यहम् ॥१७६॥

इस जरावस्थामें शिवजी आदिने भी बहुत-से दोष बतलाये हैं। अतः वैराग्यकी सिद्धिके लिये इस समय मैं उनके रचे हुए श्लोक लिखता हूँ।

शिवगीतासु

महापरिभवस्थानं जरां प्राप्यातिदुःखितः।
श्लेष्मणा पिहितोरस्को जग्धमन्नं न जीर्यति ॥१७७॥

अत्यन्त पराभवकी स्थानरूप इस वृद्धावस्थाके प्राप्त होनेपर मनुष्य बड़ा दुःखी हो जाता है तथा हृदय कफसे घिर जानेके कारण उसका खाया हुआ अन्न भी नहीं पचता।

भग्नदन्तो मन्ददृष्टिः कटुतिक्तकषायभुक्।
वातभुग्नकटिग्रीवाकरोरुचरणोऽबलः ॥१७८॥
गदायुतसमाविष्टः परिभूतः स्वबन्धुभिः।

उसके दाँत गिर जाते हैं, दृष्टि मन्द पड़ जाती है, चरपरे, तीखे और कसैले पदार्थोंमें उसकी रुचि हो जाती है तथा कटि, ग्रीवा, हाथ और पाँव आदिके वातग्रस्त होनेसे वह सर्वथा बल-हीन हो जाता है। इस प्रकार हजारों रोगोंसे आक्रान्त होनेके कारण वह अपने बन्धुजनोंसे तिरस्कृत होने लगता है।

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं शिवेन पुत्राद्यैरुक्ता वृद्धतिरस्कृतिः ॥१७९॥
वृद्धस्य पुत्रपौत्राद्यैः स्यात्सुखमिति यद्वचः।
तन्मृषेति शिवोक्त्या हि ज्ञायते पूर्वपक्षिणः ॥१८०॥

इस प्रकार शिवजीने पुत्रादिसे वृद्ध पुरुषके तिरस्कृत होनेका वर्णन किया है । अतः 'वृद्ध पुरुषको पुत्र-पौत्रादिसे सुख प्राप्त होता है'—ऐसा जो पूर्वपक्षीका कथन है वह शिवजीके इस कथनसे मिथ्या ही माळूम होता है ।

दृश्यते चाद्य लोकेऽपि प्रायेण पितरौ सुताः ।
वृद्धौ ह्यशक्तिकौ त्यक्त्वा सेवन्ते स्त्रीसुतादिकान् ॥१८१॥

आजकल लोकमें भी यह देखा जाता है कि पुत्रगण प्रायः अपने वृद्ध और शक्तिहीन माता-पिताको त्यागकर स्त्री-पुत्रादिकी सेवामें लगे रहते हैं ।

वृद्धं यथा बलीवर्दं स्वदासं चाप्यशक्तिकम् ।
स्वामी त्यजति तद्वच्च वृद्धं दारसुतादिकाः ॥१८२॥

जिस प्रकार स्वामी बूढ़े बैल और अपने शक्तिहीन सेवकको त्याग देता है, उसी प्रकार स्त्री-पुत्रादि वृद्ध पुरुषको त्याग देते हैं ।

वृद्धं पितामहं दृष्ट्वा पौत्राद्या बालकाः खलु ।
प्रत्युतोपहसन्त्येनं सेवन्ते प्रीतितो न च ॥१८३॥

अपने दादाको बूढ़ा हुआ देखकर पौत्र आदि बालक प्रीतिपूर्वक उसकी सेवा नहीं करते, प्रत्युत उसकी हँसी किया करते हैं ।

आप्तवाक्यम्

अधः पश्यसि किं वृद्धे तव किं पतितं भुवि ।
अरे मूढ न जानासि गतं मे यौवनं धनम् ॥१८४॥

[किसी वृद्धाको नीचेको शिर किये देखकर कोई पुरुष पूछता है—] 'हे वृद्धे ! तू नीचेकी ओर क्या देख रही है ? पृथिवीपर तेरी क्या चीज गिर गयी है ?' [तब वृद्धा कहती है—] 'रे मूढ ! क्या तुझे मालूम नहीं, मेरा यौवनरूप धन चला गया ।'

संग्रहकर्तृवचनम्

इतिहासोऽपि वृद्धस्याप्तैः सम्प्रदर्शितस्तथा ।
जरायाश्च विरागाय दोषा रामेण दर्शिताः ॥१८५॥

इस प्रकार आप्त पुरुषोंने वृद्ध पुरुषका इतिहास भी ऐसा ही दिखाया है, तथा श्रीरामचन्द्रजीने भी बुढ़ापेसे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये उसके दोषोंका दिग्दर्शन किया है ।

योगवासिष्ठे

दुःप्रेक्ष्यं जरठं दीनं हीनं गुणपराक्रमैः ।
गृध्रो वृक्षमिवादीर्घगर्द्धोऽह्यभ्येति वृद्धकम् ॥१८६॥

जिस प्रकार वृक्षपर गृध्र आ बैठता है उसी प्रकार जिसकी ओर देखा नहीं जाता उस अत्यन्त जर्जरित, दीन और गुण-पराक्रमहीन वृद्ध पुरुषपर प्रबल तृष्णा आकर सवार हो जाती है ।

दैन्यदोषमयी दीर्घा हृदि दाहप्रदायिनी ।
सर्वापदामेकसखी वार्द्धके वर्द्धते स्पृहा ॥१८७॥

वृद्धावस्थामें दीनतारूप महान् दोषमयी, हृदयमें सन्ताप उत्पन्न करनेवाली तथा सम्पूर्ण आपत्तियोंकी एकमात्र सहेली कामनाकी वृद्धि हो जाती है ।
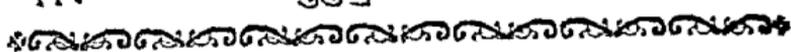
कथं कदा मे किमिव स्वादु स्याद्भोजनं जनान् ।
इत्यजस्रं जरा चैषा चेतो दहति वार्द्धके ॥१८८॥

'मुझे कब किस प्रकार और कैसा स्वादिष्ट भोजन मिले?' इस प्रकारकी चिन्तासे यह वृद्धावस्था बुढ़ापेमें लोगोंके चित्तोंको निरन्तर तपाया करती है।

काचिदस्ति जगत्यस्मिन्नामङ्गलकरी तथा ।
यथा जराक्रोशकरी देहजङ्गलजम्बुकी ॥१८९॥

इस संसारमें ऐसी अमङ्गलकारिणी और कोई वस्तु नहीं है जैसी इस शरीररूप वनमें रहनेवाली यह चीत्कार करनेवाली जरारूप जम्बुकी (सियारी) है।

मृत्युके दुःख

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं दृष्ट्वा जरादोषान्विरज्यैव ततः सुधीः ।
स्वदेहादि विरागाय मृत्युदुःखं तथा स्मरेत् ॥१९०॥

इस प्रकार वृद्धावस्थाके दोष देखकर उससे विरक्त हो बुद्धिमान् पुरुष अपने शरीरसे अनासक्त होनेके लिये मृत्युके दुःखोंका स्मरण करे।

मृत्युदुःखानि चोक्तानि रामाय श्रीशिवेन वै ।
तथैवात्मपुराणेऽपि मृत्युदुःखं प्रदर्शितम् ॥१९१॥

मृत्युके दुःखोंका श्रीशिवजीने रामचन्द्रजीसे वर्णन किया है तथा आत्मपुराणमें भी मृत्युके दुःखका दिग्दर्शन कराया गया है।

सङ्गृह्णामि तयोश्चात्र श्लोकानप्यद्य कांश्चन ।
मृत्युदुःखान्यपि श्रुत्वा विरागः स्याद्यथैव नुः ॥१९२॥

यहाँ मैं उनके कुछ श्लोकोंका भी संग्रह करता हूँ, जिससे मृत्युके दुःखोंको सुनकर भी लोगोंको वैराग्य उत्पन्न हो ।

जरया कार्श्यमापन्नो मृत्यौ सन्निहिते सति ।
इमं देहं परित्यज्यान्यं देहं गन्तुमीप्सति ॥१९३॥

जरावस्थासे कृशताको प्राप्त हुआ पुरुष मृत्युके समीप आनेपर इस शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरमें जानेकी इच्छा करता है ।

यथैव शकटः शूर्पपिठरोलूखलादिभिः ।
सम्भृतो ह्येति मुञ्चन्वै बहूञ्छब्दांस्तथा नरः ॥१९४॥
वासनाभारसम्पूर्ण ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवेद्यदा ।
तदा कुर्वन्बहूञ्छब्दान्याति देहादितः परम् ॥१९५॥

जिस प्रकार सूप, बटलोई और उलूखल आदिसे भरा हुआ छकड़ा बहुत-से शब्द करता हुआ जाता है उसी प्रकार मनुष्य भी जिस समय वासनाओंके भारसे परिपूर्ण होकर ऊर्ध्व निःश्वास लेने लगता है उस समय बहुत-से शब्द करता हुआ इस शरीरसे परे चला जाता है ।

शिवगीतासु

दृष्टावाक्षिप्यमाणायां संज्ञया ह्रियमाणया ।
मृत्युपाशेन बद्धस्य त्राता नैवोपलभ्यते ॥१९६॥

उस समय (मृत्युकाल उपस्थित होनेपर) क्षीण होती हुई चेतनाके द्वारा दृष्टि डालनेपर मृत्युपाशसे बँधे हुए उस पुरुषको कोई भी रक्षक दिखायी नहीं देता ।

संरुध्यमानस्तमसा महच्चित्तमिवाविशत् ।
उपाहूतस्तदा ज्ञातीनीक्षते दीनचक्षुषा ॥१९७॥

तब अज्ञानसे आवृत होता हुआ भी वह पुकारे जानेपर कुछ विवेककी-सी स्थितिमें आकर जाति-बन्धुओंको दीन दृष्टिसे देखने लगता है ।

हा कान्ते हा धनं पुत्राः क्रन्दमानः सुदारुणम् ।
मण्डूक इव सर्पेण मृत्युना गीर्यते नरः ॥१९८॥

फिर 'हा प्रिये ! हा धन ! हा पुत्र !' इस प्रकार अत्यन्त रुदन करता हुआ वह पुरुष सर्पसे निगले जाते हुए मेढकके समान कालकवलित हो जाता है ।

अयःपाशेन कालेन स्नेहपाशेन बन्धुभिः ।
आत्मानं कृष्यमाणं तमीक्षते परितस्तथा ॥१९९॥

उस समय वह अपनेको कालद्वारा लोहमय पाशसे और बन्धुजनद्वारा स्नेहमय पाशसे दोनों ओर खिंचता हुआ देखता है ।

हिक्कया बाध्यमानस्य श्वासेन परिशुष्यतः ।
मृत्युनाकृष्यमाणस्य न खल्वस्ति परायणम् ॥२००॥

हिचकियोंसे पीड़ित और श्वाससे सूखते हुए उस मृत्युग्रस्त पुरुषका उस समय निश्चय ही कोई भी शरण नहीं होता ।

माता पिता गुरुजनः स्वजनो ममेति
मायोपमे जगति कस्य भवेत्प्रतिज्ञा ।
एको यतो व्रजति कर्मपुरःसरोऽयं
विश्रामवृक्षसदृशः खलु जीवलोकः ॥२०१॥

इस मायामय जगत्में किसकी ऐसी प्रतिज्ञा हो सकती है कि ये माता, पिता, गुरुजन और स्वजन मेरे हैं? क्योंकि यह जीव तो अपने कर्मानुसार इस लोकसे अकेला ही जाता है। सचमुच यह जीवलोक [मार्गमें लगे हुए] विश्रामवृक्षके समान ही है।

सायं सायं वासवृक्षं समेताः
प्रातः प्रातस्तेन तेन प्रयान्ति ।
त्यक्त्वान्योऽन्यं तं च वृक्षं विहङ्गा
यद्वत्तद्वज्ज्ञातयोऽज्ञातयश्च ॥२०२॥

जिस प्रकार पक्षिगण नित्यप्रति सायंकालमें एक वृक्षपर एकत्रित होकर सवेरा होनेपर उस वृक्षको और परस्पर एक-दूसरेको त्यागकर चले जाते हैं उसी प्रकार ये जाति-बन्धु और विजातीय पुरुष भी मिलते-बिछुड़ते रहते हैं।

मर्मस्वाकृष्यमाणेषु मुच्यमानेषु सन्धिषु ।
यद्दुःखं म्रियमाणस्य स्मर्यतां तन्मुमुक्षुभिः ॥२०३॥

प्राणोंके खिंचने और सन्धियोंके शिथिल पड़नेपर मुमूर्षु पुरुषको जैसा दुःख होता है मुमुक्षुजनोंको उसे याद रखना चाहिये।
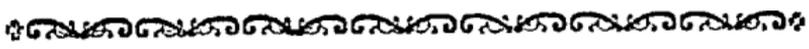
आत्मपुराणे

द्वासप्ततिसहस्राणि वृश्चिका एकहेलया ।
यथा दशन्ति गात्रेषु पुच्छैः सूच्यग्रसन्निभैः ।
तथा तज्जायते दुःखं मुमूर्षोर्देहमोचने ॥२०४॥

जैसे बहत्तर हजार बिच्छू अपने सूईकी नोकके समान तीखे डङ्कोंसे शरीरमें एक साथ काटें उसी प्रकारका कष्ट मरनेवाले पुरुषको देहत्याग करते समय होता है ।

कोटयर्द्धसहितास्तिस्रः कोटयः सूच्यः सुतीक्ष्णकाः ।
यादृक्छरीरिणः कुर्युस्तादृग्दुःखं मृतौ नृणाम् ॥२०५॥

देहधारीको साढ़े तीन करोड़ अत्यन्त तीक्ष्ण सूइयोंके चुभानेसे जैसा कष्ट होता है वैसा ही दुःख मनुष्योंको मृत्युकालमें होता है ।

हस्तौ पादौ क्षिपन्तश्च भूमिष्ठं गतचेतनम् ।
स्वजनास्तं तु शोचन्ति काकं काका यथातुरम् ॥२०६॥

उस समय चेतनाशून्य होकर पृथिवीपर हाथ-पाँव पटकते हुए उस पुरुषके लिये कुटुम्बी लोग इस प्रकार चिन्ता करने लगते हैं जैसे किसी रोगी कौएके लिये अन्य कौए चिन्तातुर हो जाते हैं ।

बान्धवेषु भृशं शब्दान्मुञ्चत्सु यमकिङ्कराः ।
नयन्त्येनं यथा राजभृत्या जातापराधकम् ॥२०७॥

इस प्रकार बन्धुजनोंके अत्यन्त रोने-चिल्लानेपर भी यमदूत इसे इस प्रकार ले जाते हैं जैसे राजसेवक किसी अपराधीको ले जायँ ।
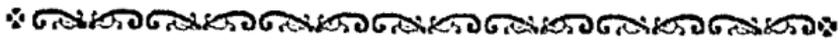
एवमेतदनौपम्यं दुःखं दुर्मार्गवर्तिनाम् ।
यथा नरकजं दुःखं तादृग्वापि ततोऽधिकम् ॥२०८॥

इस प्रकार कुमार्गमें चलनेवाले लोगोंको यह अनुपम दुःख प्राप्त होता है । उन्हें, जैसा नरकका दुःख होता है वैसा अथवा उससे भी अधिक दुःख भोगना पड़ता है ।

मूर्च्छां मुमूर्षुरभ्येति क्वचिद्वापि प्रबुध्यते ।
बिभेति च भृशं दृष्ट्वा दारुणान्यमकिङ्करान् ॥२०९॥

मरणासन्न पुरुष कभी मूर्च्छित हो जाता है और कभी सचेत; तथा कभी भयङ्कर यमदूतोंको देखकर अत्यन्त भयभीत हो उठता है ।

त एनं भर्त्सयन्त्यादावागत्य पुरतो भटाः ।
धिक्त्वां मनुष्यदेहस्थं पापिनं स्वात्मघातकम् ।
येन त्वया शरीरेण न कृतं स्वहितं क्वचित् ॥२१०॥

वे यमदूत इसके सामने आकर पहले इस प्रकार धमकाते हैं—'अपने आत्माका घात करनेवाले तुझ मनुष्यदेहस्थ महापापीको धिक्कार है जिसने कि अपने शरीरसे कभी आत्मकल्याणका साधन नहीं किया ।

परदोषास्त्वया यद्वत्सावधानेन निश्चिताः ।
सर्वदैव तथात्मा किं क्षणमात्रं न निश्चितः ॥२११॥

'तूने जिस प्रकार सदा ही सावधान रहकर पराये दोषोंको निश्चय किया है उसी प्रकार एक क्षणके लिये भी अपने आत्माका निश्चय क्यों नहीं किया ?

अपि चेन्निर्गुणं ब्रह्म ज्ञातुं नैव भवान् क्षमः ।
कस्मादुपासनं तस्य न कृतं सुखदं त्वया ॥२१२॥

'यदि तुम निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं भी थे तो भी तुमने उसकी सुखमयी उपासना ही क्यों नहीं की ।

त्वत्कृतं सकलं विद्मो दुष्कृतं यमकिङ्कराः ।
वासरादिभिरत्यर्थं श्रावितं यमसंसदि ॥२१३॥

'हम यमदूतगण तुम्हारे किये हुए सारे दुष्कर्मोंको जानते हैं, क्योंकि उन्हें दिवस आदि यमराजकी सभामें खूब सुना देते थे ।

वासरेण ससूर्येण कथितं दिवसे कृतम् ।
चन्द्रादिना तथा रात्र्या कथितं निश्यनुष्ठितम् ।
सन्ध्ययोरपि सन्ध्याभ्यां सर्वदा भूतपञ्चकैः ॥२१४॥

'तुम्हारे दिनमें किये कृत्योंको सूर्यदेवके सहित दिन सुना देता था और रात्रिमें किये हुए कार्योंको रात्रि ही चन्द्रमा आदिके द्वारा कह देती थी तथा दोनों सन्ध्याओंमें किये हुए कृत्योंको सन्ध्याओंने ही पञ्चभूतोंद्वारा सुना दिया था ।

इदं त्वया कृतं पापमेकान्ते चलता त्विदम् ।
इति ते मर्मसदृशं पापं सर्वे वदन्ति हि ॥२१५॥

'तुमने असुक पाप एकान्तमें चलते-फिरते किया है—इस प्रकार तुम्हारे मर्मस्थलसदृश [गुप्त] पापोंको भी सम्पूर्ण भूतगण कह दिया करते थे ।
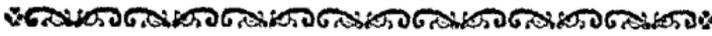
वासराद्या यमचराः सर्वैः सह चराः सदा ।
त्वादृशा यान्न जानन्ति मोहिता देवमायया ॥२१६॥

'ये वासर आदि यमदूत सर्वदा सबके साथ रहनेवाले हैं;* जिन्हें देवमायासे मोहित हुए तुम-जैसे लोग नहीं जान सकते।'

इत्यादि वचनान्युक्त्वा बध्वा पाशैः सुदारुणैः ।
कशादिभिश्च संताड्य नयन्ति यमसादनम् ॥२१७॥

वे यमदूत इस प्रकारके वचन कहकर और कठोर पाशोंसे बाँधकर उसे कोड़ोंसे पीटते हुए यमलोकमें ले जाते हैं।

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं मृत्योर्हि दुःखानि यैर्वाक्यैर्दर्शितानि वै ।
सङ्क्षेपात्सङ्गृहीतानि विरत्यै तानि देहतः ॥२१८॥

इस प्रकार जिन वाक्योंसे मृत्युके दुःख दिखाये गये हैं उन्हें देहसे वैराग्य करानेके लिये यहाँ संक्षेपसे संगृहीत किया गया है।

नरककी यातनाएँ

पापिनोऽङ्गादिरागाय दुःखानि नरकस्य च ।
उक्तान्यात्मपुराणे यैः श्लोकैस्तानप्यनुब्रुवे ॥२१९॥

---

* आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तिम् ॥
(महा० आदि० ७४ । ३०)

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, आकाश, पृथिवी, जल, हृदय, यमराज, दिन, रात्रि, दोनों सन्ध्याएँ और धर्म—ये सब मनुष्यके व्यापारोंको जानते हैं।

आत्मपुराणमें जिन श्लोकोंसे नरकके दुःखोंका वर्णन किया गया है उन्हें भी पापी पुरुषोंको देहसे वैराग्य उत्पन्न करानेके लिये यहाँ उद्धृत करता हूँ।

आत्मपुराणे

अनेकशतकोटीनां योजनानि यमालयम् ।
स्वल्पेनैव स कालेन नीयते यमकिङ्करैः ॥२२०॥

यमलोक यहाँसे सैकड़ों करोड़ योजन दूर है। किन्तु यमदूत बहुत थोड़े समयमें ही उसे वहाँ ले जाते हैं।

अत्र दुःखान्यनेकानि मृतानां यमशासनात् ।
भवन्ति तानि को नाम वक्तुं श्रोतुञ्च वा क्षमः ॥२२१॥

मृतक पुरुषोंको वहाँ यमराजके शासनसे अनेक प्रकारके कष्ट दिये जाते हैं। उनका कथन या श्रवण करनेमें भला कौन समर्थ है।

दंष्ट्रिणां शूकरादीनां काकगृध्रादिपक्षिणाम् ।
उपद्रवो महान्मार्गे यमराजपुरस्य हि ॥२२२॥

यमराजकी पुरीके मार्गमें शूकरादि दाढ़ोंवाले जीवों तथा काक और गृध्र आदि पक्षियोंका बड़ा भारी उपद्रव रहता है।

पूयविष्ठादिपूर्णानां नदीनामपि लङ्घनम् ।
निमज्जनं च तत्रैव कचिन्नक्रादितो भयम् ॥२२३॥

वहाँ पीब और विष्ठा आदिसे भरी हुई नदियोंको लाँघना पड़ता है, कभी उन्हींमें डुबकी लगानी होती है और कभी नाके आदिका भय उपस्थित हो जाता है।

वह्निशस्त्रजलेलानां वायोश्चापि विकारतः ।
यमालये हि नरका दुःखदाः पापकारिणाम् ॥२२४॥

यमलोकमें अग्नि, शस्त्र, जल, पृथिवी और वायु आदिके विकार-रूप अनेकों नरक हैं, जो पापकर्मा पुरुषोंको अनेकों दुःख देनेवाले हैं ।

अनेककल्पपर्यन्तमसिपत्रवनादिषु ।
क्रूरेषु नरकेष्वेवं दुःखान्याप्नोति दुष्कृती ॥२२५॥

इस प्रकार वह दुष्कर्म करनेवाला अनेकों कल्पपर्यन्त असि-पत्रवन आदि दुःखदायी नरकोंमें तरह-तरहके दुःख भोगा करता है ।

एवं स नारकं दुःखमनुभूयाथ कालतः ।
दुष्कृती बीजतां प्राप्य लोकमेतं पुनर्व्रजेत् ॥२२६॥

इस प्रकार वह दुष्कृती पुरुष नरकके दुःख भोगकर कालान्तरमें बीजत्वको प्राप्त होकर इस लोकमें फिर लौट आता है ।

सुकृती च तथा स्वर्गे ह्यनुभूय सुखं महत् ।
सुकृतान्ते पतत्यस्मिँल्लोके पर्जन्यधारया ॥२२७॥

इसी तरह शुभ कर्म करनेवाला पुरुष भी स्वर्गमें महान् सुख भोगकर पुण्यक्षय होनेपर मेघकी धाराओंद्वारा इस लोकमें गिरता है ।

जगच्चक्रवर्णन

संग्रहकर्तृवचनम्

फलं चैवं प्रसङ्गेन पुण्यस्यापीह दर्शितम् ।
विरत्यै भवचक्रस्य रूपञ्चाप्यद्य दृश्यते ॥२२८॥

इस प्रकार प्रसङ्गवश यहाँ पुण्यका फल भी प्रदर्शित कर दिया। अब वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये यहाँ संसृतिचक्रका रूप भी दिखलाया जाता है।

योगतत्त्वोपनिषत्सु

यः स्तनः पूर्वपीतस्तं निष्पीड्य मुदमश्नुते ।
यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन् ॥२२९॥

हाय! जिन स्तनोंका इसने पहले पान किया था उन्हींको दबाकर प्रसन्न होता है, और जिस भगसे उत्पन्न हुआ था उसीमें पुनः रमण करने लगता है।

या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मातरेव हि ।
यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता ॥२३०॥
एवं संसारचक्रे कूपचक्रेण घटा इव ।
भ्रमन्तो यान्ति जन्मानीति श्रुतयोऽपि सञ्जगुः ॥२३१॥

जो (स्त्री-जाति) पहले उसकी माता होती है उसीको वह अपनी स्त्री बना लेता है और फिर [पुत्ररूपसे उत्पन्न होनेपर] वह पत्नी ही फिर उसकी माता बन जाती है, जो पहले पिता था वही पुत्ररूपसे उत्पन्न हो जाता है तथा वह पुत्र भी फिर पिता बन बैठता है। इस प्रकार रहटके घड़ोंके समान संसार-चक्रमें घूमते हुए जीव अनेक योनियोंमें जाते हैं—ऐसा श्रुतिने भी कहा है।

एवं देहाद्विरागेण जगच्चक्रस्य शान्तये ।
गर्भादिनिरयान्तेषु भवेद्दोषादिदृक् सुधीः ॥२३२॥
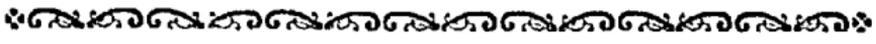
इस प्रकार देहके वैराग्यसे जगच्चक्रकी शान्तिके लिये बुद्धिमान् पुरुष गर्भवाससे लेकर नरकपर्यन्त सभी स्थितियोंमें दोषदृष्टि करे।

तथा मृत्योश्च चिह्नानि तस्यागमनतः पुरा ।
ज्ञात्वा यतेत मोक्षार्थं सुधीः शास्त्रप्रमाणतः ॥२३३॥

तथा मृत्युके आगमनसे पूर्व उसके चिह्नोंको जानकर वह शास्त्रानुसार मोक्ष-प्राप्तिके लिये यत्न करे।

मृत्युसूचक लक्षण

स्कन्दपुराणे

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि समासेन न विस्तरात् ।
येन ज्ञानविशेषेण मृत्युं पश्यन्ति देहिनः ॥२३४॥

अब, जिस ज्ञानविशेषसे देहधारी पुरुष मृत्युको जान सकते हैं उसका—विस्तारसे नहीं—संक्षेपसे वर्णन करता हूँ।

सोमच्छायां ध्रुवं चैव महापथमरुन्धतीम् ।
अपश्यन्वत्सरादूर्ध्वं न जीवति न संशयः ॥२३५॥

चन्द्रमाकी कालिमा, ध्रुव, महापथ और अरुन्धती नक्षत्रको न देख पानेपर पुरुष एक सालसे अधिक जीवित नहीं रहता—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

कपोतो वाथ गृद्ध्रो वा काको वा यदि मूर्द्धनि ।
स्थितः क्रव्यादसंज्ञो वा षण्मासेन विनश्यति ॥२३६॥
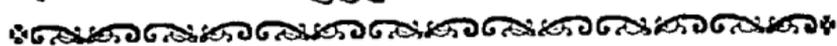
यदि कबूतर, गिद्ध, कौआ अथवा बाज इनमेंसे कोई पक्षी किसी पुरुषके शिरपर बैठ जाय तो वह छः मासमें ही नष्ट हो जाता है।

दर्पणे वा जले वापि परेषां वाथ चक्षुषि ।
अशिरस्कं तथात्मानं पश्यन्मासं न जीवति ॥२३७॥

जिसे दर्पण, जल अथवा दूसरोंके नेत्रोंमें अपनी परछाईं बे-सिरकी दिखायी दे वह पुरुष एक महीने भी जीवित नहीं रहता।

कृष्णाः कृष्णाम्बराः स्वप्ने श्यामवस्त्रधराः स्त्रियः ।
येनैव सह गच्छन्ति दक्षिणां स न जीवति ॥२३८॥

स्वप्नमें जिसके साथ काले रङ्गकी, काले वस्त्रोंवाली अथवा श्याम वस्त्र धारण करनेवाली स्त्रियाँ दक्षिण दिशाको जायँ वह जीवित नहीं रह सकता।

कृष्णैर्विकेशैः पुरुषैः स्वप्ने यः पीडितः पुमान् ।
पाषाणैस्ताड्यते यस्तु मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥२३९॥

जो पुरुष स्वप्नमें काले और विकट केशोंवाले पुरुषोंसे पीडित होता है अथवा पत्थरोंसे ताडित होता है मृत्यु मानों उसके घर ही आ गयी होती है।

घोषं न शृणुयात्कर्णे ज्योतिर्नेत्रे न पश्यति ।
श्वभ्रे यो निपतेत्स्वप्ने तस्य मृत्युर्गृहं गतः ॥२४०॥

जो कानोंमें होनेवाला घोष (घर्घर शब्द) नहीं सुनता, नेत्रोंमें ज्योति नही देखता अथवा स्वप्नमें किसी गड्ढेमें गिरता है मृत्यु मानों उसके घर ही आ गयी है।
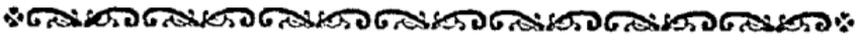
यस्य वै भुक्तमात्रस्य हृदयं पीड्यते क्षुधा ।
जायते दन्तघर्षश्च स गतायुर्न संशयः ॥२४१॥

जिसके हृदयको भोजन कर चुकनेपर ही भूख सताने लगे, तथा जिसके दाँतोंमें घर्षण होने लगे, इसमें सन्देह नहीं, उस पुरुषकी आयु बीत चुकी होती है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

इत्यादिस्कान्दगैः श्लोकैर्मृत्य्वागमनबोधकैः ।
मृत्युकालापरिज्ञानाच्चिरजीवितवाञ्छया ॥२४२॥
विरागः स्यात्कथं पुंस इति शङ्का निराकृता ।
तस्माद्देहादितः शीघ्रं विरज्येदिह बुद्धिमान् ॥२४३॥

इस प्रकार स्कन्दपुराणके मृत्युके आगमनकी सूचना देनेवाले श्लोकोंसे, मृत्युकालका ज्ञान न होनेके कारण चिरकालतक जीवित रहनेकी इच्छासे पुरुषको किस प्रकार वैराग्य हो सकता है—इस शङ्काका निराकरण कर दिया । अतः बुद्धिमान् पुरुष इस लोकमें बहुत शीघ्र ही देहादिसे उपरत हो जाय ।

तीन प्रकारके साधक

विनैवारिष्टबोधं यः प्रागुजन्माभ्यासतो नरः ।
मोक्षाय शुकदेवादिवद्यतेतोत्तमः स वै ॥२४४॥

जो पुरुष मृत्युके चिह्नोंका ज्ञान प्राप्त किये बिना ही अपने पूर्वजन्मके अभ्यासते शुकदेव आदिके समान मोक्षप्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है वह निश्चय ही उत्तम है ।
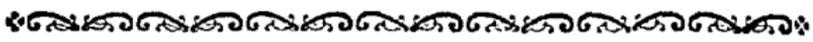
विविधारिष्टबोधाद्यः परीक्षितादिवत्पुमान् ।
यतते दुःखनाशाय विज्ञेयः स तु मध्यमः ॥२४५॥

जो पुरुष परीक्षित आदिके समान मृत्युके अनेकों चिह्न देखकर दुःखनाशका प्रयत्न करता है उसे मध्यम जानना चाहिये ।

ज्ञात्वापि मृत्युचिह्नानि भोग्यान् यो न जिहासति ।
स चाधमो नरो ज्ञेयः पितृविट्क्रिमिसन्निभः ॥२४६॥

और जो मृत्युके चिह्नोंको जानकर भी भोगोंको नहीं छोड़ना चाहता उस अधम पुरुषको तो अपने पिताके विष्टाके कीड़ेके समान ही समझना चाहिये ।

यानि दुःखानि जीवस्य प्रागिह दर्शितानि तु ।
तानि देहाभिमानेन तस्मिन्नेवातिरागिणः ॥२४७॥
भवन्ति देहिनो यस्मात्तस्माद्देहे रतिं त्यजेत् ।
भोगाश्रये रतिं त्यक्त्वा भोग्येष्वपि च तां त्यजेत् ॥२४८॥

देहधारी जीवके लिये पहले और इस स्थानपर जिन-जिन दुःखोंका दिग्दर्शन कराया गया है वे सब देहमें ही अत्यन्त राग करनेवाले उस पुरुषको देहाभिमानवश हुआ करते हैं । इसलिये देहमें रागका त्याग करे । इस प्रकार भोगोंके आश्रयरूप देहमें राग छोड़कर उसका भोगोंमें भी त्याग कर दे ।

सोऽकामयत जीवात्मा जाया मे स्यादथाङ्गजः ।
मे स्याद्वित्तमिति श्रुत्या भोग्येषूक्तो रतेः क्रमः ॥२४९॥

'उस जीवात्माने इच्छा की कि मेरे स्त्री हो, मुझे पुत्र मिले तथा मुझे धन प्राप्त हो'—इस प्रकार श्रुतिने भी भोगोंमें रागका क्रम दिखलाया है ।

स्त्री-निन्दा

एवं त्रिविधभोग्येषु प्राथम्यं योषितां श्रुतम् ।
तस्मात्ताभ्यो विरागार्थं स्त्रीनिन्दा तावदुच्यते ॥२५०॥

इस प्रकार श्रुतिने त्रिविध भोगोंमें पहला नम्बर स्त्रियोंको दिया है। अतः उनसे विराग करनेके लिये यहाँ स्त्रियोंकी निन्दा की जाती है।

योषितो रूपवत्या नुर्डाकिनीभ्योऽधिकं भयम् ।
डाकिन्यो घ्नन्ति वै बालान् सा तु हन्त्याप्तयौवनान् २५१

मनुष्यको रूपवती स्त्रीसे डाकिनियोंकी अपेक्षा भी अधिक भय है, क्योंकि डाकिनियाँ तो बालकोंको ही मारती हैं किन्तु वह तो युवा पुरुषोंको मार डालती है ।

स्त्रीसङ्गादुद्विजेद्व्याघ्रीसङ्गादप्यधिकं बुधः ।
व्याघ्री हन्त्येकवारं हि योषिद्धन्ति नरं मुहुः ॥२५२॥

बुद्धिमान् पुरुषको स्त्री-सङ्गसे व्याघ्रीके सहवाससे भी अधिक भय मानना चाहिये, क्योंकि व्याघ्री तो मनुष्यको एक ही बार मारती है, परन्तु नारी उसे बारम्बार मारती रहती है ।

व्याघ्रयत्ति हि नरं दन्तैर्नार्यत्ति तैर्विनापि तम् ।
योनिरन्ध्रेण चादत्कमदत्कमिति वै श्रुतेः ॥२५३॥
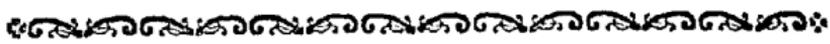
व्याघ्री तो पुरुषको दाँतोंसे काटती है परन्तु स्त्री तो 'अदत्क-मदत्कम्'* इस श्रुतिके अनुसार दाँतोंके बिना केवल अपने योनिरन्ध्र-से ही लील जाती है ।

व्याघ्र्या हतो न ना याति नरकादीन्परस्त्रियः ।
सम्भोगाद्याति तान् कामीत्यादिकं भारते स्मृतम् ॥२५४॥

महाभारतमें भी कहा है कि पुरुष व्याघ्रसे मारा जानेपर नरकादिको प्राप्त नहीं होता; किन्तु वह कामवश परस्त्रियोंका सम्भोग करनेसे उन्हींमें जाता है ।

महाभारते

परदारा न गन्तव्याः सर्ववर्णेषु कर्हिचित् ।
कृत्या ह्येता घोररूपा मोहयन्त्यविचक्षणान् ॥२५५॥

सभी वर्णोंमें पर-स्त्रीगमन तो कभी न करना चाहिये । ये मूर्ख मनुष्योंको मोहित करनेवाली घोररूपिणी कृत्या ही हैं ।

नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥२५६॥
यावन्तो रोमकूपाः स्युः स्त्रीणां गात्रेषु निर्मिताः ।
तावद्वर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते ॥२५७॥

---

* 'श्वेतमदत्कमदत्क श्वेतं लिन्दुमाभिगाम्'

(छा० उ० ८ । १४ । १)

'मैं बिना दाँतोंके भक्षण कर जानेवाले श्वेत और लिबलिबे [स्त्री-चिह्न] के प्रति गमन न करूँ ।'

इस लोकमें मनुष्यकी आयुको क्षीण करनेवाला ऐसा और कोई कर्म नहीं है जैसा कि परस्त्रियोंका सेवन करना । ऐसा करनेसे वह (परस्त्रीगामी) स्त्रियोंके शरीरमें जितने रोमकूप होते हैं उतने ही सहस्र वर्ष नरकमें पड़ा रहता है ।

परदाराभिमर्षं तु कृत्वा वै जायते वृकः ।
श्वा शृगालस्ततो गृध्रो व्यालः कङ्को बकस्तथा ॥२५८॥

पर-स्त्रीगमन करनेसे मनुष्य क्रमशः भेड़िया, श्वान, गीदड़, गिद्ध, सर्प, कङ्क तथा बगुला होकर उत्पन्न होता है ।

स्मरणाज्जायते कामो वधूनां धैर्यनाशनः ।
दर्शनाद्वचनात्स्पर्शात्कस्मादेष न सम्भवेत् ॥२५९॥

स्त्रियोंका तो स्मरण करनेसे ही धैर्यको नष्ट करनेवाला कामदेव उत्पन्न हो जाता है फिर उनको देखने, उनसे बातचीत करने अथवा उनका स्पर्श करनेसे वह क्यों न उत्पन्न होगा ?

अन्तकः पवनो मृत्युः पातालं बडवामुखम् ।
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः ॥२६०॥

काल, पवन, मृत्यु, पाताल, बडवानल, छुरेकी धारा, विष, सर्प और अग्नि—ये सब एक ओर हैं, और स्त्रियाँ एक ओर ।

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥२६१॥

अग्नि ईंधनसे तृप्त नहीं होता, महासागर नदियोंसे पूर्ण नहीं

होता और काल सम्पूर्ण प्राणियोंसे तृप्त नहीं होता। इसी प्रकार स्त्री कभी पुरुषोंसे तृप्त नहीं होती।

संग्रहकर्तृवचनम्

बहुना किमिहोक्तेन स्त्रीसङ्गात्सर्वदेहिनाम्।
प्रायेण जायते दुःखं स्त्रीसङ्गं सन्त्यजेदतः॥२६२॥

इस विषयमें अधिक क्या कहा जाय? स्त्री-सङ्गसे सभी देहधारियोंको प्रायः दुःख उठाना पड़ता है। अतः स्त्री-सङ्गका सर्वथा परित्याग करे।

स्त्रीणां दोषास्त्वनन्तास्तान्वक्तुं शक्नुवीत कः पुमान्।
संक्षेपेण तथाप्याप्तैस्ते वैराग्याय दर्शिताः॥२६३॥

स्त्रियोंके दोष तो अनन्त हैं; उनका कौन पुरुष वर्णन कर सकता है? तो भी उनसे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये आप्तपुरुषोंने उनका संक्षेपसे दिग्दर्शन कराया है।

तद्वाक्यलेखनेनात्र नारीदोषप्रदर्शनम्।
क्रियते हि स्वतो नाहं तद्दोषगणने पटुः॥२६४॥

उनके वाक्योंका उल्लेख करके ही मैं स्त्रियोंके दोष दिखलाता हूँ, क्योंकि मैं स्वयं उनके दोषोंकी गणना करनेमें समर्थ नहीं हूँ।

आप्तवाक्यम्

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता।
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥२६५॥

मिथ्याभाषण, साहस, माया, मूर्खता, अत्यन्त लोलुपता, अपवित्रता और निर्दयता—ये स्त्रियोंके स्वाभाविक दोष हैं।

दर्शनाद्धरते चित्तं स्पर्शनाद्धरते बलम् ।
मैथुनाद्धरते वीर्यं नारी प्रत्यक्षराक्षसी ॥२६६॥

स्त्री साक्षात् राक्षसीके समान है । यह अपने दर्शनमात्रसे चित्तको, स्पर्शसे बलको और मैथुनसे वीर्यको हर लेती है ।

भगेन चर्मखण्डेन दुर्गन्धेन व्रणेन वै ।
खण्डितं हि जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥२६७॥

हाय ! दुर्गन्धित व्रणके समान चामके खण्डरूप इस भगने देवता, असुर और मनुष्योंके सहित इस सारे संसारको खण्डित कर दिया है ।

तत्र मुग्धा रमन्ते ये सदेवासुरमानवाः ।
ते यान्ति नरकं घोरं सत्यमेव न संशयः ॥२६८॥

यह बात बिल्कुल ठीक है कि देवता, असुर और मनुष्योंके सहित जो मूढ पुरुष इसमें सुख मानते हैं वे घोर नरकमें पड़ते हैं । इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं ।

गौडी पैष्टी तथा माध्वी विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
चतुर्थी स्त्री सुरा ज्ञेया ययेदं मोहितं जगत् ॥२६९॥

गौडी, पैष्टी और माध्वी—यह तीन प्रकारकी मदिरा मानी जाती है । इनसे अतिरिक्त स्त्रीको चौथी मदिरा समझनी चाहिये, जिससे कि यह सारा जगत् मोहित हो रहा है ।

चर्मखण्डं द्विधा छिन्नमपानोद्गारवासितम् ।
तत्र मूढा रमन्ते ये प्राणैरपि धनैरपि ॥२७०॥
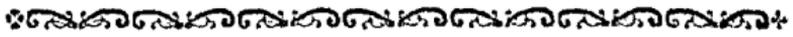
जो अपानवायुसे वासित दो भागोंमें बँटा हुआ एक चमड़ेका खण्डमात्र ही है उसमें जो लोग प्राण और धन खोकर भी रमण करते हैं वे मूर्ख ही हैं ।

स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च ।
अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्चयते ॥२७१॥

स्त्रियोंके अवाच्यदेश और एक लिबलिबे नाडीव्रण (नासूर) में कुछ भी भेद नही है; तथापि उनमें मनोवृत्तिके भेदसे मनुष्य प्रायः ठगा ही जाता है।

योगवासिष्ठे

सत्कारोच्छ्वासमात्रेण भुजङ्गदलनोत्कया ।
कान्तयोद्ध्रियते जन्तुः करभ्येवोरगो विलात् ॥२७२॥

जिस प्रकार सर्पके दलन करनेमें पटु करभी (सर्प पकड़नेके यन्त्र) द्वारा सर्प बिलसे निकाल लिया जाता है उसी प्रकार कामिनी सत्कार और उच्छ्वास मात्रसे ही इस जीवका उच्छेद कर डालती है।

जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासना रज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका ॥२७३॥

जो जन्मरूप तालके मत्स्य हैं और चित्तरूप कीचड़में विचरते हैं उन मनुष्योंके लिये दुर्वासना रज्जु है और स्त्री [उसमें बँधा हुआ] मांसका टुकड़ा है ।

ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः ।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ॥२७४॥
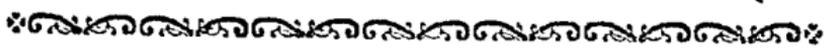
स्त्रियाँ [देखनेमें] अत्यन्त सरस होकर भी [वास्तवमें] बड़ी नीरस होती हैं। ये अत्यन्त दूर जलनेवाले नरकाग्निका अति दारुण एवं सुन्दर ईंधन ही हैं।

इतः केशा इतो रक्तमितीयं प्रमदातनुः।
किमेतया निन्दितया करोति विपुलाशयः ॥२७५॥

इधर केश हैं और इधर रक्त है—बस इतना ही यह स्त्रीका शरीर है। भला, इस निन्दित शरीरसे महानुभाव क्या करते हैं?

वासोविलेपनैर्यानि लालितानि पुनः पुनः।
तान्यङ्गान्यङ्ग लुण्ठन्ति क्रव्यादाः सर्वदेहिनाम् ॥२७६॥

जिनका वस्त्र और अंगरागादिसे वारम्बार लालन किया था, हे प्रिय! देखो, उन समस्त देहधारियोंके अंगोंको मांसाहारी जीव घसीट रहे हैं।

आपातरमणीयत्वं केवलं कल्प्यते स्त्रियः।
मुने तदपि नास्त्यत्र मम मोहैककारणम् ॥२७७॥

[श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—] स्त्रियोंकी केवल आपातरमणीयता कल्पना कर ली जाती है, किन्तु हे मुने! मुझे तो मोहकी एकमात्र कारणरूप वह भी प्रतीत नहीं होती।

सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयानया।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥२७८॥

सम्पूर्ण दोषरूप रत्नोंकी एकमात्र पिटारी और दुःखोंकी शृङ्खलारूप इस स्त्रीसे तो सदाके ही लिये मेरा कोई प्रयोजन न हो।
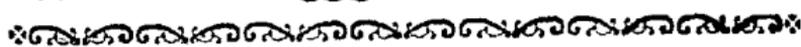
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ।२७९।

जिसके स्त्री होती है उसीको भोगोंकी इच्छा होती है; स्त्रीहीनोंके लिये तो भोगका स्थान ही कहाँ है? जिसने स्त्रीको त्याग दिया उसने सारा संसार त्याग दिया; अतः संसारको त्यागकर मनुष्य सुखी हो जाय।

संग्रहकर्तृवचनम्

सर्वैरेवाप्तवाक्यैः प्रागेवमेवात्र निश्चितम् ।
प्रायेण देवमुख्यानां भवार्णवनिमज्जने ॥२८०॥
नार्यो ह्युदकचक्राणि ततो विवेकदारुजम् ।
भवाब्धेः सन्तितीर्षुर्ना स्त्रीत्यागप्लवमाश्रयेत् ॥२८१॥

इस प्रकार सम्पूर्ण आप्तवाक्योंसे पहले यही निश्चित किया गया है कि मुख्य-मुख्य देवताओंको भी संसारसागरमें डुबानेके लिये प्रायः ये स्त्रियाँ ही जलके भँवरके समान हुई हैं। अतः इस संसारसागरसे पार होनेकी इच्छावाले पुरुषको विवेकरूप काष्ठकी बनी हुई स्त्री-त्यागरूप नौकाका ही आश्रय लेना चाहिये।

प्रायः स्त्रीसङ्गिनां दुःखं नैव तत्त्यागिनां तु तत् ।
क्वचिच्छ्रुतं गुहादीनामाबाल्याद्ब्रह्मचारिणाम् ॥२८२॥

दुःख प्रायः स्त्रीसङ्गियोंको ही होता है—उनका त्याग करनेवाले आबाल ब्रह्मचारी गुह (स्वामिकार्तिकेय) आदिको दुःख होता कभी नहीं सुना।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवं प्रायेण योषिताम् ।
सङ्गाद्भवन्ति संक्लेशाः पुंसां विकृतचेतसाम् ॥२८३॥

इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे देखा जाता है कि विकृतचित्त पुरुषोंको दुःख प्रायः स्त्रियोंके सहवाससे ही हुआ करते हैं ।

तत्सान्निध्यं ततस्त्यक्त्वा श्रेयोऽर्थी दूरतो वसेत् ।
नारीतत्सङ्गिसङ्गेन चित्तं विक्रियते यतः ॥२८४॥

अतः कल्याणकामी पुरुष उनकी सन्निधिको त्यागकर सदा दूर ही रहे, क्योंकि स्त्री और उनके सङ्गियोंका सङ्ग करनेसे चित्त विकृत हो जाता है ।

स्त्रीनिन्दा दर्शिता ह्येवं पुत्रनिन्दाथ कथ्यते ।
चितातोऽधिकचिन्ताया हेतुः पुत्रैषणा यतः ॥२८५॥

इस प्रकार यहाँतक स्त्रियोंकी निन्दा दिखलायी गयी, अब आगे पुत्रनिन्दा कही जाती है, क्योंकि पुत्रैषणा चितासे भी अधिक चिन्ताकी कारण है ।

पुत्र-निन्दा

यावद्यस्य न जायेत सुतस्तावद्दहत्यसुम् ।
जन्मोत्तरं तथा तातं स्वरक्षार्थं हि चिन्तया ॥२८६॥

जिस पुरुषके जबतक पुत्र नहीं होता तबतक उसका अभाव उसे जलाता ही रहता है । तथा जन्म हो जानेपर वह अपने पालन-पोषणके लिये पिताको चिन्तातुर रखता है ।
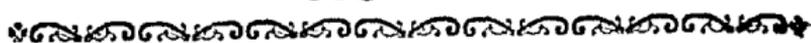
अपुत्रः पुत्रिणो दृष्ट्वा चेत्थं दन्दह्यतेऽनिशम् ।
कृतपुण्या इमे धन्याः पाप्यस्म्यहमपुत्रकः ॥२८७॥
स्यादुपायेन येनैव सुतो मेऽपीह तं त्वहम् ।
करिष्याम्यद्य यत्नेनैवं चिन्तयति नित्यशः ॥२८८॥

पुत्रहीन पुरुष अन्य पुत्रवानोंको देखकर रात-दिन इस प्रकार कुढ़ा करता है कि 'अहो ! ये बड़े पुण्यवान् और धन्य हैं तथा मैं निपूता बड़ा पापी हूँ । अब जिस उपायसे मेरे भी पुत्र हो वही मैं यत्नपूर्वक करूँगा'—इस प्रकार वह सदा ही सोचा करता है ।

सुतेच्छया सदा स्तौति विष्ण्वादीन्मोक्षदानपि ।
याचते च सुतं तेभ्यो मूर्खस्तक्रं नृपाद्यथा ॥२८९॥

वह पुत्रेच्छासे ही विष्णु आदिकी—जो मोक्ष देनेमें भी समर्थ हैं—स्तुति किया करता है । वह मूर्ख, राजासे मट्ठा माँगनेके समान, उनसे पुत्र माँगा करता है ।

तत्प्रसादात्सुतो जातो यदि स्वारब्धसंक्षयात् ।
नष्टो बालस्तदा मोहात्तेषु श्रद्धां त्यजत्ययम् ॥२९०॥

उनकी कृपासे उत्पन्न हुआ पुत्र यदि अपने प्रारब्धके क्षय होनेसे बाल्यावस्थामें ही नष्ट हो जाय तो वह मोहवश उनमें श्रद्धा करनी छोड़ देता है ।

सात्त्विकेषु स देवेषु श्रद्धां त्यक्त्वाथ राजसान् ।
यक्षादीन् सेवते मूढः सुतकामनयानिशम् ॥२९१॥
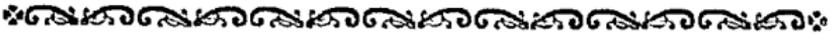
वह मूढ सात्त्विक देवताओंमें श्रद्धा छोड़कर पुत्रकी इच्छासे रात-दिन यक्ष आदि राजस देवताओंका सेवन करने लगता है ।

तेभ्योऽपि न सुताप्तिश्चेत्त्यक्त्वा तानाशु पण्डितान् ।
ज्योतिःशास्त्रस्य संवेत्तॄन् पृच्छत्येष मुमुक्षुवत् ॥२९२॥

फिर यदि उनसे भी पुत्रकी प्राप्ति नहीं होती तो वह तुरन्त ही उन्हें छोड़कर मुमुक्षुके समान ज्योतिःशास्त्रज्ञ पण्डितोंसे इस प्रकार पूछने लगता है—

येनोपायेन भो विप्राश्चिरायुर्मे सुतो भवेत् ।
तमुपायं वदध्वं मे ज्योतिःशास्त्रानुसारतः ॥२९३॥

'हे विप्रगण ! जिस उपायसे मेरे दीर्घायु पुत्र उत्पन्न हो वह ज्योतिःशास्त्रानुकूल उपाय आप मुझसे कहिये ।

चिरायुर्यत्प्रसादाद्वः सुतो मे सम्भविष्यति ।
तमहं पूजयिष्यामि धनवाक्कायमानसैः ॥२९४॥

'आपमेंसे जिनकी कृपासे मेरे दीर्घायु पुत्र होगा उनका मैं मन, वचन और धनसे सत्कार करूँगा ।'

इत्थं तद्वचनं श्रुत्वा ग्रहपूजां वदन्ति ते ।
विशेषविभवैः साध्यां तदेत्थं चिन्तयत्ययम् ॥२९५॥

उसके ऐसे वचन सुनकर वे बहुतसे धन आदिसे सम्पन्न होने योग्य कोई ग्रहपूजा बतलाते हैं । तब वह इस प्रकार सोचने लगता है—

इमे तु लोभिनो विप्रा मद्धनं संजिहीर्षवः ।
यतो बहुधनैः साध्यां छलात् पूजां वदन्ति मे ॥२९६॥

'ये ब्राह्मण तो बड़े लोभी और मेरे धनको छीननेकी इच्छावाले हैं, क्योंकि ये मुझे छलपूर्वक अधिक धनसे सम्पन्न होनेयोग्य पूजा बतलाते हैं ।'

इति सञ्चिन्त्य तांस्त्यक्त्वा धनव्ययभयादयम् ।
सेवतेऽन्नादिदानेन भिक्षून्पुत्राशयानिशम् ॥२९७॥

इस प्रकार सोचकर वह धनके खर्च हो जानेके भयसे उनकी बतलायी हुई ग्रहपूजाको छोड़कर पुत्रप्राप्तिकी इच्छासे अन्नादि देकर रात-दिन भिक्षुकोंकी सेवा करने लगता है ।

तेभ्योऽपि न सुताप्तिश्चेत्परित्यज्याथ तानपि ।
कुरुते च व्रतादीन् स पुत्रकामनया युतः ॥२९८॥

फिर, यदि उनसे भी पुत्रकी प्राप्ति नहीं होती तो वह उन्हें भी छोड़कर पुत्रकी ही आशासे युक्त हो व्रत आदि करने लगता है ।

तैश्चापि न सुताप्तिश्चेत्तदा क्षुद्रान्पिशाचकान् ।
वेदे श्रद्धां परित्यज्य श्मशानेष्वपि सेवते ॥२९९॥

और उनसे भी पुत्र न मिला तो वेदमें श्रद्धा छोड़कर वह श्मशानोंमें क्षुद्र पिशाचादिका पूजन करने लगता है ।

स्वद्विजत्वं स विस्मृत्य सुतोत्पत्त्यभिलाषया ।
पिशाचसेवका नीचा यद्वदन्ति करोति तत् ॥३००॥

फिर वह अपने द्विजत्वको भूलकर पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे, उससे जो कुछ उन पिशाचोंके नीच सेवक कहते हैं वही करता है।

मांसमद्यादिकं तेभ्यो ददात्येष यथेप्सितम् ।
तदाज्ञया पिशाचान्नं श्रद्धया स्वयमत्ति च ॥२०१॥

वह उनकी इच्छाके अनुसार उन्हें मांस और मद्यादि देता है, तथा उनके कहनेसे स्वयं भी श्रद्धापूर्वक उस पिशाचान्नको भक्षण करता है।

एवं बहुविधोपायैः कश्चिद्धि लभते सुतम् ।
कश्चिच्च नैवमभ्येति हीत्थं चिन्ता सुतार्थिनाम् ॥२०२॥

ऐसे अनेकों उपायोंसे भी किसीको ही पुत्र प्राप्त होता है, किसीको तो इससे भी नहीं होता। पुत्रेच्छुकोंको ऐसी ही चिन्ता रहा करती है।

संजातेऽप्यङ्गजे तेषां चिन्ता प्रत्युत वर्द्धते ।
तज्जीवनाय दहति वह्निवत्पुत्रिणो हि सा ॥२०३॥

पुत्र उत्पन्न हो भी जाय तो भी उसके जीवित रहनेके लिये उसकी चिन्ता और भी बढ़ जाती है और वह पुत्रवानोंको अग्निके समान दग्ध करती रहती है।

भैरवशीतलादींस्ते श्वादींस्तद्वाहनांस्तथा ।
अर्चन्त्यात्मजरक्षार्थं द्विजा अपि परेशवत् ॥२०४॥

फिर वे द्विजातीय होनेपर भी, अपने पुत्रकी रक्षाके लिये भैरव और शीतला आदि तथा उनके वाहन श्वान आदिकी परमेश्वरके समान पूजा करने लगते हैं।

नन्नु यौवनमापन्नाः पुत्राः स्युः सुखदायिनः ।
इति चेन्नियमो नायं व्यभिचारस्य दर्शनात् ॥३०५॥

यदि कहो कि युवावस्था प्राप्त होनेपर वे पुत्रगण उन्हें सुख देनेवाले होते हैं तो यह कोई नियम नहीं है, क्योंकि इसमें व्यभिचार (विरोध) पड़ता भी देखा जाता है ।

कंसो बद्ध्वा हि वृद्धं स्वं पितरं तूग्रसेनकम् ।
भूराज्यमकरोद्दुष्ट इति भागवते स्मृतम् ॥३०६॥

दुष्ट कंसने अपने वृद्ध पिता राजा उग्रसेनको बाँधकर ही भूमण्डलका राज्य किया था—यह कथा श्रीमद्भागवतमें कही गयी है।

दीर्घतमऋषेः पुत्रास्तं बद्ध्वा रज्जुभिर्दृढम् ।
नद्यां चिक्षिपिरे क्रूराः स्वल्पदोषस्य कारणात् ॥३०७॥
इत्येवं भारते प्रोक्तं मार्कण्डेयपुराणके ।
तथोक्तवान् स्ववृत्तान्तं समाधिर्नाम वै वणिक् ॥३०८॥

दीर्घतमा मुनिके अति क्रूर पुत्रोंने उन्हें थोड़ेसे ही अपराधके कारण रस्सियोंसे खूब कसकर नदीमें डाल दिया था। इस प्रकार यह बात महाभारत और मार्कण्डेयपुराणमें कही गयी है। तथा समाधि नामक एक वैश्यने भी अपना वृत्तान्त इस तरह कहा है।

देवीमहात्म्ये

समाधिर्नामवैश्योऽहमुत्पन्नो धनिनां कुले ।
पुत्रदारैर्निरस्तश्च धनलोभाद्दुरात्मभिः ॥३०९॥

मैं समाधि नामका वैश्य हूँ और धनवानोंके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ। मुझे धनके लोभसे मेरे दुरात्मा पुत्र और स्त्रियोंने निकाल दिया है।

विहीनः स्वजनैर्दारैः पुत्रैरादाय मे धनम् ।
वनमभ्यागतो दुःखी निरस्तश्चाप्तबन्धुभिः ॥२१०॥

इस प्रकार अपने स्वजन, स्त्री और पुत्रादिसे रहित हो, उनसे अपना धन छीन लिया जानेपर मैं अपने विश्वसनीय बन्धुजनोंसे निकाला जाकर दुःखी हो वनमें चला आया हूँ।

संग्रहकर्तृवचनम्

युवानः सूनवोऽप्येवं पित्रोः प्रायेण दुःखदाः ।
तथापि तेषु नो प्रीतिं त्यजन्ति रागिणो जनाः ॥२११॥

इस प्रकार युवक पुत्रगण भी प्रायः माता-पिताको दुःख देनेवाले ही हुआ करते हैं; तो भी रागी पुरुष उनमें प्रीति नहीं छोड़ते।

यथा पुत्रास्तथैवान्ये बान्धवा अपि दुःखदाः ।
तस्मात्प्राज्ञ उपेक्षेत सुतादीन् यूकवत्सदा ॥२१२॥

जिस प्रकार पुत्र दुःखदायी होते हैं उसी प्रकार अन्य बन्धु-बान्धव भी दुःख देनेवाले ही होते हैं। अतः प्राज्ञ पुरुष यूका (जूँ) आदि की तरह इन पुत्रादिको त्याग दे।

नन्वीशं तपसाराध्य व्यासः सुतमवाप्तवान् ।
सगरश्च तथा पुत्रान् सौमदत्तिश्च तत्पिता ॥२१३॥

शंका—व्यासजीने तपस्याद्वारा श्रीमहादेवजीकी आराधना

करके पुत्र प्राप्त किया था। इसी प्रकार अपने पुत्रोंको सगरने तथा सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवाको उसके पिताने बड़े कष्टसे पाया था।

भगवांश्चाप्तवान् कृष्णस्तपसेशप्रसादतः।
पुत्रौ प्रद्युम्नसाम्बाख्यावित्यादि भारते स्मृतम् ॥३१४॥

भगवान् कृष्णने भी तपस्याद्वारा श्रीमहादेवजीकी कृपासे ही प्रद्युम्न और साम्ब नामक दो पुत्र प्राप्त किये थे—यह प्रसङ्ग महाभारतमें प्रसिद्ध है।

पुत्रस्य पितुरात्मत्वात्स उपेक्ष्यः कथं भवेत्।
पित्रात्मा पुत्रनामेतीत्यैतरेयश्रुतिर्जगौ ॥३१५॥

पुत्र तो पिताका आत्मा ही होता है, वह उपेक्षा करनेयोग्य कैसे हो सकता है। ऐतरेय श्रुतिने यह कहा ही है कि 'पुत्र पिताका आत्मा ही होता है।'

सोऽस्यात्मायं सुपुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते।
अथास्येतर आत्मायं कृतकृत्यो जहात्यसून् ॥३१६॥

जिसे यह (पिता) महान् पुण्योंसे प्राप्त करता है वह पुत्र इसका आत्मा ही है। फिर 'यह मेरा दूसरा आत्मा है' इस प्रकार कृतकृत्य होकर वह अपने प्राण त्याग देता है।

श्रुतिश्चान्या तथैवास्ति स्मृतिश्चापि यतोऽस्त्यतः।
कार्यो धर्मः सुतोत्पत्त्यै नोपेक्षास्य कदाचन ॥३१७॥

इसी विषयमें एक और श्रुति तथा स्मृति भी है। अतः पुत्रोत्पत्तिके लिये धर्म करना ही चाहिये। उसकी उपेक्षा कभी न करनी चाहिये।
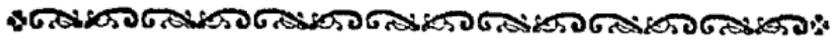
श्रुतिः

पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स्वमातरम् ।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ॥३१८॥

पति गर्भरूप होकर अपनी जननी भार्यामें प्रविष्ट होता है। उसमें वह नवीन होकर फिर दशवें महीनेमें उत्पन्न होता है।

स्मृतिः

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गे नैव च नेह च ।
येन केनाप्युपायेन कार्यं जन्म सुतस्य वै ॥३१९॥

पुत्रहीनकी न तो स्वर्गमें और न इस लोकमें ही गति होती है। अतः जैसे बने वैसे पुत्रकी उत्पत्ति करनी ही चाहिये।

संदम्भकर्तृवचनम्

मैवं त्वदुक्तगाथानां श्रुतिस्मृत्योस्तथा पुनः ।
पुत्रेष्टेरर्थवादत्वात्स्वार्थे तात्पर्यता न हि ॥३२०॥

ऐसा मत कहो; क्योंकि पुत्रेष्टिकी अर्थवादरूप होनेसे तुम्हारी कही हुई गाथा और श्रुति-स्मृतियोंका अपने अर्थमें तात्पर्य नहीं है [अर्थात् उनके शब्दोंसे जो अर्थ निकलता है वही उनका अभिप्राय नहीं है, बल्कि वे केवल पुत्रेष्टि यज्ञकी महिमाकी ही सूचक हैं]।

पितुरात्मैव पुत्रश्चेत्तदा कंसादिभिः कथम् ।
स्वदुःखायोग्रसेनाद्या बद्धा इति त्वमीरय ॥३२१॥
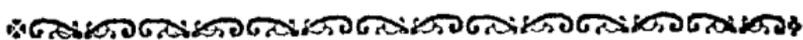
यदि पुत्र पिताका आत्मा ही है तो तुम्हीं बताओ कि कंसादिने अपनेको दुःख देनेके लिये ही उग्रसेन आदिको क्यों बाँध लिया था ।

गतिशब्देन मोक्षो वा लोकद्वयसुखं हि वा ।
नाद्यः पुत्रवतां मुक्तौ मुक्ताः स्युः श्वादयोऽखिलाः ।३२२।
शुकदेवगुहादीनां बन्धश्च त्वन्मते भवेत् ।
पुत्राभावाच्छुकादीनां श्वादीनां पुत्रसत्त्वतः ॥३२३॥

'गति' शब्दसे मोक्ष अभिप्रेत है अथवा दोनों लोकोंका सुख? इनमें पहला तो हो नहीं सकता, क्योंकि इस प्रकार तो पुत्रवानोंका मोक्ष सिद्ध होनेसे कुत्ते आदि सभी जीव मुक्त हो जायँगे। और तुम्हारे मतमें शुकदेव एवं गुह आदिका भी बन्धन सिद्ध हो जायगा, क्योंकि शुकदेव आदिके पुत्र नहीं थे और कुत्ते आदिके होते हैं।

न द्वितीयः कुपुत्रेषु व्यभिचारस्य दर्शनात् ।
धर्मेण पुत्रलाभः स्यादित्यपि नियमो न हि ॥३२४॥

इसके सिवा दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि कुपुत्र प्राप्त होनेपर इसमें विरोध आता देखा जाता है। और पुत्र धर्मसे ही प्राप्त होता हो—ऐसा भी कोई नियम नहीं है।

श्वादीनामपि दृश्यन्ते सूनवो बहवो यतः ।
तैस्तेभ्यः कः कृतो धर्म इति निर्णयतो वद ॥३२५॥

क्योंकि पुत्र तो कुत्ते आदिके भी बहुत-से देखे जाते हैं; अतः तुम्हीं निर्णय करके बताओ 'उन्होंने ऐसा क्या धर्म किया है?'

धर्मात्सत्पुत्रलाभः स्यादिति चेन्न यतः किल ।
व्यभिचारस्त्वदुक्तेस्तु भारते स्फुटमीरितः ॥३२६॥

यदि कहो कि 'धर्मसे तो सत्पुत्र ही प्राप्त होगा' सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि तुम्हारे इस कथनका विरोध महाभारतमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है ।

महाभारते

देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृध्नुभिः ।
दश मासान्परिधृता जायन्ते कुलपांसनाः ॥३२७॥

अति कृपण पुत्रेच्छुकोंने जिन्हें देवपूजन और तपस्या करके दश मासतक गर्भमें धारण किया, वे पुत्र भी कुलकलङ्क हो जाते हैं ।

प्रसक्तः पुत्रपशुषु धनधान्यसमाकुलः ।
स्नेहपाशसितो मूढो नैव मोक्षाय कल्पते ॥३२८॥

जो पुत्र और पशु आदिमें अत्यन्त आसक्त है, धनधान्य-सम्पन्न है तथा स्नेहपाशमें बँधा हुआ है वह मूढ पुरुष मोक्षका भागी नहीं हो सकता ।

स्नेहेन तिलवत्सर्वः सर्गचक्रे निपीड्यते ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसम्भवैः ॥३२९॥

स्नेह (तैल अथवा आसक्ति) के कारण तेलियोंद्वारा पेरे जाते हुए तिलोंके समान यह सारा जगत् अज्ञानजनित क्लेशोंद्वारा आक्रान्त होकर सृष्टिचक्रमें पेरा जा रहा है ।

जीवन्तमपि चैवैनं भरणे रक्षणे तथा ।
असमाप्ते परित्यज्य पश्चादपि मरिष्यति ॥३३०॥

पिता अपने जीवित पुत्रको भी छोड़कर उसका पालन-पोषण समाप्त होनेसे पूर्व अथवा पश्चात् मर ही जायगा ।

एवं विजानँल्लोकेऽस्मिन् कः कस्येत्यभिनिश्चितः ।
मोक्षे निवेशय मन इति राज्ञे द्विजोऽब्रवीत् ॥३३१॥

अतः ऐसा जानकर कि 'इस लोकमें कौन किसका है ?' तू दृढ़सङ्कल्प होकर अपना चित्त मोक्षमें लगा'—ऐसा एक द्विजने राजासे कहा है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

पुत्रा यस्माद्धि सर्वेषां जायन्ते स्वशुभाशुभैः ।
पित्रोर्धर्मं विना तस्मादुपेक्ष्यास्ते मुमुक्षुभिः ॥३३२॥

क्योंकि सभीके पुत्र माता-पिताके धर्मके बिना ही अपने-अपने शुभाशुभ कर्मोंसे ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये मोक्षाभिलाषी पुरुषोंको उनकी उपेक्षा करनी चाहिये ।

तस्मान्नृदेहमासाद्य स्वमोक्षस्याभिवाञ्छया ।
यूका इव सुतास्त्याज्याः शृङ्खलावच्च बान्धवाः ॥३३३॥

अतः यह नरदेह पाकर अपने मोक्षकी कामनासे पुत्रादिको जूँ आदिके समान और बन्धुजनोंको जंजीरके समान त्याग देना चाहिये ।

सुतबान्धवनिन्दैवं प्रागत्र समुदीरिता ।
श्रौतक्रमानुसारेण वित्तनिन्दाथ वक्ष्यते ॥३३४॥

इस प्रकार यहाँ पहले श्रुतिके अनुसार पुत्र और बन्धुजनकी निन्दा की गयी; अब आगे धनकी निन्दा करते हैं ।

धन-निन्दा

ननु मोक्षो धनेन स्याच्छ्रीमतां किन्तु दुर्लभम् ।
इत्यादेर्लौकिकाद्वादात्किमर्थं त्यागमाश्रयेत् ॥३३५॥

शङ्का—'धनवानोंको दुर्लभ ही क्या है ?' इस लोकोक्तिके अनुसार धनसे तो मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है; फिर त्यागवृत्तिका आश्रय क्यों लिया जाय ?

मैवं मोक्षस्य सिद्धत्वान्न केनाप्यस्ति साध्यता ।
मोहावृतोऽद्वयानन्दः कैश्चित्त्यागेन लभ्यते ॥३३६॥

समाधान—ऐसा मत कहो, क्योंकि स्वतःसिद्ध होनेके कारण मोक्ष किसी उपायसे साध्य नहीं है । अद्वयानन्द मोहसे आच्छादित है; वह किन्हीं-किन्हींको त्यागसे ही प्राप्त हो सकता है ।

ननु ज्ञानस्य वित्तेन मानजत्वान्न साध्यता ।
मुक्तेस्तु धनसाध्यत्वं स्यात्सुखत्वेन हेतुना ॥३३७॥
मैवमारण्यके श्रुत्या मैत्रेयीब्राह्मणे यतः ।
मोक्षस्य वित्तसाध्यत्वं साक्षादेव निराकृतम् ॥३३८॥
अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेनेत्याद्यया तथा ।
न धनेनामृतत्वमानशुरिति जगौ श्रुतिः ॥३३९॥

यदि कहो कि ज्ञान तो प्रमाणजन्य होनेके कारण धनसे साध्य नहीं है किन्तु मुक्ति सुखस्वरूप होनेके कारण धनसाध्य है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि बृहदारण्यक श्रुतिके

मैत्रेयीब्राह्मणमें 'धनसे अमृतत्वकी आशा नहीं है' इत्यादि श्रुतिसे मोक्ष-की वित्तसाध्यताका स्पष्ट निराकरण किया है। तथा श्रुतिने ही 'धनसे अमृतत्व नहीं प्राप्त किया' ऐसा भी कहा है।

यत्तूक्तं श्रीमतां किन्नु दुर्लभं स्यान्मृषैव तत् ।
क्षुद्राण्यपि सुतादीनि यतो नैति धनेन ना ॥३४०॥

और यह जो कहा कि 'धनवानोंको क्या दुर्लभ है ?' सो ठीक नहीं, क्योंकि धनसे तो मनुष्यको पुत्रादि क्षुद्र पदार्थ भी प्राप्त नहीं होते।

सृञ्जयश्चित्रकेतुश्च राजानौ चक्रवर्त्तिनौ ।
पुत्रं धनेन नाप्तौ तं प्राप्तौ नारदवाक्यतः ॥३४१॥

देखो, सृञ्जय और चित्रकेतु चक्रवर्ती राजा होकर भी धनसे पुत्र प्राप्त नहीं कर सके। उन्होंने नारदजीके वचनसे ही पुत्र प्राप्त किये थे।

धनेन गाधिपुत्रश्च ब्राह्मण्यं नैव लब्धवान् ।
महता तपसा तेन तच्चवाप्तमिति श्रुतम् ॥३४२॥

विश्वामित्रजीको भी धनके बलसे ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं हुआ, उन्होंने घोर तपस्यासे ही उसे प्राप्त किया था—ऐसा हमने सुना है।

परीक्षितस्तथा राजा नष्टायुर्ऋषिशापतः ।
धनेन लब्धवान्नायुरित्येवं भारते श्रुतम् ॥३४३॥

जब ऋषिके शापसे राजा परीक्षितकी आयु क्षीण हो गयी तो उन्हें धनसे उसकी प्राप्ति नहीं हो सकी—यह बात महाभारत-में सुनी जाती है।

आरोग्यं चापि कश्चिन्ना न प्राप्नोति धनेन वै ।
विचित्रवीर्य आसीद्धि रोगार्त्तः शान्तनोः सुतः ॥३४४॥

धनके द्वारा तो कोई पुरुष आरोग्य भी प्राप्त नहीं कर सकता। देखो, राजा शान्तनुका पुत्र विचित्रवीर्य रोगसे पीड़ित ही था।

नाप्नोति काञ्जिकां येन लभ्यं तेनामृतं कथम् ।
प्रयत्नेनेति दृष्टान्तोऽप्यत्र बोध्यः कुवादिभिः ॥३४५॥

यहाँ बकवादियोंको यह दृष्टान्त भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि जिस प्रयत्नसे काँजी भी नहीं मिलती उससे अमृत कैसे मिल सकता है ?

दृश्यन्ते धनिनो लोके पुत्राभावादिपीडिताः ।
भारतादौ स्मृता दोषा धनस्य धनिनामपि ॥३४६॥

लोकमें धनी लोग पुत्राभाव आदि दुःखोंसे पीड़ित देखे ही जाते हैं। धन और धनवानोंके दोष महाभारत आदिमें भी कहे ही हैं।

महाभारते

ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी ।
लब्धनाशो यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा ॥३४७॥

धनके लिये जो चेष्टा होती है वह सुखरूप नहीं होती। इसे पाकर बड़ी चिन्ता बढ़ जाती है। मिले हुए धनका नाश तो मानो मृत्यु ही है और धन प्राप्त होगा या नहीं [—यह भी निश्चित नहीं है]।

धननाशे महद्दुःखं मन्ये सर्वमहत्तरम् ।
ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते मित्राणि च धनाच्च्युतम् ।
धने सुखकला या तु सापि दुःखाय केवलम् ॥३४८॥

प्रथम तो मैं धनके नाशमें ही महान् दुःख समझता हूँ । और सबसे बड़ा दुःख यह है कि धनसे हीन हो जानेपर पुरुषका जाति-बन्धु और मित्रगण भी अपमान करने लगते हैं । धनमें जो सुखका अंशमात्र प्रतीत होता है वह भी केवल दुःखहीका कारण है ।

धनवान् क्रोधलोभाभ्यामाविष्टो नष्टचेतनः ।
तिर्यगीक्षः शुष्कमुखः पापको भ्रुकुटीमुखः ॥३४९॥

क्योंकि धनवान् पुरुष क्रोध और लोभमें भरकर ज्ञानशून्य हो जाता है । उसकी दृष्टि टेढ़ी रहती है, मुख सूखा रहता है और भ्रुकुटि ही मुखका काम देती है [अर्थात् जो मुँहसे कहना है उसका वह भौंहोंसे ही सङ्केत करता है] ।

निर्दशन्नधरोष्ठञ्च क्रुद्धो दारुणभाषिता ।
कस्तमिच्छेत्परिद्रष्टुं दातुमिच्छति चेन्महीम् ॥३५०॥

वह क्रोधमें भरकर अपने ओंठ और अधरोंको चबाता हुआ बड़ा कठोर भाषण किया करता है । वह यदि सम्पूर्ण पृथिवी भी देना चाहे तो भी उसकी ओर भला कौन देखना चाहेगा ?

योगवासिष्ठे

न तादृशं जगत्यस्मिन् दुःखं नरककोटिषु ।
यादृशं यावदायुष्कमर्थोपार्जनशासनम् ॥३५१॥

इस संसारमें सारी आयु धन कमाते रहनेका शासन (दबाव) जैसा कष्ट है वैसा करोड़ों नरकोंमें भी नहीं है।

श्रीमद्भागवते

अर्थस्य साधने सिद्ध उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥३५२॥

मनुष्योंको धनके उपार्जन करने, उपार्जित हो जानेपर उसके बढ़ाने, रक्षा करने एवं खर्च करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें तरह-तरहके श्रम, भय, चिन्ता और भ्रम होते हैं।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्द्धा व्यसनानि च ॥३५३॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥३५४॥

चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, अभिमान, मद, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा और [स्त्री, द्यूत एवं मादक द्रव्य-सम्बन्धी] व्यसन—ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्योंको अर्थके ही कारण प्राप्त होते माने गये हैं। अतः कल्याणकामी पुरुषको अर्थरूप अनर्थका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये।

संग्रहकर्तृवचनम्

धनिनो रोगिणः प्रायो दृश्यन्ते क्षुद्विवर्जिताः।
राजचोरादिभीताश्चैवान्योन्यं वैरिणो भृशम् ॥३५५॥

देखा जाता है कि धनी लोग प्रायः रोगी रहते हैं, उन्हें भूख ही नहीं लगती, वे राजा और चोर आदिसे भयभीत रहते हैं और एक-दूसरेके कट्टर वैरी हो जाते हैं।

तस्माद्वित्तैषणा त्याज्या सदा पुत्रैषणेव सा ।
मोक्षाख्यसुखलाभाय मुमुक्षुभिः प्रयत्नतः ॥३५६॥

अतः मुमुक्षुओंको मोक्षरूप आनन्द प्राप्त करनेके लिये पुत्रैषणाके समान ही प्रयत्नपूर्वक वित्तैषणाका भी सर्वदा त्याग करना चाहिये।

विशां ननु धनाढ्यानां राजचौरादितोऽस्तु भीः ।
राज्ञां नास्ति ततो भीतिर्यतस्ते बलिनः स्वयम् ॥३५७॥
तस्माद्राज्याद्विरागस्तु न कर्त्तव्यः सुखेप्सुना ।
इति चेन्न यतो राज्ञां भारते दुःखमीरितम् ॥३५८॥

यदि कहो कि धनाढ्य वैश्योंको भले ही राजा और चोर आदिका भय रहे, तथापि राजाओंको तो उनसे किसी प्रकारका खटका नहीं होता, क्योंकि वे तो स्वयं ही बड़े बलवान् होते हैं; अतः सुखेच्छु पुरुषको राज्यसे तो वैराग्य करना उचित है ही नहीं—तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि महाभारतमें राजाओंके दुःखका भी वर्णन किया है।

महाभारते

परतन्त्रः सदा राजा स्वल्पेष्वपि प्रसज्जते ।
सन्धिविग्रहयोगे च कुतो राज्ञः स्वतन्त्रता ॥३५९॥

राजा तो सर्वदा परतन्त्र है; वह स्वल्प सुखमें ही आसक्त हो जाता है। राजाको सन्धि और विग्रह आदिके समय भला कब स्वतन्त्रता रह सकती है।

स्वप्नकामो न लभते स्वप्तुं कार्यार्थिभिर्जनैः।
शयने चाप्यनुज्ञातः सुप्त उत्थाप्यतेऽवशः॥३६०॥

जब उसे सोनेकी इच्छा होती है तब अन्य कार्यार्थी पुरुषोंके कारण उसे उसका भी अवसर नहीं मिलता। और यदि सोनेकी आज्ञा मिल भी गयी तो विवश होकर सोनेसे उठा लिया जाता है।

स्नाह्यालभ पिब प्राश जुहुध्यग्नीन् यजेत्यपि।
ब्रवीहि शृणु चापीति विवशः कार्यते परैः॥३६१॥

'स्नान कीजिये, ग्रहण कीजिये, पीजिये, खाइये, अग्निमें हवन कीजिये, यज्ञ कीजिये, कहिये, सुनिये'—इस प्रकार अन्य पुरुषोंद्वारा वह परवश काममें जोड़ दिया जाता है।

अभिगम्याभिगम्यैव याचन्ते सततं नराः।
न चाप्युत्सहते दातुं वित्तरक्षी महाजनान्॥३६२॥

लोग इसके पास निरन्तर आ-आकर माँगते हैं; किन्तु धनकी रक्षा करता हुआ यह महापुरुषोंको भी कुछ देनेका साहस नहीं करता।

दाने कोशक्षयोऽप्यस्य वैरं चास्याप्रयच्छतः।
क्षणेनास्योपवर्तन्ते दोषा वैराग्यकारकाः॥३६३॥

दान देनेसे तो इसका कोश क्षीण होता है और न देनेसे

वैर बढ़ता है। अतः एक क्षणमें ही इसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाले धनके दोष प्राप्त हो जाते हैं।

प्राज्ञाञ्छूरांस्तथैवाढ्यानेकस्थानेऽपि शङ्कते।
भयमप्यभये राज्ञो यैश्च नित्यमुपास्यते॥३६४॥

इसे एक स्थानपर एकत्रित हुए बुद्धिमान्, शूरवीर अथवा धनाढ्य पुरुषोंके विषयमें भी सन्देह होने लगता है। इस प्रकार जिनसे किसी तरहका भय न होना चाहिये और जो सदा ही सेवा किया करते हैं उनसे भी राजाको भय रहता है।

हतो देशः पुरं दग्धं प्रधानः कुञ्जरो मृतः।
लोकसाधारणेष्वेषु मिथ्याज्ञानेन तप्यते॥३६५॥

'देश नष्ट हो गया, नगरमें आग लग गयी, मुख्य गजराज मर गया' इस प्रकार इन लोकसाधारण बातोंमें वह मिथ्या ज्ञानके कारण सन्तप्त हुआ करता है।

असुक्तो मानसैर्दुःखैरिच्छाद्वेषभयोद्भवैः।
शिरोरोगादिभी रोगैस्तथैवाभिनियन्तृभिः॥३६६॥
द्वन्द्वैस्तैस्तैरुपहतः सर्वतः परिशङ्कितः।
बहुप्रत्यर्थिकं राज्यमुपास्ते गणयन्निशाः॥३६७॥

इस प्रकार इच्छा, द्वेष और भय आदिसे होनेवाले मानसिक दुःखों, शिरोरोगादि रोगों तथा कर्मचारियोंसे छुटकारा न पाकर वह भिन्न-भिन्न द्वन्द्वोंसे पीडित और सब ओरसे

शङ्कितचित्त रहकर अनेकों प्रतिपक्षियोंसे पूर्ण राज्यको रात्रियाँ गिन-गिनकर भोगता है ।

तदल्पसुखमत्यर्थं बहुदुःखमसारवत् ।
तृणाग्निज्वलनप्रख्यं फेनबुद्बुदसन्निभम् ।
को राज्यमभिपद्येत प्राप्य चोपशमं लभेत् ॥३६८॥

अतः अत्यन्त अल्प सुखवाले, नाना प्रकारके दुःखोंसे पूर्ण, तृणाग्निकी ज्वालाके समान तथा फेन और बुलबुलेके सदृश इस सारहीन राज्यको कौन लेना चाहेगा ? और लेकर भी कौन सुख प्राप्त कर सकेगा ?

साहमेतानि कर्माणि राजदुःखानि मैथिल ।
समर्था शतशो वक्तुमथवापि सहस्रशः ॥३६९॥

[सुलभा कहती है-] हे जनक ! इन कर्मों तथा राजाओंके दुःखोंको मैं सैकड़ों अथवा सहस्रों प्रकारोंसे वर्णन कर सकती हूँ ।

ततोऽब्रवीत्कुण्डधारो दिव्यं ते चक्षुरुत्तमम् ।
पश्य राज्ञां गतिं विप्र लोकांश्चैव तु चक्षुषा ॥३७०॥

तब [ब्राह्मणको दिव्य चक्षु देकर] कुण्डधारने कहा—हे द्विज ! तुम्हारे अत्युत्तम दिव्य नेत्र हैं; तुम अपने नेत्रोंसे राजाओंकी गति और अन्य लोकोंका अवलोकन करो ।

ततो राजसहस्राणि मग्नानि निरये तदा ।
दूरादपश्यद्विप्रः स दिव्ययुक्तेन चक्षुषा ॥३७१॥

तदनन्तर उन विप्रवरने दिव्य दृष्टिसे दूरहीसे हजारों राजाओंको नरकमें डूबे हुए देखा ।

संग्रहकर्तृवचनम्

इत्थं वित्तस्य दुष्टत्वं विज्ञाय भारतादितः ।
सन्त्यजेदैहिकं भोग्यं तद्वच्च पारलौकिकम् ॥३७२॥

इस प्रकार महाभारत आदिसे धनको सदोष जानकर ऐहिक और उसी प्रकार पारलौकिक भोगोंका भी त्याग कर देना चाहिये ।

पारलौकिक सुखकी हेयता

नन्वैहिकस्य भोग्यस्य दुष्टत्वादस्तु हेयता ।
अदुष्टत्वान्न हेयत्वं स्वर्गभोग्यस्य सम्भवेत् ॥३७३॥

शङ्का—लौकिक भोग दोषयुक्त हैं, इसलिये उनका त्याज्य होना तो ठीक है; किन्तु स्वर्गमें प्राप्त होनेवाले भोग तो दोषहीन होनेके कारण किसी प्रकार हेय नहीं हो सकते ।

अपाम सोममक्षय्यमित्याद्याः श्रुतयो जगुः ।
स्वर्गभोग्यस्य नित्यत्वं तथा दिव्यसुखात्मताम् ॥३७४॥

'हमने अक्षयत्व प्राप्त करानेवाला सोमपान किया' इत्यादि श्रुतियोंने स्वर्गीय भोगोंकी नित्यता तथा दिव्यसुखात्मकताका [व]र्णन किया है ।

श्रुतिः

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥३७५॥

[नचिकेता कहता है—] स्वर्गलोकमें किसी प्रकारका भय नहीं है। वहाँ तुम (यमराज) नहीं रहते और न वहाँ मनुष्य वृद्धावस्थासे ही डरता है। वह स्वर्गलोकमें भूख और प्यास दोनोंहीको जीतकर शोकसे पार हो आनन्दित होता है।

संग्रहकर्तृवचनम्

तन्न स्वर्गसुखं यस्मादनित्यमैहिकं यथा।
राजसत्वाच्छ्रुतिश्चात्र प्राक्तद्यथेत्युदाहृता ॥३७६॥

ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि स्वर्गसुख भी राजस होनेके कारण लौकिक सुखके समान अनित्य ही है। इस सम्बन्धमें 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवात्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते इत्यादि श्रुति पहले कह ही चुके हैं।

तत्सुखेऽतिशयश्चापि दर्शितस्तैत्तिरीयके।
सैपेत्यादिकया श्रुत्यातोऽपि स्वर्गसुखं क्षयि ॥३७७॥

तैत्तिरीय उपनिषद्में 'सैषानन्दस्य मीमाꣳसा भवति' (तै० उ० २।८) आदि श्रुतिसे स्वर्गसुखकी सातिशयता (न्यूनाधिकता) भी दिखायी ही है। इसलिये भी स्वर्गसुख नाशवान् ही है।

भीतिश्चापि विराजो वै सकाशात्स्वपितुः श्रुता।
खादनादिनिमित्तेन तमित्यादेर्हि वाक्यतः ॥३७८॥

'तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्' (बृ० उ० १।२।४) इत्यादि श्रुतिवाक्यसे, विराट्को भी खा जाने आदिके कारण अपने पितासे भय प्राप्त होता सुना गया है।

स्वपितुस्तु भयन्नास्ति शूकरादेरपि क्वचित् ।
ऋते रोपणजातेः सा यादृश्यासीत्प्रजापतेः ॥३७९॥

सर्पादि क्रोधी जीवोंको छोड़कर अपने पितासे तो शूकरादिको भी कभी भय नहीं होता, जैसा कि यहाँ प्रजापतिको हुआ था ।

तथेन्द्रार्कादिदेवानां जगदीशाद्भयं श्रुतम् ।
तैत्तिरीयकमन्त्रेण भीतानां स्यात्सुखं कुतः ॥३८०॥

तथा तैत्तिरीय श्रुतिके [निम्नलिखित] मन्त्रसे तो इन्द्र और सूर्य आदि देवताओंको भी जगदीश्वरसे भय प्राप्त होता सुना गया है; और डरे हुओंको भला सुख ही कहाँ हो सकता है ?

मन्त्रः

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥३८१॥

इसके भयसे वायु चलता है, इसके भयसे ही सूर्य उदित होता है, तथा इसके भयसे ही अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

इन्द्रवातादयो ह्येवं भयाविष्टा यदा तदा ।
पित्रादीनां तु भीतत्वं किमुतन्यायढौकितम् ॥३८२॥

इस प्रकार जब कि इन्द्र और वायु आदि देवगण भी भययुक्त हैं तो पितृगण आदिका भयभीत होना तो कैमुतिक न्यायसे सिद्ध हो जाता है । [अर्थात् उन्हें भय होता है—इसमें तो कहना ही क्या है ?]

प्रजापत्यादिदेवानां सम्भीतत्वादिहेतुभिः ।
दुःखित्वं दिवि निश्चित्य नेच्छेत्स्वर्गसुखं सुधीः ॥३८३॥

अतः प्रजापति आदि देवताओंके भयभीत रहने आदि हेतुओंसे स्वर्गमें दुःखका निश्चय कर बुद्धिमान् पुरुष स्वर्गसुखकी इच्छा न करे।

अपामेत्यादि यद्वाक्यं तच्चिरस्थितिबोधकम् ।
आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वमिति स्मृतेः ॥३८४॥

महाप्रलयपर्यन्त स्थिर रहना ही अमरत्व है, इस स्मृति-वाक्यके अनुसार 'अपाम सोमम्' आदि जो वाक्य है वह दीर्घकालीन स्थितिका ही बोध करानेवाला है।

स्वर्ग इत्यादि यद्वाक्यं तद्भवेद्गुणवादकम् ।
स्वर्गसाधनलाभार्थं नचिकेता यतोऽब्रवीत् ॥३८५॥

'स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति' (क० उ० १ । १ । ११) इत्यादि जो वाक्य है वह उसके गुणोंका ही वर्णन करनेवाला है, क्योंकि नचिकेताने उसे स्वर्गप्राप्तिका साधन (नाचिकेत अग्नि) प्राप्त करनेके लिये ही कहा है।

'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन' ।
'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' ।
इत्यादिवचनैरीशोऽप्यब्रवीत्स्वःक्षयिष्णुताम् ॥३८६॥

'हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोक पुनरागमन करानेवाले हैं' 'वे (स्वर्गवासी लोग) उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर अपना पुण्य क्षीण होनेपर फिर मर्त्यलोकमें ही प्रवेश करते हैं' इत्यादि वचनोंसे भगवान्‌ने भी स्वर्गकी क्षयशीलताका ही वर्णन किया है।
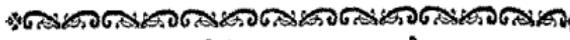
दिव्यत्वं स्वर्गसौख्यस्य यदुक्तं पूर्वपक्षिणा ।
किं स्यात्तत्तस्य दिव्यत्वं वक्तव्यमिति तेन वै ॥३८७॥

पूर्वपक्षीने जो स्वर्गसुखकी दिव्यता बतलायी है, उसकी वह दिव्यता क्या है ? यह भी उसे बतलाना चाहिये ।

किं देवैरेव भोग्यत्वं सात्त्विकत्वमथापि वा ।
उत्कर्षोऽन्यसुखाद्वा स्याद्दिवि जन्यत्वमेव वा ॥३८८॥

वह दिव्यता क्या देवताओंद्वारा भोगा जाना है या सात्त्विकता है ? अथवा अन्य सुखोंसे उत्कर्षता किंवा स्वर्गलोकमें होना है ?

नाद्यो दैत्या यतो देवान् जित्वा स्वर्गसुखं गताः ।
हिरण्याक्षादयः शूरा इति पौराणिका जगुः ॥३८९॥

इनमें प्रथम पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि हिरण्याक्ष आदि शूरवीर दैत्योंने देवताओंको जीतकर स्वर्गसुख प्राप्त कर लिया था— ऐसा पौराणिकोंने कहा है ।

राक्षसा रावणाद्याश्च स्वर्गसौख्यमवाप्नुवन् ।
मनुष्या नहुषाद्याश्च भुञ्जते स्म दिवः सुखम् ॥३९०॥

रावण आदि राक्षसोंने भी स्वर्गसुख प्राप्त किया था तथा नहुष आदि मनुष्योंने भी स्वर्गीय सुखका भोग किया है ।

न द्वितीयो यतस्तस्य राजसत्वमुदीरितम् ।
गीतासु श्रीभगवता स्वार्थसंयोगजत्वतः ॥३९१॥

दूसरा पक्ष [अर्थात् सात्त्विकता ही दिव्यता है— यह] भी

नहीं हो सकता; क्योंकि भगवान्‌ने अपनी गीतामें इन्द्रिय और विषयके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण उस (स्वर्गसुख) को राजस बतलाया है ।

श्रीमद्भगवद्गीतासु

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥२९२॥

विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला जो सुख पहले अमृतके समान प्रतीत हो, किन्तु परिणाममें विषके समान हो वह राजस कहा गया है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

न तृतीयो यतो नैवाप्युत्कर्षोऽस्मत्सुखादणुः ।
स्वर्गसौख्यस्य निस्तृष्णैर्विचारेणोपलभ्यते ॥२९३॥

तीसरा पक्ष [यानी अन्य सुखोंसे उत्कृष्टता] भी नहीं हो सकता, क्योंकि तृष्णाहीन पुरुष विचारद्वारा स्वर्गसुखकी हमारे सुखसे अणुमात्र भी उत्कृष्टता नहीं देखते ।

तैत्तिरीये तु यत्प्रोक्तं न्यूनाधिक्यं सुखस्य वै ।
तत्तु रागिदृशा सिद्धं वैराग्याय ह्यनूदितम् ॥२९४॥

तैत्तिरीय-श्रुतिमें जो सुखकी न्यूनाधिकताका वर्णन किया है वह रागी पुरुषोंकी दृष्टिसे ही सिद्ध होता है और उसका वैराग्यके लिये ही अनुवाद किया है ।

तत्त्वदृष्ट्या तु नैवास्ति विशेषो ह्यैहिकात्सुखात् ।
स्वर्गभोगसुखस्यापि स्वार्थजत्वाविशेषतः ॥३९५॥

तत्त्वदृष्टिसे तो स्वर्गीय भोगोंके सुखकी लौकिक सुखसे कुछ भी विशेषता नहीं है; क्योंकि दोनों ही समान भावसे इन्द्रियसम्बन्धी विषयोंसे प्राप्त होनेवाले हैं ।

उक्त आत्मपुराणेऽयमर्थो वैराग्यसिद्धये ।
दध्यङ्ङाथर्वणस्योक्तेर्व्याजेनैव समासतः ॥३९६॥

इस विषयका आत्मपुराणमें वैराग्यकी सिद्धिके लिये दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिकी उक्तिके मिषसे संक्षेपमें वर्णन किया है ।

आत्मपुराणे

उत्पद्यते सुखं यादृग् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
विष्ठाक्रिमेस्तादृगेव स्याद्योगादिन्द्रियार्थयोः ॥३९७॥

इन्द्रिय और उसके विषयका संयोग होनेपर जैसा सुख परमेष्ठी ब्रह्माजीको होता है वैसा ही विष्ठाके कीड़ेको भी होता है ।

विट्क्रिमेरपि सन्त्येव ह्यन्नं दाराः सुतास्तथा ।
ब्रह्मणोऽपि विशेषः स्यादनयोः केन हेतुना ॥३९८॥

विष्ठाके कीड़ेके भी अन्न, स्त्री तथा पुत्र होते हैं और ब्रह्माजीके भी होते हैं, फिर इन दोनोंमें किसीकी विशेषता किस हेतुसे हो सकती है ।

जायते म्रियते ब्रह्मा विट्क्रिमिश्च तथैव हि ।
सुखदुःखकरं तद्वत्सदेहत्वं समं द्वयोः ॥३९९॥

ब्रह्मा और विष्ठाका कीड़ा ये दोनों ही उत्पन्न होते और मरते हैं, उसी प्रकार इन दोनोंको सुख-दुःख देनेवाली सदेहता भी एक-जैसी ही है ।

किं बहूक्तेन देवेन्द्र सङ्क्षेपेणावधारय ।
समः संसार आत्मा च मम तेऽपि शुनोऽपि च ॥४००॥

हे देवेन्द्र ! बहुत क्या कहा जाय ? संक्षेपसे इतना ही समझ लो कि संसार और आत्मा तो मेरा तुम्हारा और कुत्तेका भी समान ही है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

न तुरीयो यतः स्वर्गे सन्ति दोषा भयादयः ।
सुखवत्तेऽप्यहेयाः स्युः स्वर्गजन्यत्वमात्रतः ॥४०१॥

[स्वर्गमें होना ही दिव्यताका हेतु है—ऐसा] चौथा पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि स्वर्गमें तो भय आदि दोष भी हैं, और ऐसा माननेसे स्वर्गमें होनेके ही कारण सुखके समान वे भी अत्याज्य हो जायँगे ।

तेषामहेयता नेष्टा प्राणिमात्रस्य कस्यचित् ।
एवं दिवि भवत्वं न दिव्यत्वमपि सम्भवेत् ॥४०२॥

किन्तु उनकी अत्याज्यता किसी भी प्राणिमात्रको अभीष्ट नहीं है । अतः स्वर्गमें होना भी दिव्यत्व नहीं हो सकता ।

तस्मादैहिकवद्धेयं स्वर्गभोगसुखं बुधैः ।
बहुना किमिहोक्तेन सर्वाञ्छब्दादिकांस्त्यजेत् ॥४०३॥
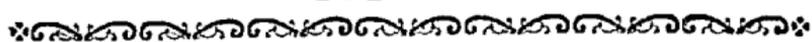
अतः बुद्धिमानोंको ऐहिक सुखके समान स्वर्गीय भोगोंका सुख भी त्याग देना चाहिये। यहाँ बहुत क्या कहा जाय, शब्दादि सभी विषयोंको त्याग दे।

न चैकान्तेन शब्दाद्याः कुत्रापि सुखदा यतः।
स्वल्पसौख्यप्रदत्वेऽपि प्रायेण दुःखदाः सदा॥४०४॥

क्योंकि शब्दादि विषय कहीं भी एकान्ततः (सदा ही) सुखदायक नहीं होते, इसलिये स्वल्प सुखदायक होनेपर भी वे सर्वदा प्रायः दुःख देनेवाले ही है।

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'।
इति श्रीकृष्णदेवोऽपि ह्यर्थानामाह दुष्टताम्॥४०५॥

'जो कुछ भी विषयजनित भोग हैं वे दुःखके उत्पादक ही हैं' इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रने भी विषयोंकी दोषयुक्तता ही बतलायी है।

विषयवासनाकृष्टं चित्तं त्वनादिकालतः।
तासां ततः प्रहाणाय विषयाणां मुहुर्मुहुः॥४०६॥
दोषाश्चिन्त्याः प्रयत्नेन तावदेव मुमुक्षुणा।
यावन्न नाशमायान्ति ह्यर्थेष्वखिलवासनाः॥४०७॥

यह चित्त अनादि कालसे विषयवासनाओंसे आकर्षित हो रहा है। अतः जबतक विषयोंकी सारी वासनाएँ नष्ट न हो जायँ तबतक मुमुक्षु पुरुषको उनका नाश करनेके लिये प्रयत्नपूर्वक बारम्बार विषयोंके दोषोंका चिन्तन करना चाहिये।

इन्द्रिय-निन्दा

भोगाधिष्ठानभोग्यानां दोषाः प्रागिह कीर्तिताः ।
भोगसाधनदोषांस्तु सङ्क्षेपात्साम्प्रतं ब्रुवे ॥४०८॥

पहलेसे आरम्भ करके यहाँतक भोगोंके आश्रय [शरीर] और भोग्य पदार्थोंके दोष बतलाये गये । अब संक्षेपसे भोगोंके साधनोंके दोष बतलाते हैं ।

इन्द्रियाणि तथा सत्त्वं भोगानां साधनानि वै ।
तेषु दोषाश्च बोद्धव्यास्तेभ्यो वैराग्यसिद्धये ॥४०९॥

इन्द्रिय तथा अन्तःकरण भोगोंके साधन हैं । उनसे वैराग्यकी प्राप्तिके लिये उन सबके दोष जानने चाहिये ।

स्वस्वविषयसंसक्तिः प्रमाथित्वं तथात्मनः ।
सदा पराङ्मुखत्वं च दोषाः श्रोत्रादिषु स्थिताः ॥४१०॥

अपने-अपने विषयोंकी आसक्ति, प्रमथनशीलता तथा आत्मासे सदा विमुख रहना—ये दोष श्रोत्र आदि इन्द्रियोंमें सर्वदा वर्तमान रहते हैं ।

वाच्यनृतादिभाषित्वं देहीदमिति याचनम् ।
चौर्याद्याश्च कराङ्घ्रयादौ दोषाः कर्मेन्द्रियेष्वपि ॥४११॥

कर्मेन्द्रियोंमें भी वाणीमें मिथ्या-भाषणादि तथा 'यह मुझे दो' इस प्रकार याचना करना और चोरी आदि दोष हाथ-पाँव आदिमें रहते हैं ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तृष्णामोहमदादयः ।
सन्त्यन्तःकरणे दोषा बहवोऽनर्थहेतवः ॥४१२॥

अन्तःकरणमें काम, क्रोध, लोभ, तृष्णा, मोह और मद आदि अनर्थके कारणरूप अनेकों दोष रहते हैं ।

दुष्टैः श्रोत्रादिभिर्नैव भोक्तुर्वै स्यात्सुखं क्वचित् ।
दुष्टैरश्वैर्यथा नैव रथिनोऽस्ति सुखं पथि ॥४१३॥

जिस प्रकार दुष्ट घोड़ोंके कारण रथीको मार्गमें सुख नहीं मिलता उसी प्रकार श्रोत्र आदि दुष्ट इन्द्रियोंके कारण भोक्ता जीवको कहीं चैन नहीं पड़ता ।

भोगसाधनदोषाश्च वासिष्ठेऽपि प्रदर्शिताः ।
तद्वाक्यसंग्रहेणात्र कथ्यन्ते तेऽधुना पुनः ॥४१४॥

भोगकी साधनरूप इन्द्रियोंके दोष योगवासिष्ठमें भी बतलाये हैं । यहाँ उसके वाक्योंका संग्रह करके हम उनका पुनः वर्णन करते हैं ।

योगवासिष्ठे

चिरमासु दुरन्तासु विषयारण्यराजिषु ।
इन्द्रियैर्विप्रलब्धोऽस्मि धूर्तैर्बालैरिवार्भकः ॥४१५॥

चिरकालतक भी जिनका पार पाना कठिन है ऐसी विषय-रूप वनावलीमें मुझे इन्द्रियोंने ठग लिया है, जैसे कि धूर्त बालक किसी छोटे बच्चेको बहका लेते हैं ।

आत्मम्भरीण्यनार्याणि साहसैकरतानि च ।
अन्धकारविहारीणि रक्षांसि स्वेन्द्रियाणि च ॥४१६॥

मेरी इन्द्रियाँ राक्षसी ही हैं; ये अपना ही भरण-पोषण करनेवाली, अनार्या, एकमात्र दुःसाहसमें ही लगी हुई तथा अन्धकार-में विहार करनेवाली हैं।

मृदूनि परितापीनि दृषद्दृढबलानि च।
छेदे भेदे च दक्षाणि सुशस्त्राणीन्द्रियाणि च ॥४१७॥

इन्द्रियाँ तीक्ष्ण शस्त्र ही हैं; ये मृदु होकर भी बड़ा दुःख देनेवाली, पत्थरके समान दृढ और बलवती तथा छेदनभेदनमें पटु होती हैं।

यानि दुःखानि दीर्घाणि विषमाणि महान्ति च।
अहङ्कारात्प्रसूतानि तान्यगात्खदिरा इव ॥४१८॥

जिस प्रकार पहाड़से खैरके वृक्ष उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार जो कुछ भी अत्यन्त विषम और महान् दुःख हैं वे अहङ्कार-से ही उत्पन्न हुए हैं।

चेतः पतति कार्येषु विहङ्गः स्वामिषेष्विव।
क्षणेन विरतिं याति बालः क्रीडनकादिव ॥४१९॥

जिस प्रकार पक्षी अपने भक्ष्यपर झपटता है उसी प्रकार यह चित्त अपने कार्योंकी ओर दौड़ता है। और जैसे बालक खिलौनेसे उदासीन हो जाता है उसी प्रकार एक क्षणमें ही उनसे निवृत्त हो जाता है।

भोगदूर्वाङ्कुराकाङ्क्षी श्वभ्रपातमचिन्तयन्।
मनोहरिणको ब्रह्मन्दूरं विपरिधावति ॥४२०॥

हे ब्रह्मन् ! यह मनरूप मृग गड्ढेमें गिरनेकी परवा न करके भोगरूप दूबके अङ्कुरोंकी अभिलापासे दूरतक दौड़ा चला जाता है।

संग्रहकर्तृवचनम्

एवमिष्टान्बहुविधान्प्रज्ञार्थानध्यवस्यति ।
इत्युक्त्या भारते दोषो बुद्धेरपि प्रदर्शितः ॥४२१॥

'इस प्रकार यह बुद्धि अपने नाना प्रकारके अभीष्ट पदार्थोंका विचार करती रहती है'—इस उक्तिसे महाभारतमें बुद्धिका दोष भी दिखलाया है।

भोक्ताओंके दोष

भोगानां साधनेष्वेवं प्राग्दोषाः समनूदिताः ।
भोक्तृदोषास्तथोच्यन्तेऽधुना केचित्समासतः ॥४२२॥

यहाँतक भोगोंके साधनोंके दोष दिखलाये; अब संक्षेपसे भोक्ताओंके भी कुछ दोष बतलाये जाते हैं।

भोक्तारस्त्रिविधा ज्ञेया उत्तमाधममध्यमाः ।
उत्तमा इन्द्रमुख्याः स्युर्दरिद्रा अधमाः स्मृताः ॥४२३॥

उत्तम, अधम और मध्यम-भेदसे भोक्ता तीन प्रकारके समझने चाहिये। इनमें इन्द्र आदि देवगण उत्तम हैं तथा दरिद्री लोग अधम हैं।

मध्यमाश्च तथा ज्ञेया राजानश्चक्रवर्त्तिनः ।
क्षयिष्णवश्च ते सर्वे ज्ञेया भोगजिहासुभिः ॥४२४॥

चक्रवर्ती राजाओंको मध्यम भोक्ता समझना चाहिये। जो लोग भोगोंको त्यागना चाहते हों वे इन सभीको क्षयशील समझें।
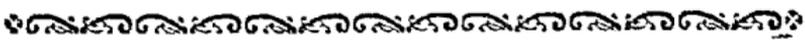
चतुर्दशसु लोकेषु यतो भोक्ता न कश्चन ।
ब्रह्मणो ह्यायुषो नाशे स्थास्यत्येकमपि क्षणम् ॥४२५॥

क्योंकि ब्रह्माकी आयु समाप्त हो जानेपर चौदहों भुवनोंमें कोई भी भोक्ता एक क्षण भी नहीं ठहर सकता ।

ब्रह्मरात्र्यागमेऽधःस्थाः स्वर्लोकादिवासिनः ।
भोक्तारः सम्प्रलीयन्त इति पौराणिका जगुः ॥४२६॥

'ब्रह्माजीकी रात्रि आनेपर [ब्रह्मलोकसे] नीचे रहनेवाले स्वर्गादि लोकोंके निवासी सभी भोक्ता लीन हो जाते हैं, ऐसा पौराणिकोंने कहा है ।

दिव्यान्भोगानपि त्यक्त्वा प्रलीयन्ते यतोऽखिलाः ।
इन्द्रादयोऽपि भोक्तारस्तस्माज्जीवंस्त्यजेद्धि तान् ॥४२७॥

उस समय क्योंकि इन्द्रादि सभी भोक्तालोग अपने दिव्य भोगोंको भी त्यागकर लीन हो जाते हैं, इसलिये इन्हें जीवितावस्थामें ही त्याग देना चाहिये ।

एवं भोगाश्रयाङ्गस्य भोगसाधनभोग्ययोः ।
भोक्तॄणां च तथा दोषा इह प्राक्समुदीरिताः ॥४२८॥

इस प्रकार पहले इस ग्रन्थमें भोगोंके आश्रयस्थान शरीर, भोग-साधन (इन्द्रिय), भोग्य पदार्थ और भोक्ताओंके दोष बतलाये गये ।

तृष्णाके दोष

तान् दोषान् सम्यगालोच्य विरक्तोऽङ्गादितो नरः ।
तृष्णादोषांस्तथा दृष्ट्वा भोग्येषु तां त्यजेत्सुधीः ॥४२९॥

अतः बुद्धिमान् पुरुष उन सब दोषोंका भली प्रकार विचार कर अपने शरीर आदिसे विरक्त हो जाय तथा तृष्णाके दोषोंको देखकर भोग्य पदार्थोंमें तृष्णा त्याग दे।

तृष्णाया विषयैः पूर्तिर्नैव कैश्चित्कृता पुरा ।
करिष्यन्ति न चान्ये तैर्भोगतृष्णां ततस्त्यजेत् ॥४३०॥

इस तृष्णाकी पूर्ति पूर्वकालमें किसीसे भी नहीं हुई और न आगे ही अन्य किसीसे होगी; अतः भोगोंकी तृष्णा त्याग देनी चाहिये।

तृष्णात्यागं विना नास्ति स्वानन्दाप्तिर्यतो नृणाम् ।
तस्मात्स्वात्मसुखप्रेप्सुस्तृष्णां शब्दादिषु त्यजेत् ॥४३१॥

क्योंकि तृष्णाका त्याग किये बिना लोगोंको आत्मानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती; अतः आत्मानन्दकी इच्छा करनेवाला पुरुष शब्दादि विषयोंमें तृष्णा छोड़ दे।

तृष्णाया बहवो दोषाः सम्प्रोक्ता भारतादिषु ।
तद्वाक्यानि लिखाम्यद्य तृष्णात्यागस्य सिद्धये ॥४३२॥

महाभारत आदिमें तृष्णाके बहुत-से दोष बतलाये हैं। इस समय तृष्णात्यागकी सिद्धिके लिये मैं उनके वाक्योंका उल्लेख करता हूँ।

महाभारते

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥४३३॥
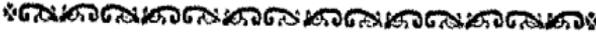
कुबुद्धि पुरुषोंके लिये जिसका त्यागना अत्यन्त कठिन है, जो मनुष्यके जरा-जर्जरित हो जानेपर भी जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणोंका अन्त कर देनेवाला महारोग है उस तृष्णाका त्याग करनेवाले पुरुषको ही सुख प्राप्त होता है।

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्॥४३४॥

पृथिवीमें जितने धान्य, जौ, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं वे एक मनुष्यके लिये भी [उसे सन्तुष्ट करनेमें] पर्याप्त नहीं हैं। अतः [इनमें] तृष्णाका त्याग करना चाहिये।

सूच्या सूत्रं यथा वस्त्रे स सारयति वायकः।
तद्वत्संसारसूत्रं हि तृष्णासूच्या निबध्यते॥४३५॥

जिस प्रकार दर्जी वस्त्रमें सूईसे धागेको चलाता है उसी प्रकार इस तृष्णारूप सूईसे संसाररूप धागा बाँध दिया जाता है।

योगवासिष्ठे

अपि मेरुसमं प्राज्ञमपि शूरमपि स्थिरम्।
तृणीकरोति तृष्णैका निमेषेण नरोत्तमम्॥४३६॥

जो नरश्रेष्ठ सुमेरुके समान स्थितप्रज्ञ, अत्यन्त शूरवीर और स्थिरचित्त है उसको भी यह तृष्णा अकेली ही एक क्षणमें तृणवत् कर देती है।

भीषयत्यपि ज्ञं धीरमन्धयत्यपि सेक्षणम्।
खेदयत्यपि सानन्दं तृष्णा कृष्णेव शर्वरी॥४३७॥

अँधियारी रात्रिके समान यह तृष्णा बुद्धिमान् विवेकी पुरुषको भी भयभीत कर देती है, आँखोंवालेको भी अन्धा बना देती है और आनन्दयुक्तको भी खिन्न कर देती है।

क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभस्तलम्।
क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ॥४३८॥

हृदयरूप कमलकी भौंरी यह तृष्णा एक क्षणमें ही पातालमें जा पहुँचती है, क्षणभरमें आकाशमें चढ़ जाती है और एक क्षणमें ही दिशा-विदिशारूप कुञ्जोंमें विचरने लगती है।

संग्रहकर्तृवचनम्

तस्माद्विषयरागोत्था तत्त्वज्ञानाभिभाविका।
तृष्णा श्रेयोऽर्थिना त्याज्या गौडी पैष्टी सुरा यथा ॥४३९॥

अतः कल्याणकामियोंको विषयरूप रोगसे उत्पन्न और तत्त्वज्ञानको आच्छादित करनेवाली इस तृष्णाको गौडी और पैष्टी मदिराके समान त्याग देना चाहिये।

वैराग्य

विरागेण विना नैव तृष्णाहेतुक्षयो यतः।
तस्माच्छुद्धविरागं ना कुर्यात्तृष्णाग्निशान्तये ॥४४०॥

परन्तु तृष्णाके कारणका वैराग्यके विना क्षय नहीं हो सकता; इसलिये मनुष्यको तृष्णारूप अग्निकी शान्तिके लिये विशुद्ध वैराग्य प्राप्त करना चाहिये।

स विरागः पुराणेषु चतुर्धा सम्प्रकीर्तितः ।
यतमानवशीकारव्यतिरेकादिभेदतः ॥४४१॥

पुराणोंमें यतमान, वशीकार और व्यतिरेक आदिके भेदसे वह वैराग्य चार प्रकारका* कहा गया है ।

तस्मान्नृदेहमासाद्य मोक्षद्वारं सुदुर्लभम् ।
विषयेषु न सज्जेत विड्गर्त्ते शूकरादिवत् ॥४४२॥

अतः मोक्षके द्वारभूत इस अति दुर्लभ मनुष्यदेहको पाकर मनुष्यको विष्ठाके गड्ढेमें रमण करनेवाले शूकरादिके समान विषयोंमें आसक्त न होना चाहिये ।

स्मरन्ति चेतिसूत्रेण नरकाप्तिरपीरिता ।
पापिनो विषयासक्तेर्गर्दभत्वं च भारते ॥४४३॥

'स्मरन्ति च' (ब्र० सू० ३ । १ । १४) इस सूत्रसे पापी पुरुषको विषयासक्तिके कारण नरक-प्राप्ति बतलायी है । तथा महाभारतमें पापी पुरुषकी विषयासक्तिका परिणाम गर्दभत्व कहा है ।

महाभारते

आत्मानमात्मस्थं न वेत्ति मूढः
संसारकूपे परिवर्तते यः ।
त्यक्त्वात्मरूपं विषयांश्च भुङ्क्ते
स वै जनो गर्दभ एव साक्षात् ॥४४४॥

जो मूढ अपने अन्तःकरणमें स्थित आत्माको नहीं जानता,

* चौथा भेद 'एकेन्द्रिय' है ।

निरन्तर संसारकूपमें ही विचरता रहता है तथा आत्मस्वरूपको भूलकर विषयोंको भोगता है वह मनुष्य साक्षात् गधा ही है।

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं शब्दादिलाभाय धीमान्नैव कदाचन।
धनादिसङ्ग्रहं कुर्याद्यदीच्छेदुत्तमं सुखम् ॥४४५॥

इस प्रकार बुद्धिमान् पुरुषको, यदि उसे उत्तम सुखकी इच्छा हो तो, शब्दादि विषयोंकी प्राप्तिके लिये धन आदिका संग्रह कभी न करना चाहिये।

शरीरस्थितिमात्रं नु नैव सिद्ध्येद्धि यैर्विना।
तानन्नादींस्तु गृह्णीयाच्छुकेनेति समीरितम् ॥४४६॥

शुकदेवजीने भी यही कहा है कि जिसके बिना मनुष्यके शरीरकी स्थितिमात्र भी न हो सके उन अन्नादिको ही ग्रहण करना चाहिये।

श्रीमद्भागवते

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥४४७॥

पृथिवीके रहते हुए बिछौनाके लिये प्रयास करनेकी क्या आवश्यकता है? अपनी भुजाओंके रहते हुए तकियोंकी क्या जरूरत है? अञ्जलीके होते हुए तरह-तरहके भोजनके पात्रों-

से क्या लेना है ? तथा दिशा एवं बल्कलादिके रहते हुए वस्त्रोंकी क्या जरूरत है ?

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन् ।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥४४८॥

क्या मार्गोंमें चिथड़े नहीं हैं ? दूसरोंका पालन करनेवाले वृक्षोंने क्या भिक्षा देना छोड़ दिया है ? क्या नदियाँ भी सूख गयी हैं ? गुहाएँ क्या रुक गयी हैं ? क्या भगवान् अपने शरणागतोंकी रक्षा नहीं करते ? फिर तत्त्वज्ञजन धनके घमण्डमें अन्धे हुए पुरुषोंका आश्रय क्यों लेते हैं ?

शमादि षट्सम्पत्ति

संग्रहकर्तृवचनम्

विरागो दर्शितश्चैवमथ षट्सम्पदुच्यते ।
तत्राप्याद्यः शमस्तावद्विरागोद्भव उच्यते ॥४४९॥

इस प्रकार वैराग्यका दिग्दर्शन कराया गया । अब षट्सम्पत्ति बतलायी जाती है । उनमें वैराग्यसे उत्पन्न होनेवाला शम सबसे पहला कहा जाता है ।

[शम]

शमश्चित्तप्रशान्तत्वं वासनात्यागसंज्ञितम् ।
शुद्धाशुद्धप्रभेदेन द्विविधा वासनेरिता ॥४५०॥

वासनात्यागरूप चित्तकी शान्तिका नाम शम है। वासना शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकारकी बतलायी गयी है।

तयोः शुद्धा ह्युपादेया दैवीसम्पत्तिरूपिणी ।
मलिना तु सदा हेया वासना हृच्छमार्थिना ॥४५१॥

उनमें दैवीसम्पत्तिरूपिणी शुद्ध वासना ही ग्रहण करने योग्य है; किन्तु मलिन वासना तो चित्त-शान्तिके इच्छुकोंको सब प्रकार त्यागने योग्य है।

सा चोक्ता त्रिविधा प्राज्ञैस्तत्राद्या लोकवासना ।
द्वितीया देहगा प्रोक्ता तृतीया शास्त्रवासना ॥४५२॥

बुद्धिमानोंने वह मलिन वासना भी तीन प्रकारकी बतलायी है। उनमें पहली लोकवासना है, दूसरी देहवासना और तीसरी शास्त्रवासना है।

परित्यागाय तासां तु विचारः साधनं परम् ।
एतत्सर्वं वसिष्ठेन तथान्यैश्च प्रदर्शितम् ॥४५३॥

उनके त्यागनेके लिये विचार ही परम साधन है। ये सब बातें वसिष्ठ तथा अन्य सभीने दिखलायी हैं।

वासनालक्षणं चापि शमशान्तस्तुतिस्तथा ।
श्रीवसिष्ठेन सम्प्रोक्ता तद्वाक्यानि लिखाम्यतः ॥४५४॥

श्रीवसिष्ठजीने वासनाका लक्षण और शम तथा शान्तिकी स्तुति भलीप्रकार की है। यहाँ मैं उन्हींके वाक्य लिखता हूँ।

योगवासिष्ठे

दृढाभ्यस्तपदार्थैकभावनादतिचञ्चलम्।
चित्तं सञ्जायते राम जरामरणकारणम् ॥४५५॥

हे राम ! जिन पदार्थोंका दृढ अभ्यास होता है एकमात्र उनकी भावनासे ही अति चञ्चल हुआ चित्त जरा-मरणका कारण हो जाता है।

तस्माद्वासनया बद्धं मुक्तं निर्वासनं मनः।
राम निर्वासनीभावमाहराशु विवेकतः ॥४५६॥

अतः यह चित्त वासनासे बँधता है और वासना न रहनेसे ही मुक्त हो जाता है। इसलिये हे राम ! तुम विवेकसे शीघ्र ही निर्वासनत्व प्राप्त करो।

सम्यगालोचनात्सत्याद्वासना परिलीयते।
वासनाविलये चेतः शममायाति दीपवत् ॥४५७॥

भली प्रकार सच्ची आलोचना करनेसे वासना लीन हो जाती है तथा वासनाके लीन हो जानेपर चित्त दीपकके समान शान्त हो जाता है।

दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम्।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥४५८॥

पूर्वापरका विचार त्यागकर जो पदार्थको दृढ भावनासे ग्रहण करना है वही वासना कहलाती है।

वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा ।
मलिना जन्महेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी ॥४५९॥

शुद्ध और मलिन-भेदसे वासना दो प्रकारकी बतलायी गयी है । उनमें मलिन वासना जन्मकी कारण है और शुद्ध जन्मका अन्त करनेवाली है ।

मानसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः ।
मैत्र्यादिवासना राम गृहाणामलवासनाः ॥४६०॥

हे राम ! पहले मानसिक विषयवासनाओंको त्यागकर तुम मैत्री आदि शुद्ध वासनाएँ ग्रहण करो ।

अस्य संसारवृक्षस्य सर्वोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः ॥४६१॥

सब प्रकारके उपद्रव देनेवाले इस संसारवृक्षके उच्छेदके लिये अपने मनका निग्रह करना ही एकमात्र उपाय है ।

हस्तं हस्तेन सम्पीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥४६२॥

सबसे पहले हाथसे हाथ मलकर, दाँतोंसे दाँत पीसकर तथा अङ्गोंसे अङ्गोंको परास्तकर अपने मनको ही जीतना चाहिये ।

इच्छामात्रं विदुश्चित्तं तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते ।
एतावन्त्येव शास्त्राणि तपांसि नियमा यमाः ॥४६३॥

'इच्छामात्रको ही चित्त माना है और इच्छाकी शान्ति ही

मोक्ष कही जाती है'। सारे शास्त्र, तप एवं यम-नियमादिका अभिप्राय केवल इतना ही है।

यस्त्विच्छातानवे यत्नं न करोति नराधमः।
सोऽन्धकूपे स्वमात्मानं दिनानुदिनमुज्झति ॥४६४॥

जो नराधम अपनी इच्छाओंको तनु (क्षीण) करनेका प्रयत्न नहीं करता वह दिनों-दिन अपने आत्माको अन्धकूपमें छोड़ता जाता है।

दुःखमुत्पादयत्युच्चैरुत्थितश्चित्तराक्षसः।
सुखायानन्तभोगाय तं प्रयत्नेन पातय ॥४६५॥

यह चित्तरूप राक्षस उत्थित होनेपर बड़ा दुःख खड़ा कर देता है। अतः सुख और अनन्त भोगोंकी प्राप्तिके लिये उसे प्रयत्नपूर्वक दबाओ।

भोगाभोगतिरस्कारैः कार्श्यं नेयं शनैर्मनः।
रसापहारैस्तज्ज्ञेन कालेनाजीर्णपर्णवत् ॥४६६॥

विज्ञ पुरुषको भोग-विस्तारका तिरस्कार करते हुए रसापहरण-द्वारा धीरे-धीरे चित्तको क्षीण करना चाहिये; जिस प्रकार काल नूतन पल्लवको उसके रसका अपहरण करते हुए सुखा देता है।

अनात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थया तथा।
पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ॥४६७॥

अनात्मामें आत्मभाव करनेसे, देहमात्रकी आस्था रखनेसे तथा पुत्र, स्त्री और कुटुम्ब आदिके कारण चित्त स्थूल हो जाता है।

स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम् ।
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥४६८॥

स्नेहसे, धनके लोभसे तथा मणि और स्त्रियोंकी आपातरमणीय प्राप्तिसे चित्त स्थूल हो जाता है।

अस्य चित्तमहाव्याधेश्चिकित्साया महौषधम् ।
स्वायत्तं शृणु वक्ष्यामि साधु स्वस्वादनिश्चितम् ॥४६९॥

सुनो, इस चित्तरूपी महाव्याधिकी चिकित्साके लिये एक स्वाधीन, उत्तम और अपने स्वादसे निश्चित महौषधि बतलाता हूँ।

शमेनासाद्यते श्रेयः शमो हि परमं पदम् ।
शमः शिवः शमः शान्तिः शमो भ्रान्तिनिवारणम्॥४७०॥

शमसे कल्याणकी प्राप्ति होती है, शम ही परमपद है, शम ही शिव है, शम ही शान्ति है तथा शम ही भ्रान्तिकी निवृत्ति है।

पुंसः प्रशमतृप्तस्य शीतलाच्छतरात्मनः ।
शमभूषितचित्तस्य शत्रुरप्येति मित्रताम् ॥४७१॥

जो पुरुष शमसे तृप्त है, जिसका अन्तरात्मा अत्यन्त स्वच्छ और शीतल है तथा चित्त शमसे अलङ्कृत है उसका शत्रु भी मित्र बन जाता है।

स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा ।
मनःप्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः ॥४७२॥

एकमात्र अपने पुरुषार्थसे ही सिद्ध होनेवाली अभीष्टत्यागरूप मनकी शान्तिके बिना उत्तम गति नहीं हो सकती।

त्यजन्नभिमतं वस्तु यस्तिष्ठति निरामयः ।
जितमेव मनस्तेन कुदन्त इव दन्तिना ॥४७३॥

जिस प्रकार कुत्तेको हाथी जीत लेता है उसी प्रकार जो पुरुष अपनी इच्छित वस्तुको त्यागकर निश्चिन्त रहता है उसीने अपने मनको जीत लिया है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

स्वेप्सितस्य तु सन्त्यागे विचारो हेतुरीरितः ।
प्राक्तनैर्भोगसंस्कारैर्विक्षिप्ताशयशान्तये ॥४७४॥

पूर्वजन्मके भोगसंस्कारोंसे विक्षिप्त हुए चित्तकी शान्तिके लिये इच्छित वस्तुओंके त्यागमें तो विचार ही हेतु बतलाया है।

ऐहिकैः स्वावमानाद्यैश्चित्तं विक्रियते यदि ।
तदेत्थं तच्छमायाप्तैर्विचारः कर्त्तुमीरितः ॥४७५॥

यदि अपने लौकिक अपमानादिसे चित्त विकृत होने लगे तो उसकी शान्तिके लिये आप्त पुरुषोंने इस प्रकार [निम्नाङ्कित रूपसे] विचार करना बतलाया है ।

ज्ञानाङ्कुशवाक्यम्

मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति
नन्वप्रयत्नजनितोऽयमनुग्रहो मे ।
श्रेयोऽर्थिनो हि पुरुषाः परतुष्टिहेतो-
र्दुःखार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति ॥४७६॥

यदि मेरी निन्दा करनेसे लोगोंको सन्तोष होता है तो यह बिना प्रयत्नके ही उनपर मेरा अनुग्रह है। कल्याणकामी पुरुष तो दूसरोंको सन्तुष्ट करनेके लिये अपना बड़े कष्टसे कमाया हुआ धन भी त्याग दिया करते हैं।

आप्तवाक्यम्

जीवन्तु मे शत्रुगणाः सदैव
येषां प्रसादात्सुविचक्षणोऽहम्।
यदा यदा मे विकृतिं भजन्ते
तदा तदा मां प्रतिबोधयन्ति ॥४७७॥

मेरे शत्रुगण सदा ही जीवित रहें, जिनके अनुग्रहसे मैं ऐसा सावधान हो गया हूँ। वे जब-जब मेरा विकार पाते हैं तभी-तभी मुझे सचेत कर देते हैं।

आत्मानं यदि निन्दन्ति स्वात्मानं स्वयमेव हि।
शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जना मम ॥४७८॥

वे यदि मेरे आत्माकी निन्दा करते हैं तो वे स्वयं अपने ही आत्माकी निन्दा करते हैं और यदि शरीरकी निन्दा करते हैं तो वे लोग मेरे सहायक हैं [क्योंकि इसकी निन्दा तो मैं भी करता हूँ]।

संग्रहकर्तृवचनम्

विचाराख्यो हि चित्तस्य शमोपायः प्रदर्शितः।
योगिवाक्यैश्च योगोऽपि हृच्छमायाधुनोच्यते ॥४७९॥

इस प्रकार चित्तकी शान्तिका विचार नामक उपाय तो दिखला

दिया। अब योगीके वाक्यानुसार चित्त-शान्तिके लिये योगका भी वर्णन किया जाता है।

हठप्रदीपिकाकृदात्मारामवाक्यम्

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिन्नुभावपि विनश्यतः॥४८०॥

वासना और वायु—ये दोनों ही चित्तके कारण हैं। इनमेंसे एकका नाश हो जानेपर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

पवनो बध्यते येन तेनैव बध्यते मनः।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते॥४८१॥

जो मनुष्य वायुको बाँध लेता है वही मनको भी बाँध सकता है तथा जो मनको बाँध देता है वह पवनको भी बाँध लेता है।

योगवासिष्ठे

प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते॥४८२॥

गुरुकी दी हुई युक्तिसे प्राणायामके दृढ अभ्यासद्वारा तथा आसन और योग्य आहारकी सहायतासे प्राणोंकी चेष्टाका निरोध हो जाता है।

शिववाक्यम्

ज्ञानं कुतो मनसि जीवति देवि यावत्
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न तावत्।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं प्रयाति
मोक्षं स गच्छति नरो न कथञ्चिदन्यः॥४८३॥
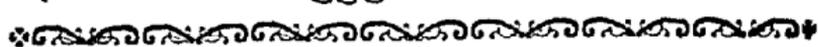
हे देवि ! जबतक मन जीवित है तबतक ज्ञानका उदय कैसे हो सकता है तथा जबतक प्राण जीवित है तबतक मन भी नहीं मर सकता। जिसके प्राण और मन ये दोनों लीन हो जाते हैं वही पुरुष मोक्षको प्राप्त हो जाता है, अन्य कोई किसी प्रकार नहीं पा सकता।

संग्रहकर्तृवचनम्

ज्ञानाधिकारिणो यस्मान्मध्यमस्य मनःशमः ।
योगाभ्यासं विना नास्ति तस्माद्योगं स साधयेत् ॥४८४॥

क्योंकि मध्यम ज्ञानाधिकारीके चित्तकी शान्ति योगाभ्यासके बिना नहीं हो सकती इसलिये उसे योगसाधना करनी चाहिये।

योगेन प्राणसंस्पन्दे क्षीणे सति शनैः शनैः ।
मनः प्रशमतामेति पञ्चवृत्तिविरोधिनीम् ॥४८५॥

योगके द्वारा प्राणस्पन्दके धीरे-धीरे शान्त हो जानेपर मन पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंकी वृत्तिकी विरोधिनी शान्तावस्थाको प्राप्त हो जाता है।

एवं मनःशमं कुर्याद्योगेन वा विचारतः ।
स्वश्रेयसेऽथ बाह्यानां खानामप्युच्यते दमः ॥४८६॥

इस प्रकार अपने कल्याणके लिये योग अथवा विचारकी सहायतासे मनका उपशम करना चाहिये। अब बाह्य इन्द्रियोंके दमनका भी वर्णन किया जाता है।

[दम]

मनःशमं विधायाथ बहिरिन्द्रियसंयमम् ।
कुर्यान्ना स्वहितावाप्त्यै हरन्ते तानि ह्यतः ॥४८७॥

मनुष्यको मनकी शान्ति करके अपने कल्याणके लिये बाह्य इन्द्रियोंका दमन करना चाहिये, क्योंकि वे चित्तको आकर्षित कर लेती हैं।

बाह्येन्द्रियदमे तस्मात्कार्यो यत्नः पृथग्बुधैः ।
तानि सर्वाणि संयम्येत्युक्तवांश्च यतो हरिः ॥४८८॥

अतः बुद्धिमानोंको अपनी बाह्य इन्द्रियोंके दमनके लिये अलग ही यत्न करना चाहिये; क्योंकि श्रीभगवान्‌ने भी 'उन सबका संयमकर [युक्त चित्तसे मेरे परायण हो जाय]' ऐसा कहा है।

शब्दादिविषयेभ्यो यो बाह्येन्द्रियविनिग्रहः ।
स दमो भारते प्रोक्तो दमस्तुत्यादिकं तथा ॥४८९॥

शब्दादि विषयोंसे जो बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह करना है उसीको महाभारतमें दम कहा है तथा वहीं दमकी स्तुति आदि भी की है।

महाभारते

दमस्तेजो वर्द्धयति पठितं च दमः परम् ।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥४९०॥

दम तेजकी वृद्धि करता है तथा दम ही परम अध्ययन है। [इसके द्वारा] मनुष्य पापरहित और तेजोयुक्त हो जानेपर उस महत्पदको प्राप्तकर लेता है।

अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते ।
अनर्थांश्च बहूनन्यान्प्रसरत्यात्मदोषजान् ॥४९१॥

दमहीन पुरुष निरन्तर क्लेश पाता है तथा वह अपने दोषसे प्रकट हुए अन्य भी बहुत-से अनर्थोंका विस्तार करता रहता है।
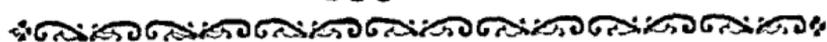
इन्द्रियाण्येव मेध्यानि विजेतव्यानि यत्नतः ।
शब्दं न विन्देच्छ्रोत्रेण त्वचा स्पर्शं न वेदयेत् ॥४९२॥
रूपं न चक्षुषा विद्याज्जिह्वया न रसांस्तथा ।
घ्रेयाण्यपि च सर्वाणि जह्याद्ध्यानेन योगवित् ॥४९३॥

अतः इन प्रबल इन्द्रियोंको प्रयत्नपूर्वक जीतना ही चाहिये। योगवेत्ता पुरुष ध्यानद्वारा श्रोत्रेन्द्रियसे शब्द ग्रहण न करे, त्वचासे स्पर्शका अनुभव न करे, चक्षुसे रूप तथा जिह्वासे रस ग्रहण न करे और घ्राणेन्द्रियके भी सम्पूर्ण विषयोंको सावधानतापूर्वक त्याग दे।

अभयं सर्वभूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ।
नमस्यः सर्वभूतानां दान्तो भवति बुद्धिमान् ॥४९४॥

जिसे सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय प्राप्त हो जाता है और जिससे सभी जीव निर्भय हो जाते हैं वह दमनशील बुद्धिमान् पुरुष सभी प्राणियोंका वन्दनीय हो जाता है।

[उपरति]

संग्रहकर्तृवचनम्

दमं समभिधायाथोपरतिस्त्वधुनोच्यते ।
शान्तस्य चेतसो नित्यं शब्दादेः प्रागुदीरितात् ॥४९५॥

दमका उल्लेख करके अब पहले कहे हुए शब्दादि विषयोंसे शान्त हुए चित्तकी उपरतिका वर्णन किया जाता है।

दान्तानामिन्द्रियाणां च बाह्यानामपि सर्वथा ।
यच्चोपरमणं प्रोक्ताचार्यैरुपरतिस्तु सा ॥४९६॥

आचार्योंने दमन किये हुए बाह्य इन्द्रियोंका जो विषयोंसे सर्वथा निवृत्त हो जाना है उसीको उपरति कहा है।

तथाखिलैषणान्यासः परमोपरतिः स्मृता ।
स चाग्रे विस्तरेणात्र षट्प्रकारेण वक्ष्यते ॥४९७॥

तथा सम्पूर्ण एषणाओंका त्याग तो परम उपरति माना गया है। आगे उसका छः प्रकारसे वर्णन किया जायगा।

[तितिक्षा]

विलापादीन्विना या तु सर्वद्वन्द्वसहिष्णुता ।
विवेकेनैव सा प्रोक्ता तितिक्षा ब्रह्मवादिभिः ॥४९८॥

बिना किसी प्रकारका विलाप आदि किये विवेकसे ही सब प्रकारके द्वन्द्वोंको सहन करना—इसीको ब्रह्मवादियोंने तितिक्षा कहा है।

तितिक्षार्थं विवेकस्त्वेकादशे भिक्षुणेरितः ।
भागवते तितिक्षाया विधिस्तु भारते स्मृतः ॥४९९॥

भागवत एकादश स्कन्धमें एक भिक्षुने तितिक्षाके लिये विवेकका वर्णन किया है तथा उसकी विधि महाभारतमें कही गयी है।

श्रीमद्भागवते

नायं जनो मे सुखदुःखहेतु-
र्न देवतात्माग्रहकालकर्म ।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्त्तयेद्यत् ॥५००॥

ये लोग मेरे सुख-दुःखके कारण नहीं हैं और न देवता, आत्मा, ग्रह, काल अथवा कर्म ही उसके कारण हैं । इसका परम कारण तो मन ही कहा जाता है, जो कि इस संसार-चक्रको निरन्तर घुमा रहा है ।

महाभारते

धर्मं पुत्र निषेवस्व सुतीक्ष्णौ च हिमातपौ ।
क्षुत्पिपासे च वायुं च जय नित्यं जितेन्द्रियः ॥५०१॥

हे पुत्र ! तू जितेन्द्रिय होकर धर्मका सेवन कर, अति प्रचण्ड हिम और आतप (घाम) को भी सहन कर । तथा नित्य ही क्षुधा, पिपासा और प्राणको भी अपने अधीन कर ।

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
क्रोश्यमानः प्रियं ब्रूयादाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ॥५०२॥

सब प्रकारके विवादोंको सहन करे, कभी किसीका अपमान न करे, कोई गाली दे तो स्वयं प्रिय भाषण करे तथा दूसरोंसे निन्दित होनेपर भी उसके हितकी बात ही कहे ।

अवकीर्णः सुगुप्तश्च न वाचा ह्यप्रियं वदेत् ।
मृदुः स्यादप्रतिक्रूरो विस्रब्धः स्यादकत्थनः ॥५०३॥

विक्षिप्त-सा रहते हुए बहुत गुप्तरूप रहे, वाणीसे कभी अप्रिय-भाषण न करे, नम्रता धारण करे, अपने विरोधीके प्रति भी क्रूरता न करे, विश्वासपात्र बने तथा आत्मप्रशंसा न करे ।

[श्रद्धा]

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं सुधीर्विवेकेन सर्वद्वन्द्वसहिष्णुताम् ।
सम्पाद्य गुरुवाक्यादौ कुर्याच्छ्रद्धां प्रयत्नतः ॥५०४॥

इस प्रकार बुद्धिमान् पुरुष विवेकद्वारा सब प्रकारके द्वन्द्वोंकी सहनशीलता प्राप्त कर प्रयत्नपूर्वक गुरु-वाक्य आदिमें श्रद्धा करे ।

ब्रह्मात्मैक्यपरे शास्त्रे गुरुवाक्ये तथानिशम् ।
इत्थमेवेति विश्वासो यः सा श्रद्धेति भण्यते ॥५०५॥

ब्रह्म और आत्माकी एकता बतलानेवाले शास्त्र और गुरु-वाक्योंमें 'यह यथार्थतः ऐसा ही है' इस प्रकार जो विश्वास उत्पन्न हो जाता है वही श्रद्धा कही जाती है ।

श्रद्धालुनैव सम्भाव्यं वेदान्तश्रवणार्थिना ।
श्रद्धत्स्वेत्यादिवाक्यानि श्रद्धां ज्ञानाय सञ्जगुः ॥५०६॥

वेदान्तश्रवणके इच्छुकको श्रद्धालु ही होना चाहिये । 'श्रद्धत्स्व तात श्रद्धत्स्व' (अष्टा० गी० १५ । ८) इत्यादि वाक्योंने ज्ञानके लिये श्रद्धाका निरूपण किया है ।

[समाधान]

ब्रह्मण्याचार्यवाक्येषु चैकाग्र्यं यत्तु चेतसः ।
समाधानं हि तत्प्रोक्तं कर्त्तव्यं श्रवणेच्छुभिः ॥५०७॥

ब्रह्म और आचार्यके वाक्योंमें जो चित्तकी एकाग्रता है उसीको समाधान कहा है, जो श्रवणके इच्छुकोंको सदा करना चाहिये ।
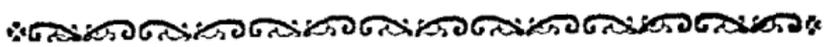
शान्त इत्यादिवाक्यं ह्याश्रित्य षट्सम्पदीरिता ।
मोक्षेच्छाधिकृतस्याद्य विशेषणतयोच्यते ॥५०८॥

इस प्रकार 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृ० उ० ४ । ४ । २३) इस वाक्यका आश्रय कर षट्सम्पत्तिका वर्णन किया गया । अब अधिकारीके विशेषणरूपसे मोक्षेच्छा (मुमुक्षुता) का वर्णन किया जाता है ।

मुमुक्षुता

शृङ्खलाभिर्हि बद्धस्य यष्टिभिस्ताडितस्य च ।
राजभृत्यैर्यथोदेति मोचनेच्छा भृशं हि नुः ॥५०९॥
तथा संसृतिपाशेन बद्धस्याज्ञानतो भृशम् ।
प्रतीचो मोचनेच्छा या मुमुक्षा सोच्यते बुधैः ॥५१०॥

राजसेवकोंद्वारा जंजीरोंसे बाँधे हुए और डण्डोंसे पीटे जाते हुए पुरुषको जिस प्रकार उनसे छूटनेकी तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार अज्ञानवश संसृतिपाशसे बँधे हुए प्रत्यगात्माको जो उससे मुक्त होनेकी इच्छा होती है उसीको बुधजन मुमुक्षा कहते हैं ।

ननु कोऽत्रात्मनो बन्धः कश्च मोक्षः प्रकीर्त्तितः ।
मोक्षस्य साधनं किं च मानं तेषु तथैव किम् ॥५११॥

शङ्का—आत्माका बन्धन क्या है ? उसका मोक्ष क्या कहा गया है ? तथा मोक्षका साधन क्या है और इन तीनोंमें क्या प्रमाण है ?
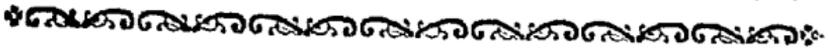
शृण्वनात्मन्यहम्भावो यः स बन्धः प्रकथ्यते ।
मूलाविद्याविनाशो यः स मोक्ष इति कथ्यते ॥५१२॥

समाधान–सुनो, अनात्मामें जो अहंभाव है वही 'बन्धन' कहा जाता है तथा जो मूल अविद्याका नाश है उसीको 'मोक्ष' कहते हैं।

निरतिशयकस्यात्र प्रादुर्भावो हि यो हृदि ।
निःशेषानर्थनाशश्च स मोक्षः सद्भिरुच्यते ॥५१३॥

हृदयमें जो निरतिशय [आनन्द] का आविर्भाव और सब प्रकारके अनर्थोंका नाश हो जाना है उसीको सत्पुरुषोंने मोक्ष कहा है।

मोक्षस्य साधनं साक्षाज्ज्ञानं चैवाभयादयः ।
पारम्पर्येण गीतासु कथिता मोक्षहेतवः ॥५१४॥

मोक्षका साक्षात् साधन ज्ञान है तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें मोक्षके परम्परागत हेतु अभय आदि ही बतलाये गये हैं।

गीतासु

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥५१५॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ॥५१६॥

अभय, चित्तशुद्धि, ज्ञान और योगमें स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन (चुगली न करना), प्राणियोंपर दया, लोलुपता-

का अभाव, मृदुता, लज्जा, अचपलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह और अधिक मानी न होना [—ये ज्ञानाधिकारीके लक्षण हैं]।

संग्रहकर्तृवचनम्

प्रमाणत्वेन बन्धादौ ज्ञातव्ये स्तः श्रुतिस्मृती।
सङ्गृह्णाम्यद्य ते मत्तः सावधानमनाः शृणु ॥५१७॥

बन्ध आदिके विषयमें श्रुति एवं स्मृतियोंको ही प्रमाणरूपसे जानना चाहिये अब मैं उनका संग्रह करता हूँ तुम मुझसे सावधानचित्त होकर सुनो।

श्रुतिः

बन्धो हि वासनाबन्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः।
भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते ॥५१८॥

वासनाका बन्धन ही बन्धन है, तथा वासनाक्षय ही मोक्ष है। भोगोंकी इच्छा ही बन्धन है तथा उसका त्याग ही मोक्ष कहलाता है।

शिवगीतासु

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥५१९॥

मोक्षका कोई निवासस्थान अथवा ग्रामान्तर नहीं है। अज्ञानरूप हृदयग्रन्थिका नाश ही मोक्ष कहलाता है।

संग्रहकर्तृवचनम्

यस्मान्मोक्षसुखादन्यत्सुखं क्वापि न विद्यते।
तस्मान्मुमुक्षुणा भाव्यं नैव भोगेच्छुना क्वचित् ॥५२०॥

क्योंकि मोक्षसुखसे पृथक् और कहीं भी सुख नहीं है इसलिये मुमुक्षुको कभी भोगेच्छुक नहीं होना चाहिये ।

मुमुक्षुः संश्च बोधाय यतेत ब्राह्मणः सुधीः ।
अन्यथा जन्ममृत्यू तुर्निवर्त्तेतां न कर्हिचित् ॥५२१॥

बुद्धिमान् ब्राह्मण मोक्षकामी होकर सदा ज्ञानप्राप्तिका प्रयत्न करे, नहीं तो मनुष्यके जन्म-मरणकी निवृत्ति कभी न हो सकेगी ।

तस्माद्भावात्मकस्येह नित्यमोक्षसुखस्य या ।
इच्छाधिकारिणः सापि सम्भवेद्धि विशेषणम् ॥५२२॥

अतः अधिकारी पुरुषको जो भावात्मक नित्यमोक्षसुखकी इच्छा हुआ करती है वह भी उसका विशेषण ही हो सकती है ।

ननु भावस्वरूपस्य येच्छा नित्यसुखस्य वै ।
सा तु रागात्मकत्वेन प्रवृत्तिं जनयेद्ध्रुवम् ॥५२३॥

शङ्का—किन्तु भावरूप नित्य सुखकी जो इच्छा है वह तो रागात्मिका होनेसे निश्चय ही प्रवृत्ति उत्पन्न कर देगी ।

रागात्प्रवर्त्तमानस्य संसारः प्रत्युतापतेत् ।
तस्मात्तादृक् सुखेच्छा स्यान्नाधिकारिविशेषणम् ॥५२४॥

तथा रागसे प्रवृत्त होनेवाले पुरुषको निश्चय ही संसारकी प्राप्ति हो जायगी । अतः इस प्रकारकी सुखेच्छा अधिकारीका विशेषण नहीं हो सकती ।

न भावश्च सुखं तस्मात्किन्तु दुःखात्ययो हि तत् ।
लोके रोगादिदुःखस्याभावे हि सुखतोच्यते ॥५२५॥

अतः सुख भी भावरूप नहीं है किन्तु दुःखकी निवृत्तिरूप ही है, क्योंकि लोकमें रोगादि दुःखका अभाव हो जानेपर ही सुख कहा जाता है।

स्वस्वरूपं सुखं तच्चेन्नावेद्यं नृभिरर्थ्यते ।
वेद्यत्वे कर्मकर्तृत्वदोषो ह्येकस्य चापतेत् ।
तस्माद्दुःखस्य ध्वंसः स्यान्मोक्षो न भावरूपकः ॥५२६॥

यदि सुख अपना स्वरूप ही होता तो वह अवेद्य होकर मनुष्योंसे प्रार्थित नहीं हो सकता था। और यदि उस अवस्थामें भी उसे वेद्य माना जाय तो एकहीमें कर्म और कर्ता होनेका दोष आ पड़ेगा। अतः दुःखका अन्त होना ही मोक्ष है, वह भावरूप नहीं है।

मैवं सुखं च दुःखं च भावरूपं गजाश्ववत् ।
यतोऽनुभूयते लोके सुखस्याभावता कुतः ॥५२७॥

समाधान—ऐसा मत कहो, सुख और दुःख तो हाथी और घोड़ेके समान भावरूप ही हैं, क्योंकि सुख तो लोकमें प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है, अतः वह अभावरूप कैसे हो सकता है?

तदेतत्प्रेय इत्यादिश्रुतिभिर्भावतोदिता ।
तथात्मनस्तुकामायेत्युक्ता सुखस्य भावता ॥५२८॥

'तदेतत् प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्' (बृ० उ० १। ४। ८) इत्यादि श्रुतियोंसे[1] उसकी भावरूपता प्रकट होती है। तथा

---

१. [यह जो सबकी अपेक्षा अन्तरतम आत्मा है] वह पुत्रसे प्रिय है, धनसे प्रिय है तथा और सबसे भी प्रिय है।
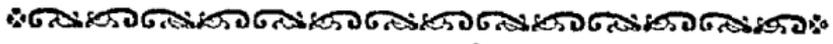
'आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति'[1] (बृ० उ० २ । ४ । ५) इत्यादि श्रुतियोंने भी सुखकी भावरूपता ही बतलायी है ।

तदेवं सुखयोः सिद्धा लौकिकवैदिकाख्ययोः ।
भावता लोकवेदाभ्यामैकार्थ्याल्लोकवेदयोः ॥५२९॥

इस प्रकार लौकिक और वैदिक नामके सुखोंकी लोक तथा वेद दोनोंहीसे भावरूपता सिद्ध होती है; क्योंकि लोक और वेद एक ही प्रयोजनके लिये है ।

यदुक्तं भावरूपत्वे मोक्षे रागात्प्रवृत्तितः ।
मोक्षः संसार एव स्यात्त्वत्पक्षेऽप्यस्ति तत्समम् ॥५३०॥

और तुमने जो कहा कि मोक्षके भावरूप होनेसे उसमें राग-पूर्वक प्रवृत्ति होनेके कारण वह संसाररूप ही सिद्ध होगा, सो यह दोप तो तुम्हारे पक्षमें भी [अर्थात् मोक्षको अभावरूप माननेपर भी] ऐसा ही है ।

संसृतिदुःखविद्वेषाद्दुःखध्वंसाख्यमोक्षके ।
प्रवृत्तेः संसृतित्वं ते मोक्षस्य न कुतो भवेत् ॥५३१॥

संसाररूप दुःखके विद्वेपसे दुःखनाशरूप मोक्षमें प्रवृत्ति होनेके कारण तुम्हारा अभावरूप मोक्ष भी संसाररूप क्यों न होगा ?

यत्तूक्तमपुमर्थत्वमवेद्यत्वे हि कर्मता ।
कर्त्तृतैकस्य वेद्यत्वे नेह दोपद्वयं हि तत् ॥५३२॥

---

१. अपने ही लिये पति प्रिय होता है ।

और यह जो कहा कि अवेद्य होनेपर वह अपुरुषार्थरूप होगा तथा वेद्य होनेपर उसमें एक ही वस्तुमें कर्मत्व और कर्तृत्व होनेका दोष आ जायगा, सो यहाँ ये दोनों दोष भी नहीं आ सकते।

सुखस्य स्वस्वरूपत्वाद्वेद्यता तत्र नेष्यते ।
जड एवेष्यते सा हि न तु ज्ञानसुखात्मके ॥५३३॥

सुख अपना स्वरूप ही है, इसलिये उसमें वेद्यता नहीं हो सकती। वह तो जड पदार्थमें ही हुआ करती है—चिदानन्दरूप [आत्मा] में नहीं।

दृश्यते त्विति तु श्रुत्या वृत्तिव्याप्यत्वमात्मनः ।
उच्यते नैव वेद्यत्वं यत इत्यादिवाक्यतः ॥५३४॥

'दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'[1] (क० उ० १ । ३ । १२) इस श्रुतिसे आत्माका वृत्तिव्याप्यत्व ही कहा जाता है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते'[2] (तै० उ० २ । ४ । १) इत्यादि वाक्यके कारण उसका वेद्यत्व नहीं कहा जा सकता।

तदेवं लोकवेदाभ्यां सुखस्य भावतेरिता ।
ताभ्यां तुष्टिर्न चेत्तर्हि युक्तिं चापीह मे शृणु ॥५३५॥

इस प्रकार लोक और वेदसे सुखकी भावरूपता ही प्रतिपादन की गयी है। यदि इनसे भी तुम्हें सन्तोष नहीं है तो इस विषयमें मेरी युक्ति भी सुनो।

---

१. यह आत्मा तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंको अग्रभागके समान तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ही दिखायी देता है। २. जहाँसे वाणी लौट आती है।

सुखं दुःखस्य नैवास्त्यभावस्तदनिरूपणात् ।
यथा घटस्तथा चेदं तस्माद्धि तत्तथा भवेत् ॥५३६॥

सुख दुःखका अभावमात्र नहीं है, क्योंकि ऐसा कहीं कहा नहीं गया। जिस प्रकार घट [भावरूप] है वैसे ही यह भी है। अतः यह उसीके समान है।

विवादास्पद आनन्दो भावो भवितुमर्हति ।
प्रतियोग्यनिरूप्यत्वाद्यथा घटस्तथा ह्ययम् ॥५३७॥

विवादका विषयभूत आनन्द भावरूप ही होना चाहिये, क्योंकि उसका किसी प्रतियोगीद्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता; अतः जैसा घट है वैसा ही यह (सुख) भी है *।

एवं दुःखात्ययो मोक्ष इत्यक्षपादसम्मतम् ।
लोकागमानुमानैः प्राग् दिङ्मात्रेणेह दूषितम् ॥५३८॥

इस प्रकार यहाँतक थोड़ेहीमें 'दुःखका अन्त होना ही मोक्ष है' यह गौतमजीका विचार लोक, शास्त्र और अनुमानद्वारा सदोष सिद्ध कर दिया गया।

---

* जिस वस्तुका अभाव होता है वह अपने अभावकी प्रतियोगी कही जाती है। जैसे घटाभावका प्रतियोगी घट है। किन्तु घटका ऐसा कोई प्रतियोगी नहीं बतलाया जा सकता, जिसके अभावका उल्लेख करके घटका निर्देश किया जा सके। इसी प्रकार सुखका भी कोई प्रतियोगी नहीं है। यदि सुखको अभावरूप मानें तो यह बतलाना चाहिये कि वह किसका अभाव है; और ऐसी कोई वस्तु बतलायी नहीं जा सकती। इसलिये वह भावरूप ही है।
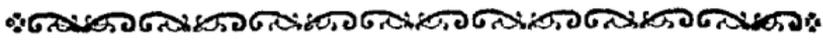
इत्थं भट्टाद्यभिप्रेतमोक्षेषु दूषणं सुधीः ।
ज्ञात्वा तांश्च परित्यज्य वाञ्छेत्स्वात्मसुखं शिवम् ॥५३९॥

इसी प्रकार भट्ट आदिके माने हुए मोक्षमें दोष जानकर मतिमान् पुरुष उसे त्यागकर मङ्गलमय आत्मानन्दकी इच्छा करे ।

तस्माद्भावात्मकस्येच्छा नित्यमोक्षसुखस्य या ।
साप्येवं सम्भवेदेव ह्यधिकारिविशेषणम् ॥५४०॥

अतः उस भावरूप नित्यमोक्षसुखकी जो इच्छा है, वह भी अधिकारीका विशेषण ही हो सकती है ।

अतो मोक्षाय सम्पाद्या दैवी सम्पन्मुमुक्षुणा ।
पारम्पर्येण हेतुत्वं मुक्तेस्तस्याः पुरोदितम् ॥५४१॥

अतः मोक्षकामीको मोक्षप्राप्तिके लिये दैवी सम्पत्तिका उपार्जन करना चाहिये । उसे पहले हम परम्परासे मोक्षप्राप्तिका कारण बतला ही चुके हैं ।

ये महाव्रतवन्तो वै दैवसम्पत्समन्विताः ।
आसुर्या सम्पदा हीनास्ते नरा मोक्षभागिनः ॥५४२॥

जो लोग महान् व्रत और दैवी सम्पत्तिसे सम्पन्न तथा आसुरी सम्पत्तिसे रहित हैं वे ही मोक्षके भागी होते हैं ।

नित्यभावसुखादन्यत्सुखं दुःखान्वितं यतः ।
तस्माद्भोगसुखं त्यक्त्वा मोक्षेच्छामाश्रयेद्बुधः ॥५४३॥

क्योंकि नित्यभावरूप सुखसे अन्य सुख दुःखमय है, इसलिये बुद्धिमान् पुरुष भोगजनित सुखको त्यागकर मोक्षेच्छाका आश्रय ले ।
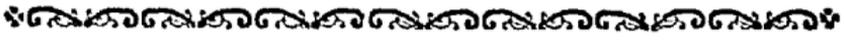
एवं रामप्रसादेन प्रकरणं तृतीयकम् ।
समाप्तं साधनानां वै चतुर्णां सुनिरूपकम् ॥५४४॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे साधनचतुष्टयका निरूपण करनेवाला यह तीसरा प्रकरण समाप्त हुआ ।

इति श्रीमुमुक्षुसर्वस्वसाराभिधे ग्रन्थे साधनचतुष्टयनिरूपणाख्यं तृतीयं प्रकरणम् ।

चतुर्थ प्रकरण

न्यासनिरूपण

चतुर्भिः साधनैर्युक्ता यस्य ज्ञानाभिलापया ।
कुर्वन्ति द्विविधं न्यासं तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥ १ ॥

जिनका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे साधनचतुष्टयसम्पन्न बुधजन बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकारका संन्यास करते हैं उन श्रीरघुनन्दनकी मैं वन्दना करता हूँ ।

अथ संन्यासिनां धर्मास्तथा न्यासाधिकारिणाम् ।
वदन्ति यानि वाक्यानि संग्रहीष्येऽत्र तान्यहम् ॥ २ ॥

अत्र मैं उन वाक्योंका संग्रह करता हूँ जो संन्यासियोंके और संन्यासके अधिकारियोंके धर्मोंका निरूपण करते हैं ।

चतुःसाधनसम्पन्नः स्वगृहान्ना परिव्रजेत् ।
प्रत्यग्ज्ञानाय जिज्ञासुर्विद्वांश्च चित्तशान्तये ॥ ३ ॥

साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर जिज्ञासु पुरुष आत्मज्ञानके लिये और ज्ञानी पुरुष चित्तशान्तिके लिये अपने घरको छोड़कर परिव्राजक हो जाय ।

त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
इति श्रुतिर्यतः प्राह न्यासं ज्ञानाय कर्मणाम् ॥ ४ ॥

क्योंकि 'त्याग ही सबके लिये मोक्षका उत्तम साधन है' यह श्रुति ज्ञानप्राप्तिके लिये कर्मोंके त्यागका प्रतिपादन करती है ।

त्यज धर्ममधर्मं चेत्याह न्यासं तथा श्रुतिः ।
न्यासो ब्रह्मेति चाप्याह तैत्तिरीयश्रुतिस्तथा ॥ ५ ॥

इसके सिवा एक दूसरी श्रुति 'धर्मको छोड़ और अधर्मको भी छोड़' ऐसा बतलाती है तथा तैत्तिरीय-श्रुतिने 'न्यास ही ब्रह्म है' ऐसा भी कहा है ।

स संन्यासो द्विधा ज्ञेयो लिङ्गालिङ्गविभागतः ।
तयोश्च लिङ्गसंन्यासो ज्ञेयः षोढा पुनर्बुधैः ॥ ६ ॥

लिङ्ग और अलिङ्गके भेदसे उस संन्यासको दो प्रकारका जानना चाहिये । उनमेंसे लिङ्गसंन्यासको बुधजन फिर छः प्रकारका जानें ।

कुटीचको बहूदश्च हंसः परमहंसकः ।
तुर्यातीतोऽवधूतश्च षडेते भिक्षवः स्फुटम् ॥ ७ ॥
नारदीयपरिव्राजुपनिषद्येवमीरिताः ।
तेषां धर्मास्तथा तत्रान्यत्रापि च प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

नारदपरिव्राजकोपनिषद्में कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुर्यातीत और अवधूत—ये छः भिक्षु बतलाये हैं । तथा वहाँ और अन्य उपनिषदोंमें भी उनके धर्मोंका निरूपण किया है ।

षट्सु परमहंसो यश्चतुर्थः समुदीरितः ।
जिज्ञासुर्ज्ञानवांश्चेति विज्ञेयो द्विविधो हि सः ॥ ९ ॥

इन छहोंमें परमहंस नामक जो चौथा भिक्षु बतलाया है उसे जिज्ञासु और ज्ञानवान्-भेदसे दो प्रकारका जानना चाहिये ।

अधिकारविचार

प्रत्यग्बोधाय जिज्ञासोर्न्यास आरण्यके श्रुतः ।
एतं वै लोकमिच्छन्तो न्यासिनः प्रव्रजन्ति हि ॥ १० ॥

'इस आत्मलोककी इच्छा करनेवाले संन्यासीलोग [घर छोड़कर] दूर चले जाते हैं' इस प्रकार आरण्यकमें आत्मज्ञानके लिये जिज्ञासुको संन्यास करना कहा है ।

जीवन्मुक्तेस्तु संसिद्धौ विद्वत्संन्यास ईरितः ।
एतद्ध स्मेति वाक्येन स्फुटं वाजसनेयिभिः ॥ ११ ॥

तथा 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वा꣡ꣳसः प्रजां न कामयन्ते'[1] (बृ० उ० ४ । ४ । २२) इत्यादि वाक्यसे वाजसनेयी शाखावालोंने जीवन्मुक्तिकी सम्यक् सिद्धिके लिये स्पष्ट ही विद्वत्संन्यासका प्रतिपादन किया है ।

किं प्रजया करिष्यामोऽतिदुःखहेतुभूतया ।
अयमात्मा परानन्दः सदास्माभिर्हि वीक्ष्यते ॥ १२ ॥

[उनका कहना है कि] अत्यन्त दुःखकी हेतुभूत सन्तानसे हमें क्या लेना है ? हमें तो यह परमानन्दरूप आत्मा सदा ही उपलब्ध होता रहता है ।

---

१. इस आत्माको जाननेवाले पूर्वतन विद्वान् प्रजाकी इच्छा नहीं करते ।

त्र्येकदण्डकषायाणि न्यासलिङ्गानि यानि वै ।
तेषु त्वधिकृतिम्प्राहुः विप्रस्य श्रुतयः स्फुटम् ॥ १३ ॥
निर्वेदं ब्राह्मणो ह्यायात्प्रव्रजेद्ब्राह्मणो गृहात् ।
व्युत्थाय ब्राह्मणा भिक्षाचर्यमित्यादिकाः किल ॥ १४ ॥

त्रिदण्ड, एकदण्ड तथा कषायवस्त्र—ये जो संन्यासके चिह्न बतलाये गये हैं उनमें 'ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो जाय' 'ब्राह्मण घरसे दूर चला जाय' तथा 'ब्राह्मणलोग गृहस्थाश्रमसे निकलकर भिक्षावृत्ति करते हैं' इत्यादि श्रुतियोंने स्पष्ट ही ब्राह्मणका अधिकार बतलाया है ।

क्षत्रियादित्रयाणां तु नास्ति लिङ्गाधिकारिता ।
स्मृतयश्च तथा प्राहुर्लिङ्गे विप्राधिकारिताम् ॥ १५ ॥

किन्तु क्षत्रिय आदि तीन वर्णोंका संन्यासके चिह्न धारण करनेमें अधिकार नहीं है । इसके सिवा स्मृतियोंने भी लिङ्ग धारण करनेमें ब्राह्मणके अधिकारका प्रतिपादन किया है ।

अत्रिस्मृतौ

कषायं ब्राह्मणस्योक्तं नान्यवर्णस्य कस्यचित् ।
मोक्षाश्रमे सदा प्रोक्तं धातुरक्तं तु योगिनाम् ॥ १६ ॥

संन्यासाश्रममें कषाय वस्त्र तो केवल ब्राह्मणके लिये ही बतलाये हैं, और किसी वर्णके लिये नहीं । अन्य योगियोंके लिये तो धातु (हरताल आदि) से रँगे हुए वस्त्र बतलाये हैं ।

विष्णुस्मृतौ

मुखजानामयं धर्मो वैष्णवं लिङ्गधारणम् ।
बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मो विधीयते ॥ १७ ॥

वैष्णव-चिह्नोंको धारण करना—यह तो ब्राह्मणोंका ही धर्म है । क्षत्रिय और वैश्योंके लिये इस धर्मका विधान नहीं है ।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ

चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ताः स्वाश्रमाः श्रुतिचोदिताः ।
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेको वैश्यशूद्रयोः ॥ १८ ॥

ब्राह्मणोंके लिये श्रुतिविहित अपने चारों आश्रम बतलाये हैं । क्षत्रियके लिये तीन आश्रमोंका विधान है तथा वैश्य और शूद्रके लिये क्रमशः दो और एक आश्रम ही बतलाये गये हैं ।

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं लिङ्गाधिकार्युक्तोऽलिङ्गस्याप्यधुनोच्यते ।
क्षत्रियवैश्यशूद्राद्यास्त्यागमात्राधिकारिणः ॥ १९ ॥

इस प्रकार लिङ्गाधिकारीका निरूपण तो हुआ अब अलिङ्ग संन्यासके अधिकारियोंका भी वर्णन किया जाता है । क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि केवल त्यागमात्रके ही अधिकारी हैं ।

तेषां पुण्यविपाकेन भवेद्विविदिषा यदि ।
जन्मापादककर्मादेस्त्यागः कार्योऽपि तैस्तदा ॥ २० ॥

यदि पुण्यकर्मविपाकसे उन्हें जिज्ञासा उत्पन्न हो जाय तो उन्हें भी जन्मकी प्राप्ति करानेवाले कर्म आदिका त्याग कर देना चाहिये ।

त्यागमात्रात्मको न्यासः शूद्रस्यापि समीरितः ।
प्रव्रज्योपनिषच्छ्रुत्या क्षत्रियादेस्तदा किमु ॥ २१ ॥

संन्याससम्बन्धी उपनिषद्‌की श्रुतिसे त्यागमात्रका संन्यास त
शूद्रके लिये भी कहा है; फिर क्षत्रिय आदिकी तो बात ही क्या है

श्रुतिः

वैराग्यमासाद्य तु पापयोनिः
शूद्रोऽपि संन्यासमुपेत्य मोक्षम् ।
प्राप्नोति पापं तु विधूय विप्रः
संन्यासमेत्य ननु मुच्यते वै ॥ '

वैराग्य प्राप्त होनेपर तो पापजन्मा शूद्र भी संन्यार
पापोंसे छूटकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है; तथा द्विज तो संन्यास
करनेसे मुक्त हो ही जाता है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

चतुर्णामपि वर्णानां शान्त्यादिगुणधारिणाम् ।
त्यागमात्रात्मकं न्यासं स्फुटमाह स्मृतिस्तथा ॥ २२ ॥

शमादि गुणोंको धारण करनेवाले चारों ही वर्णोंके लिं
स्मृतिने भी स्पष्टतया त्यागमात्र संन्यासका विधान किया है ।

स्मृतिः

भैक्षचर्यं ततः प्राहुस्ततस्तद्धर्मचारिणः ।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि ॥ २
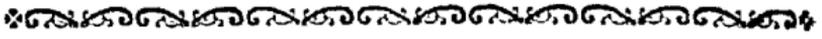
हे राजेन्द्र ! तत्पश्चात् भगवद्धर्मोंका आचरण करनेवाले वैश्य और क्षत्रियके लिये भी भिक्षावृत्ति बतलायी है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

त्यागमात्रात्मके न्यासेऽधिकारं शूद्रकस्त्रियोः ।
भाष्यकारोऽप्यभिप्रैतीति वार्त्तिककृदुक्तवान् ॥ २५ ॥

'त्यागमात्र संन्यासमें शूद्र और स्त्रियोंका भी अधिकार है—ऐसा भाष्यकारका भी मत है' यह बात वार्तिककार (श्रीसुरेश्वराचार्यजी) ने कही है ।

वार्तिककृद्वाक्यम्

विद्याङ्गतत्फलात्मानं गार्गीविदुरयोरपि ।
स्त्रीशूद्रयोर्भाष्यकारः संन्यासमनुमन्यते ॥ २६ ॥

भाष्यकार तो गार्गी और विदुर—इन स्त्री और शूद्रोंके ज्ञान और उसके फलरूप संन्यासका भी अनुमोदन करते हैं ।

संग्रहकर्तृवचनम्

ननु लिङ्गं विना न्यासो न न्यास इति चेदसत् ।
तेन विनापि यस्माद्धि न्यासो भाष्यकृतेरितः ॥ २७ ॥

यदि कहो कि लिङ्गधारणके बिना किया हुआ संन्यास संन्यास ही नहीं है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि भाष्यकारने उनके बिना भी संन्यासका प्रतिपादन किया है ।

भाष्यकृद्वाक्यम्

हठाभ्यासो हि संन्यासो नैव काषायवाससा ।
नाहं देहोऽहमात्मेति निश्चयो न्यासलक्षणम् ॥ २८ ॥

संन्यास तो दृढ़तापूर्वक अभ्यास करना ही है, वह काषाय वस्त्रोंसे नहीं होता। 'मैं देह नहीं हूँ आत्मा हूँ' ऐसा निश्चय ही संन्यासका लक्षण है।

संग्रहकर्तृवचनम्

एषणात्रयसंन्यासस्तुल्यो हि लिङ्ग्यलिङ्गिनोः।
स एव मोक्षहेतुश्च त्यागेनैक इति श्रुतेः॥ २९॥

सलिङ्ग और अलिङ्ग दोनों ही प्रकारके संन्यासियोंके लिये तीनों प्रकारकी एषणाओंका त्याग तो समान ही है; तथा 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'[1] (कै० उ० २) इत्यादि श्रुतिके अनुसार वही मोक्षका हेतु भी है।

स्वदेहस्योपयोगाय लोकोपकृतये तथा।
दण्डादीन् ब्राह्मणस्यैवमुक्तवती श्रुतिः स्वयम्॥ ३०॥

इस प्रकार अपने देहके उपयोग और लोकहितके लिये स्वयं श्रुतिने ब्राह्मणके ही लिये दण्ड आदिकी व्यवस्था दी है।

मनुस्मृतौ

अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति।
स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते॥ ३१॥

जो लिङ्गधारणका अनधिकारी होकर भी लिङ्गाधिकारियोंका वेष धारणकर उनकी वृत्तिसे जीविका चलाता है वह लिङ्गधारियोंके सम्पूर्ण पापोंको हर लेता है और तिर्यग्योनिमें जन्म पाता है।

---

१. किन्हींने त्यागसे अमरत्व प्राप्त किया।

संग्रहकर्तृवचनम्

अलिङ्गधृतियोग्यानां वृत्तिं लिङ्गेन कुर्वताम् ।
इत्यब्रवीन्मनुर्दोषं कषायादिप्रधारणे ॥ ३२ ॥

इसप्रकार जो लोग लिङ्गधारणमें अयोग्य हैं, किन्तु लिङ्ग धारण करके ही अपना पालन-पोषण करते हैं उनके कषाय आदि धारण करनेमें मनुजीने उक्त रूपसे दोष बतलाया है।

तस्माद्विप्रेतरैर्वर्णैर्धार्यं लिङ्गं न वृत्तये ।
स्वमोक्षार्थं तु सन्त्यागस्तैः कार्यो विदुरादिवत् ॥ ३३ ॥

अतः ब्राह्मणके सिवा अन्य वर्णोंको पेटपालनके लिये संन्यास-के चिह्न धारण नहीं करने चाहिये; बल्कि उन्हें तो विदुर आदिके समान अपने मोक्षके लिये त्याग ही करना चाहिये ।

एवं न्यासेऽधिकारोऽयं प्रोक्तो जातिनिबन्धनः ।
निरूप्यतेऽधिकारोऽत्र भूयो गुणनिबन्धनः ॥ ३४ ॥

इसप्रकार यहाँतक संन्यासके जातिसम्बन्धी अधिकारका निरूपण किया गया । अब आगे गुणसम्बन्धी अधिकारका भी प्रतिपादन किया जाता है ।

निष्कामत्वमकोपत्वं क्षमा सत्यं शमादयः ।
यस्मिन्नित्यं हि वर्तन्ते स संन्यासेऽधिकारवान् ॥ ३५ ॥

जिसमें निष्कामता, अक्रोध, क्षमा, सत्य और शम आदि गुण सर्वदा वर्तमान रहते हैं वह पुरुष संन्यासका अधिकारी है ।

लिङ्गैः सह कृते न्यासे लिङ्गेन रहिते तथा ।
विविदिषाह्वये तस्मिन्विद्वन्न्यासे तथैव च ॥ ३६ ॥
ऋते कामादिसन्त्यागान्नाधिकारोऽस्ति कस्यचित् ।
कामादीन्हि ततस्त्यक्त्वा संन्यस्येत्कुशलो नरः ॥ ३७ ॥

सलिङ्ग न्यास अथवा अलिङ्ग न्यासमें तथा विविदिषासंन्यास किंवा विद्वत्संन्यासमें किसी भी पुरुषका कामादिका त्याग किये बिना अधिकार नहीं हो सकता; अतः मतिमान् पुरुषको काम आदिका त्याग करके ही संन्यास करना चाहिये ।

इत्युक्तं वेदसारज्ञैर्बृहस्पत्यादिभिः स्फुटम् ।
तत्स्मृतीश्च लिखाम्यद्य न्यासाधिकृतिबोधिकाः ॥ ३८ ॥

ऐसा वेदके मर्मको जाननेवाले बृहस्पति आदिने स्पष्ट ही कहा है । अब मैं संन्यासके अधिकारका निरूपण करनेवाली उनकी स्मृतियोंका उल्लेख करता हूँ ।

बृहस्पतिस्मृतौ

यस्मिन्कामाः प्रविशन्ति विषयेभ्योऽपसंहृताः ।
विषयान्न पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ३९ ॥

जिसमें सम्पूर्ण विषयोंसे उपसंहृत हुई कामनाएँ लीन हो जाती हैं और वे पुनः विषयोंकी ओर नहीं जातीं उसे ही संन्यासाश्रममें निवास करना चाहिये ।

यस्मिन्क्रोधः शमं याति विफलः सम्यगुत्थितः ।
आकाशेऽसिर्यथाक्षिप्तः स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ४० ॥

आकाशमें घुमायी हुई तलवारके समान जिसके प्रति बड़े जोरसे हुआ क्रोध भी फलहीन रहकर शान्त हो जाता है उसे ही संन्यासाश्रममें निवास करना चाहिये ।

अतीतान्न स्मरेद्भोगान्न तथानागतानपि ।
प्राप्तांश्च नाभिनन्देद्यः स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ४१ ॥

जो बीते हुए तथा आगे आनेवाले भोगोंको स्मरण नहीं करता तथा प्राप्त हुओंका भी आदर नहीं करता उसे ही संन्यासाश्रममें निवास करना चाहिये ।

श्रद्धा ध्यानं तपः शौचं यस्य वित्तं चतुष्टयम् ।
रमणं चाद्वितीयस्य स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ४२ ॥

श्रद्धा, ध्यान, तप और शौच—ये चारों ही जिसके धन हैं तथा जो अकेला ही क्रीडा करता है उसे ही संन्यासाश्रममें निवास करना चाहिये ।

अन्तःस्थानीन्द्रियाण्यन्तर्बहिष्ठान्विषयान् बहिः ।
शक्नोति यः सदा कर्तुं स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ४३ ॥

जो आन्तरिक इन्द्रियोंको अन्तर्मुख और बाह्य विषयोंको बाहर रखनेमें सर्वदा समर्थ है उसीको संन्यासाश्रममें निवास करना चाहिये ।

महाभारते

यस्मिन्वाचः प्रविशन्ति कूपे त्रस्ता द्विपा इव ।
न वक्तारं पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ४४ ॥

[हाथी पकड़नेके लिये खोदे हुए] कुएँमें भयभीत होकर गिरे हुए हाथीके समान जिसमें वाणी प्रवेश कर जाती है और फिर वक्ताके प्रति लौटकर नहीं आती [अर्थात् जिसको कितना ही भला-बुरा कहा जाय, किन्तु जो स्वयं कुछ भी उत्तर नहीं देता] उसीको संन्यासाश्रममें निवास करना चाहिये ।

यस्मिन् क्षान्तिः शमः शौचं सत्यं सन्तोष आर्जवम् ।
अकिञ्चनमदम्भश्च स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ४५ ॥

जिसमें क्षमा, शम, शौच, सत्य, सन्तोष, आर्जव, अकिञ्चनता और अदम्भ आदि गुण वर्तमान रहते हैं उसे ही संन्यासाश्रममें निवास करना चाहिये ।

वसिष्ठस्मृतौ

प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति ।
तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार प्राणके चले जानेपर शरीर सुख-दुःखका अनुभव नहीं करता उसी प्रकार यदि किसीका शरीर प्राणयुक्त रहनेपर भी न करे तो उसे ही संन्यासाश्रममें निवास करना चाहिये ।

व्यासस्मृतौ

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथवा पुनः ।
विरक्तः सर्वकामेभ्यः पारिव्राज्यं समाश्रयेत् ॥ ४७ ॥

जो ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ सम्पूर्ण कामनाओंसे विरक्त हो उसे ही संन्यासाश्रमका आश्रय लेना चाहिये ।

संन्यासके भिन्न-भिन्न भेदोंका निरूपण

संग्रहकर्तृवचनम्

विरागस्य विभागेन संन्यासस्यापि भिन्नता ।
जीवन्मुक्तिविवेके वै विद्यारण्यैः प्रदर्शिता ॥ ४८ ॥

विद्यारण्य मुनिने अपने जीवन्मुक्तिविवेकनामक ग्रन्थमें वैराग्यके भेदसे संन्यासका भी भेद दिखलाया है ।

जीवन्मुक्तिविवेके

संन्यासहेतुर्वैराग्यं यदहर्विरजेत्तदा ।
प्रव्रजेदितिवेदोक्तेस्तद्भेदस्तु पुराणतः ॥ ४९ ॥

'जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन परिव्राजक हो जाय' श्रुतिके अनुसार संन्यासका कारण तो वैराग्य ही है । [उस]के भेद पुराणसे जानना चाहिये ।

विरक्तिर्द्विविधा प्रोक्ता तीव्रा तीव्रतरेति च ।
सत्यामेव तु तीव्रायां न्यसेद्योगी कुटीचके ॥ ५० ॥
शक्तो बहूदके तीव्रतरायां हंससंज्ञिते ।
मुमुक्षुः परमहंसे साक्षाद्विज्ञानसाधने ॥ ५१ ॥

तीव्र और तीव्रतर-भेदसे वैराग्य दो प्रकारका बतलाया है । यदि तीव्र वैराग्य हो तो योगी कुटीचक संन्यास करे अथवा सामर्थ्य होनेपर बहूदक संन्यास कर सकता है । और यदि तीव्रतर वैराग्य हो तो उस मुमुक्षुको हंसनामक संन्यास अथवा ज्ञानका साक्षात् साधनभूत परमहंस संन्यास करना चाहिये ।
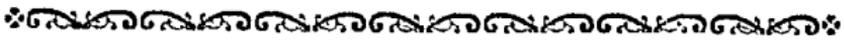
अस्मिन् जन्मनि मा भूवन्पुत्रदारादयो मम ।
इति या सुस्थिरा बुद्धिः सा वैराग्यस्य तीव्रता ॥ ५२ ॥

अब इस जन्ममें मेरे पुत्र एवं स्त्रियाँ आदि न हों—ऐसी जो अत्यन्त स्थिर बुद्धि है वही वैराग्यकी तीव्रता है ।

पुनरावृत्तिसहितो लोको मे मास्तु कश्चन ।
इति तीव्रतरत्वं स्यान्मन्दे न्यासो न कोऽपि हि ॥ ५३ ॥

मुझे पुनरावृत्तिकी प्राप्ति करानेवाला कोई भी लोक प्राप्त न हो—यह वैराग्यकी तीव्रतरता है । तथा मन्द वैराग्यमें तो किसी भी संन्यासका अधिकार नहीं है ।

पुत्रदारधनादीनां नाशे तात्कालिकी मतिः ।
धिक्संसारमितीदृक् स्याद्विरक्तेर्मन्दता हि सा ॥ ५४ ॥

पुत्र, स्त्री अथवा धन आदिका नाश होनेपर जो 'इस संसारको धिक्कार है' ऐसी तत्कालीन बुद्धि होती है वही वैराग्यकी मन्दता है ।

यात्राद्यशक्तिशक्तिभ्यां तीव्रे न्यासद्वयं भवेत् ।
कुटीचको बहूदश्चेत्युभावेतौ त्रिदण्डिनौ ॥ ५५ ॥

इस प्रकार तीव्र वैराग्य होनेपर यात्रा आदिकी शक्ति और अशक्तिके अनुसार क्रमशः बहूदक और कुटीचक ये दो संन्यास हो सकते हैं । ये दोनों ही त्रिदण्डी होते हैं ।

द्वयं तीव्रतरे ब्रह्मलोकमोक्षविभेदतः ।
तल्लोके तत्त्वविद्धंसो लोकेऽस्मिन्परहंसकः ॥ ५६ ॥

तथा तीव्रतर वैराग्य होनेपर ब्रह्मलोक एवं इहलोकमें मुक्त होनेके भेदसे हंस और परमहंस—ये दो संन्यास हो सकते हैं। ब्रह्मलोकमें मुक्त होनेवाला तत्त्ववेत्ता हंस होता है तथा इसी लोकमें मुक्त हो जानेवाला परमहंस कहलाता है।

संग्रहकर्तृवचनम्

पारिव्राज्याभिधेयोपनिषद्यपि समीरिताः ।
नियमा ये हि भिक्षूणां दर्शयाम्यद्य तानिह ॥ ५७ ॥

नारदपरिव्राजकोपनिषद्में भिक्षुओंके जो नियम बतलाये गये हैं उन्हें मैं यहाँ दिखलाता हूँ।

कुटीचकस्त्रिवारं वै स्नानं कुर्वीत यत्नतः ।
बहूदको द्विवारं चैकवारं तत्तु हंसकः ॥ ५८ ॥

कुटीचकको प्रयत्नपूर्वक तीन बार स्नान करना चाहिये, तथा बहूदकको दो बार और हंसको एक बार करना चाहिये।

स्नानं परमहंसस्य मानसं ह्युदितं तथा ।
तुर्यातीतस्य तद्भासमवधूतस्य वायुना ॥ ५९ ॥

परमहंसके लिये मानसिक स्नानका विधान है। तथा तुर्यातीतका स्नान भस्मसे और अवधूतका वायुसे माना गया है।

कुटीचकयतेः क्षौरमृतौ बहूदकस्य तत् ।
ऋतुद्वये च हंसस्य क्षौरं न च विधीयते ॥ ६० ॥
नापि तत्परहंसस्य स्याच्चेत्तदयने द्वयोः ।
तुर्यातीतस्य न क्षौरमवधूतस्य तन्न च ॥ ६१ ॥

कुटीचकका क्षौर एक ऋतु [अर्थात् दो मास] में होना चाहिये तथा बहूदकका दो ऋतुओंमें । हंसके लिये क्षौर करानेका विधान नहीं है और न परमहंसके लिये ही उसकी व्यवस्था है । और यदि है भी तो इन दोनोंके लिये एक अयन (छः मास) में क्षौर करानेका नियम है । तथा तुर्यातीतका तो क्षौर होता ही नहीं और न अवधूतका ही होता है ।

कुटीचकस्य चैकान्नं माधुकरी बहूदकः ।
हंसः परमहंसश्च करपात्रावुभौ श्रुतौ ॥ ६२ ॥

कुटीचकके लिये एकान्नका और बहूदकके लिये माधुकरीका नियम है; तथा हंस और परमहंस ये दोनों करपात्री कहे गये हैं ।

तुर्यातीतश्च भिक्षायै मुखं गोवद्विदारयेत् ।
अवधूतस्य वृत्तिस्तु वेदेनाजगरी स्मृता ॥ ६३ ॥

तुर्यातीतको भिक्षाके लिये अपना मुख गौके समान खोल देना चाहिये तथा अवधूतके लिये वेदने आजगरी वृत्ति बतलायी है ।

कुटीचकस्य शाट्यौ द्वे बहूदस्यैकशाटिका ।
तस्या अर्द्धं तु हंसस्य परहंसो दिगम्बरः ॥ ६४ ॥

कुटीचकको दो शाटी (चादर) तथा बहूदकको केवल एक शाटी धारण करनी चाहिये । हंसको शाटीका आधा टुकड़ा धारण करना उचित है और परमहंस दिगम्बर-वृत्तिसे रहे ।

यद्वा परमहंसस्य कौपीनैकस्य संग्रहः ।
जातरूपधरत्वं तु तुर्यातीतावधूतयोः ॥ ६५ ॥

अथवा परमहंस एक कौपीनका संग्रह करे; दिगम्बर वेष तो तुर्यातीत और अवधूतके लिये ही ठीक है ।

कुटीचकादितुर्याणां नान्योपदेशयोग्यता ।
तुर्यातीतोऽवधूतश्च कुर्यादन्योपदेशनम् ॥ ६६ ॥

कुटीचक आदि पहले चार प्रकारके भिक्षुओंमें दूसरोंको उपदेश करनेकी योग्यता नहीं होती, तुर्यातीत और अवधूतको ही दूसरोंको उपदेश करना चाहिये ।

कुटीचको बहूदश्च वेदान्तानां पुनः पुनः ।
कुर्याद्धि श्रवणं नित्यं ब्रह्मज्ञानाभिवाञ्छया ॥ ६७ ॥

कुटीचक और बहूदक—ये दोनों ब्रह्मज्ञानकी इच्छासे प्रतिदिन वारम्बार वेदान्तका श्रवण करें ।

हंसः परमहंसश्च कुर्वीत मननं मुहुः ।
तुर्यातीतोऽवधूतश्च निदिध्यासनमाचरेत् ॥ ६८ ॥

हंस और परमहंसको वारम्बार मनन करना चाहिये तथा तुर्यातीत और अवधूत निदिध्यासनका आचरण करें ।

कुटीचकादिभिः षड्भिः कार्यमात्मानुचिन्तनम् ।
श्रेष्ठस्त्वेषां हि विज्ञेय उत्तरोत्तरतो यतिः ॥ ६९ ॥

कुटीचक आदि छहों भिक्षुओंको आत्मचिन्तन करते रहना चाहिये । इनमें सर्वदा प्रथमकी अपेक्षा उत्तरोत्तर संन्यासीको श्रेष्ठ समझना चाहिये ।

यतिके धर्म

अन्यासूपनिषत्स्वेवं यतिधर्मा य ईरिताः ।
सङ्क्षेपात्तानपीहाहं सङ्गृह्णे तेषु वृत्तये ॥ ७० ॥

इसप्रकार अन्य उपनिषदोंमें जो यतिके धर्म बतलाये हैं उनमें प्रवृत्ति होनेके लिये यहाँ संक्षेपसे उनका भी वर्णन करता हूँ ।

कामादीनां निरासाय कृशो नित्यं भवेद्यतिः ।
वस्त्रं च धारयेज्जीर्णं समर्थोऽपि नवं नहि ॥ ७१ ॥

यतिको कामादिका पराभव करनेके लिये सदा कृश-शरीर होना चाहिये, तथा सामर्थ्यवान् होनेपर भी पुराना वस्त्र पहनना चाहिये—नया नहीं ।

एकरात्रं वसेद्ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम् ।
वर्षाभ्योऽन्यत्र नासीतैकत्रेत्युक्तं कठश्रुतौ ॥ ७२ ॥

उसे [अधिक-से-अधिक] ग्राममें एक रात्रि और नगरमें पाँच रात्रि निवास करना चाहिये तथा वर्षाऋतुके सिवा अन्य समयमें किसी एक स्थानपर कभी न रहना चाहिये—ऐसा कठश्रुतिमें कहा है ।

आसनं शयनं भूमौ खट्वायां न कदाचन ।
कुर्याद्यतिरिति प्रोक्तमारुण्युपनिषद्यपि ॥ ७३ ॥

यतिको आसन और शयन सदा पृथिवीपर ही करना चाहिये, खाटपर कभी न करना चाहिये—ऐसा आरुणि-उपनिषद्में कहा है ।

भिक्षुश्चेद्यो हि रागेण हेम पश्यति मूढधीः ।
स ब्रह्महा भवेत्तं वै स्पृष्ट्वा च पौल्कसो भवेत् ॥ ७४ ॥

जो मूढबुद्धि भिक्षु होकर रागपूर्वक सोनेकी ओर देखता है वह मानो ब्रह्महत्यारा ही है; उसका स्पर्श करनेसे भी मनुष्य चाण्डाल हो जाता है ।

हिरण्यसंग्रही भिक्षुर्भवेदेवात्महा तथा ।
आत्महा चातिपापीति प्रसिद्धं लोकवेदयोः ॥ ७५ ॥

सुवर्णका संग्रह करनेवाला भिक्षु तो आत्महत्यारा ही हो जाता है तथा आत्महत्यारा महान् पापी है—यह तो लोक और वेदमें प्रसिद्ध ही है ।

तस्मादेतत्त्रयं त्याज्यं स्वस्य मोक्षाय भिक्षुणा ।
एवं परमहंसाख्योपनिषद्यपि संश्रुतम् ॥ ७६ ॥

अतः भिक्षुको अपनी मुक्तिके लिये इन तीनों बातोंका त्याग करना चाहिये—ऐसा परमहंस नामक उपनिषद्ने भी कहा है ।

अखिलसंहिताख्यायामुपनिषद्युदीरिताः ।
धर्मा ये चापि भिक्षूणां दर्शयाम्यद्य तानिह ॥ ७७ ॥

सर्वसंहिता नामक उपनिषद्में भी भिक्षुके जो-जो धर्म बतलाये हैं उन सबका भी मै यहाँ दिग्दर्शन कराता हूँ ।

देवर्षिर्नारदोऽभ्येत्य ब्रह्माणं परिपृष्टवान् ।
भगवन्ब्रूहि भिक्षूणां नियमान् कृपयैव मे ॥ ७८ ॥

एक बार देवर्षि नारदने ब्रह्माजीके पास आकर उनसे पूछा—'भगवन् ! आप कृपापूर्वक मुझे भिक्षुओंके नियम बतलाइये ।'

एवं पृष्टः प्रजाधीशः प्राह त्वं शृणु नारद ।
भिक्षुर्न स्वाटने कुर्यात्स्वनिरोधादिकं क्वचित् ॥ ७९ ॥

नारदजीके ऐसा पूछनेपर प्रजापतिने कहा—'नारद ! सुनो, भिक्षुको अपने भ्रमणकालमें कोई रोक-टोक न आने देनी चाहिये ।

न नद्युत्तरणं कुर्याद्धस्ताभ्यां च क्वचिद्यतिः ।
नाग्निसेवां प्रकुर्वीत नैकत्राशनमाचरेत् ॥ ८० ॥

यतिको अपने हाथोंसे कभी नदी पार न करनी चाहिये । वह अग्निसेवा (अग्निहोत्रादि) न करे और न [अधिक दिनों-तक] एक स्थानपर भोजन ही करे ।

भिक्षयाहृतमन्नं च समश्नीयाद्यतिः सदा ।
मेदोवृद्धिं न कुर्वीत कुर्याच्च प्राणरक्षणम् ॥ ८१ ॥

यतिको सदा भिक्षा माँगकर लाया हुआ अन्न ही खाना चाहिये । वह मेदोवृद्धि न करे किन्तु प्राणरक्षा अवश्य करे ।

त्यजेद्रुधिरवच्चाज्यमेकस्यान्नं च मांसवत् ।
चन्दनादिप्रलेपं तु विष्ठालेपमिव त्यजेत् ॥ ८२ ॥

उसे घीको रुधिरके समान और एक ही पुरुषके अन्नको मांसके समान त्यागना चाहिये तथा चन्दनादिके लेपको विष्ठाके लेपके समान तज देना चाहिये ।

केवलं लवणं भिक्षुरन्त्यजेन समं त्यजेत् ।
स्त्रीसङ्गमिव चाभ्यङ्गं वस्त्रं चोच्छिष्टपात्रवत् ॥ ८३ ॥

भिक्षुको [शाकादिमें मिले हुएसे पृथक्] केवल लवणको अन्त्यजके समान, उबटनको स्त्रीसंगके समान तथा वस्त्रको जूठे पात्रके समान त्याग देना चाहिये ।

मूत्रवच्च परित्याज्यं भिक्षुणोष्णोदकं सदा ।
मलवच्च तनोः स्पर्शं वर्जयेदात्मवान्यतिः ॥ ८४ ॥

गर्म जलको भिक्षु सर्वदा मूत्रके समान त्यागे तथा जितेन्द्रिय यति दूसरेके शरीरके स्पर्शको मलके समान त्याग दे ।

देशो ज्ञातचरस्त्याज्यश्चाण्डालगृहवीथिवत् ।
नारी चाहिरिव त्याज्या भिक्षुणा स्वहितार्थिना ॥ ८५ ॥

अपना हित चाहनेवाले भिक्षुको परिचित देशका चाण्डालोंकी गलीके समान तथा स्त्रीका सर्पके समान त्याग करना चाहिये ।

सुवर्णं विषवत्त्याज्यं श्मशानवच्च सभास्थलम् ।
कुम्भीपाक इव त्याज्या राजधानी च भिक्षुणा ॥ ८६ ॥

भिक्षुको सुवर्णका विषके समान, सभास्थानका श्मशानके समान और राजधानीका कुम्भीपाक नरकके समान त्याग करना चाहिये।

भिल्लानां हण्डिकादिस्थं यथा ह्यन्नं द्विजादिभिः ।
सन्त्यज्यते तथा भिक्षुर्मित्रान्नं च सदा त्यजेत् ॥ ८७ ॥

जिस प्रकार ब्राह्मण आदि द्विजगण भीलोंकी हाँडीमें रखे ए अन्नको त्याग देते हैं उसी प्रकार भिक्षु मित्रके अन्नका दा त्याग करे ।

दर्शनं स्वान्यदेवस्य त्यक्त्वा वै लोकरञ्जनम् ।
विहायैव स्वदेशं च स्वरूपं चिन्तयेत्सदा ॥ ८८ ॥

अपने इष्टदेवसे अन्य देवका दर्शन तथा लोकरञ्जनको छोड़कर देशसे दूर ही रहते हुए सदा आत्मस्वरूपका चिन्तन करे ।

चिन्तयन्स्वस्वरूपं च त्यक्त्वा बन्धुभवस्थलम् ।
कारागृहविनिर्मुक्तचोरवद्दूरतो वसेत् ॥ ८९ ॥

अपने बन्धुजन और जन्मस्थानको छोड़कर आत्मस्वरूपका न्तन करते हुए कारागारसे छूटे हुए चोरके समान सदा दूर निवास करे ।

पत्तने तु त्रिरात्राणि क्षेत्रे षड्रात्रकं वसेत् ।
तीर्थे च सप्तरात्राण्येवं चरेदनिकेतकः ॥ ९० ॥

पत्तन (नगर) में तीन रात्रि, क्षेत्रमें छः रात्रि तथा र्थमें सात रात्रितक रहे । इस प्रकार अनिकेत होकर चरता रहे ।
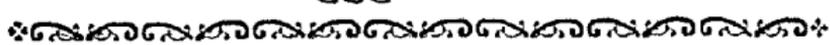
मात्सर्यादींश्च सन्दह्य सदैकाकी यतिश्चरेत् ।
पत्तननगरग्रामान्न कुर्वीत कदाचन ॥ ९१ ॥

मात्सर्य आदि दोषोंको दग्ध करके यतिको सदा अकेले ही विचरना चाहिये। उसे पत्तन, नगर या ग्राम कभी न करना चाहिये।

द्वाभ्यां ग्रामः समाख्यातः पत्तनं च त्रिभिर्भवेत् ।
चतुर्भिर्नगरं तस्मात्त्रयं त्यक्त्वा चरेद्यतिः ॥ ९२ ॥

दो यतियोंके साथ-साथ रहनेसे ग्राम कहा जाता है तथा तीनके रहनेसे पत्तन और चारसे नगर हो जाता है। इसलिये यतिको इन तीनोंका त्याग करते हुए [अर्थात् सर्वदा अकेले रहते हुए ही] विचरना चाहिये।

ननु न्यासस्य धर्माणां स्यादुदाहरणेन किम् ।
सति कर्माधिकारे नुर्यतो न न्यासस्सम्भवः ॥ ९३ ॥

शङ्का—संन्यासके धर्मोंका निरूपण करनेसे क्या होगा? क्योंकि कर्माधिकार रहते हुए मनुष्यसे संन्यास होना तो सम्भव ही नहीं है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
जाग्रत्स्वित्यादिवाक्येषु न्यासः स्याज्जीवतः कथम् ॥९४॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत५ समाः'* (ई० उ० २) इत्यादि वाक्योंके जाग्रत् (मौजूद) रहते हुए जीवित पुरुषके लिये संन्यास कैसे हो सकता है?

---

* कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे।

मैवं श्रुत्यादिवाक्यैर्हि व्याससूत्रेण वै तथा ।
संन्यासाश्रमसद्भावो लभ्यतेऽपि यतः स्फुटम् ॥ ९५ ॥

समाधान—ऐसा मत कहो, क्योंकि श्रुति आदिके वाक्योंसे तथा व्याससूत्रोंसे भी संन्यासाश्रमका होना स्पष्ट सिद्ध होता है ।

उदाहराम्यहं चेह श्रुत्यादिवचनानि वै ।
न्यासासम्भवशङ्काया विच्छित्त्यै तानि संशृणु ॥ ९६ ॥

संन्यासका होना असम्भव है—इस शंकाका उच्छेद करनेके लिये मैं यहाँ श्रुति आदिके वचन उद्धृत करता हूँ, उन्हें ध्यान देकर सुनो ।

महोपनिषदि

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः ।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥ ९७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष शिखाके सहित क्षौर कराकर बाह्यसूत्रको त्याग दे तथा जो अविनाशी परब्रह्म है उसी सूत्रको धारण करे ।

आङ्गिरसस्मृतौ

संन्यसेद्ब्रह्मचर्येण संन्यसेद्वा गृहादपि ।
वनाद्वा संन्यसेद्विद्वानातुरो दुःखितोऽथवा ॥ ९८ ॥

विद्वान् ब्रह्मचर्य-आश्रमसे, गृहस्थाश्रमसे, वानप्रस्थाश्रमसे अथवा आतुर या दुःखी होनेपर संन्यास ग्रहण करे ।
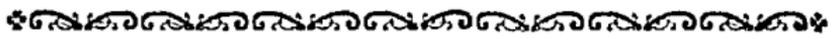
यमस्मृतौ

संन्यस्तं मे जगन्नाथ पाहि मां मधुसूदन ।
त्राहि मां सर्वदेवेश वासुदेव सनातन ॥ ९९ ॥

हे जगन्नाथ! मैंने संन्यास किया है; हे मधुसूदन! आप मेरी रक्षा कीजिये। हे सर्वदेवेश्वर! हे वासुदेव! हे सनातन! आप मेरी रक्षा कीजिये।

अहं सर्वाभयं दत्त्वा भूतानां परमेश्वर ।
युष्मच्छरणमापन्नस्त्राहि मां पुरुषोत्तम ॥१००॥

हे परमेश्वर! मैं प्राणियोंको सब प्रकारका अभय प्रदान कर आपकी शरण आया हूँ। हे पुरुषोत्तम! आप मेरी रक्षा कीजिये।

लिङ्गपुराणे

निष्कृत्य सशिखान् केशानुपवीतं विसृज्य च ।
पञ्चभिर्जुहुयादप्सु भूःस्वाहेति च वा क्रमात् ॥१०१॥

शिखासहित केशोंको काटकर यज्ञोपवीतका परित्याग करे तथा ['प्राणाय स्वाहा' आदि] पाँच आहुतियोंसे अथवा 'भूः स्वाहा' इस मन्त्रसे क्रमशः जलमें हवन करे।

संग्रहकर्तृवचनम्

ऊर्ध्वरेतस्सुशब्दे हीति सूत्रेण च सूत्रकृत् ।
संन्यासस्यापि सद्भावं भगवान् स्फुटमुक्तवान् ॥१०२॥

सूत्रकार भगवान् व्यासजीने भी 'ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि'* (ब्र०सू० ३।४।१७) इस सूत्रसे संन्यासका सद्भाव स्पष्ट बतलाया है।

* वेदमें ही ऊर्ध्वरेताओंमें विद्या सुनी गयी है।

कुर्वन्नेवेति मन्त्रस्य यावज्जीवमिति श्रुतेः ।
तर्हि त्वया गतिर्वाच्येति चेच्छृणु वदामि ताम् ॥१०३॥

यदि कहो कि '[अच्छा ऐसा ही सही किन्तु] 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस मन्त्रकी तथा 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादि श्रुतिकी क्या गति होगी, सो तो बतलाओ'—तो सुनो, मैं बतलाता हूँ।

कुर्वन्नित्यादिवाक्यान्यविरक्तविषयाणि भोः ।
वर्णौ क्षत्रियवैश्यौ वा तेषां च विषयौ तयोः ॥१०४॥
लिङ्गेऽनधिकृतत्वाद्धै कषायमिति च स्मृतेः ।
बृहदारण्यभाष्येऽपि भाष्यकर्त्रा तथेरणात् ॥१०५॥

ये 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' आदि वाक्य अविरक्तोंके लिये हैं। अथवा क्षत्रिय और वैश्य ये दो वर्ण ही उनके विषय हैं; क्योंकि संन्यासके लिंग-धारणमें उनका अधिकार नहीं है और 'कषायं ब्राह्मणस्यैव'* इत्यादि स्मृति भी ऐसा ही कहती है। तथा बृहदारण्यक-उपनिषद्के भाष्यमें भाष्यकारने भी ऐसा ही कहा है।

जायमानश्रुतिश्चैवमृणानीति स्मृतिस्तथा ।
गृहस्थत्वेन यो जातो बोध्ये तद्विषये उभे ॥१०६॥

इसी प्रकार 'जायमानो ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवाञ्जायते'† इत्यादि श्रुति और 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्'‡

* काषायवस्त्र ब्राह्मणके ही लिये हैं।

† ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन ऋणोंसे ऋणवान् हो जाता है।

‡ तीन ऋणोंका निराकरण करके मनको मोक्षमार्गमें नियुक्त करे।

इत्यादि स्मृति—ये दोनों भी उसीसे सम्बन्धित हैं, जो कि गृहस्थरूप-से उत्पन्न हुआ है [अर्थात् जिसने ब्रह्मचर्याश्रमसे गार्हस्थ्यमें प्रवेश किया है]।

स्वाध्यायश्राद्धदानाद्यैर्ऋणापाकरणं स्मृतम् ।
तानि कर्तुं न शक्नोति जातमात्रो हि कश्चन ॥१०७॥

क्योंकि ऋणोंका शोधन स्वाध्याय, श्राद्ध और दान आदिसे माना गया है, जिन्हें कोई भी पुरुष उत्पन्न होते ही नहीं कर सकता।

एवं संन्याससद्भावः सम्यगत्र निरूपितः ।
तद्धर्मकथनाक्षेपो वृथातः पूर्वपक्षिणः ॥१०८॥

इस प्रकार संन्यासके सद्भावका यहाँ भली प्रकार निरूपण किया गया। अतः उनके धर्म बतलानेमें जो पूर्वपक्षीका आक्षेप था वह वृथा ही था।

श्रुत्यर्थसंग्रहेण प्राग्यतिधर्माः प्रदर्शिताः ।
श्रुतिस्मृतिग्रहेणेह वक्ष्यन्ते ते पुनस्तथा ॥१०९॥

यहाँतक श्रुतिके अर्थका संग्रह करके यतिके धर्मोंका दिग्दर्शन कराया गया। अब उन्हींका श्रुति और स्मृतिके वाक्योंको लेकर वर्णन किया जायगा।

यतेर्विविदिषोर्धर्मा यैर्वाक्यैः प्रतिपादिताः ।
प्रायेण तानि वाक्यानि ग्रहीष्यामीह विस्तरात् ॥११०॥

जिन वाक्योंसे जिज्ञासु यतिके धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है यहाँ मैं प्रायः उन्हींको विस्तारसे ग्रहण करूँगा।

धर्मबोधं विना नास्ति यतेः स्वधर्मसेवनम् ।
विना तेन न मोक्षः स्यात्तस्मात्सेव्या यमादयः ॥१११॥

धर्मका ज्ञान पाये बिना यतिसे स्वधर्मका सेवन नहीं हो सकता और स्वधर्मपालनके बिना मोक्ष नहीं हो सकता, इसलिये यम आदिका सेवन करना ही चाहिये।

यमप्रभृतयो धर्माः प्रोक्ताः श्रुत्यादिभिर्यतेः ।
यमा निवृत्तिरूपाः स्युः प्रवृत्त्या नियमा युताः ॥११२॥

यतिके यमादि धर्मोंका श्रुति आदिने निरूपण किया है। उनमें यम निवृत्तिरूप हैं तथा नियम प्रवृत्तियुक्त हैं।

यमा दशविधाः प्रोक्ता नियमाश्च दश स्मृताः ।
याज्ञवल्क्यस्मृतौ तावत्तानत्रानुवदाम्यहम् ॥११३॥

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें दश प्रकारके यम और दश नियम बतलाये हैं। यहाँ मैं उनका उल्लेख करता हूँ।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं त्वेते यमा दश ॥११४॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धैर्य, स्वल्पाहार और शौच—ये दश यम हैं।

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम् ।

संग्रहकर्तृवचनम्

एते च नियमाः प्रोक्ता याज्ञवल्क्येन योगिना ॥११५॥

तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री (लज्जा), मति, जप और हवन—ये योगी याज्ञवल्क्यने नियम बतलाये हैं।

आप्तवाक्यानि

सर्वभूतसुहृच्छान्तः सर्वभूताभयप्रदः ।
भयस्थानानि सञ्चित्य वर्जयेत विचक्षणः ॥११६॥

विचक्षण पुरुष सब प्राणियोंका सुहृद्, शान्त और समस्त जीवोंको अभयदान करनेवाला होकर सम्पूर्ण भयस्थानोंको विचार-कर उनका त्याग कर दे।

नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु वा स्वपेत् ।
नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत् ॥११७॥

[यतिको चाहिये कि] नदीके पुलिन (रेतीले किनारे) में पड़ा रहे अथवा देवालयोंमें शयन करे तथा अपने शरीरको सुख-दुःखसे अत्यन्त सन्तप्त न करे।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
भावशुद्धिर्हरौ भक्तिः सन्तोषः शौचमार्जवम् ॥११८॥
आहारशुद्धिर्वैराग्यं सम्प्रसादो दया नृणाम् ।
अस्नेहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा शान्तिर्दमः शमः ॥११९॥

ह्रीस्तपो ज्ञानविज्ञाने योगो लघ्वाशनं धृतिः ।
अदीनत्वमनुद्धर्षो ब्रह्मधीः समदर्शनम् ॥१२०॥
एष स्वधर्मो व्याख्यातो यतीनां मुक्तिमिच्छताम् ।
अभ्युत्थानं प्रियालापं गुरुवत्प्रतिपूजनम् ॥१२१॥
यतीनां वृत्तवृद्धानां स्वीयधर्मेषु वर्तिनाम् ।
कर्तव्यमन्यथा योगी स्वधर्मात्प्रच्युतो भवेत् ॥१२२॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, भावशुद्धि, भगवद्भक्ति, सन्तोष, शौच, आर्जव, आहारशुद्धि, वैराग्य, सम्यक् प्रसन्नता, मनुष्योंपर दया, अस्नेह, गुरुसेवा, श्रद्धा, शान्ति, दम, शम, लज्जा, तप, ज्ञान-विज्ञान, योग, स्वल्पाहार, धैर्य, अदीनता, अत्यन्त हर्षित न होना, ब्रह्मबुद्धि और समदृष्टि—यह मोक्षकामी यतियोंका स्वधर्म कहा गया है। स्वधर्ममें वर्तमान रहनेवाले और अपनेसे आचारमें उत्कृष्ट अन्य यतियोंको भिक्षु अभ्युत्थान दे, उनके साथ प्रिय सम्भाषण करे तथा गुरुके समान उनका पूजन करे; नहीं तो वह अपने धर्मसे पतित हो जाता है।

छेदभेदोपमर्दं च प्राकारं गृहमाश्रमम् ।
स्वाहा स्वधा वषट्कारो विषयाणां च सन्निधिः ॥१२३॥
स्तुतिर्निन्दा क्रिया वादाः परमर्मावघाटनम् ।
तृष्णा क्रोधोऽनृतं माया लोभमोहौ प्रियाप्रियौ ॥१२४॥

शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागपरिग्रहः ।
अहङ्कारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम् ॥१२५॥
प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधगराशिषः ।
एकान्नं मदमात्सर्यं गन्धपुष्पविभूषणम् ॥१२६॥
ताम्बूलाभ्यञ्जने क्रीडा भोगाकाङ्क्षा रसायनम् ।
कत्थनं कुत्सनं स्वस्ति ज्योतिश्च क्रयविक्रयम् ॥१२७॥
क्रियाकर्मविवादश्च गुरुवाक्यविलङ्घनम् ।
सन्धिश्च विग्रहो यानं मञ्चकं शुक्लवस्त्रकम् ॥१२८॥
शुक्लोत्सर्गो दिवास्वापो भिक्षाधारस्तु तैजसम् ।
विषं चैवायुधं बीजं हिंसां तैक्ष्ण्यं च मैथुनम् ॥१२९॥
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः ।
भैक्षदेशनृपज्ञातिपुत्रमित्रादियोषिताम् ॥१३०॥
उपचारकथास्त्वन्या मनसापि न चिन्तयेत् ।
आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा ।
सम्माननं च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥१३१॥

छेदन, भेदन और उपमर्दन, परकोटा, गृह, आश्रम, स्वाहा, स्वधा, वषट्कार, विषयोंकी सन्निधि, स्तुति, निन्दा, कर्म, वाद-विवाद, दूसरोंका भेद खोलना, तृष्णा, क्रोध, अनृत, माया, लोभ, मोह, प्रिय-अप्रिय, शिल्प, व्याख्यानपरायणता, काम, आसक्तिवश परिग्रह करना, अहंकार, ममता, चिकित्सा, धर्मसम्बन्धी साहस, प्रायश्चित्त कराना, एक स्थानपर अधिक ठहरना, मन्त्र, औषध, विष और आशीर्वाद देना, एक घरका अन्न, मद-मत्सरता,

गन्धयुक्त पुष्पोंके आभूषण, ताम्बूल, उबटन, क्रीडा, भोगवासना, रसायन, बकवाद, निन्दा करना, आशीर्वाद देना, ज्योतिष विद्या, खरीदना-बेचना, क्रिया, कर्म, विवाद, गुरुवाक्यका उल्लङ्घन, सन्धि, विग्रह, यान, मञ्च, श्वेत वस्त्र, वीर्यत्याग, दिनमें सोना, धातुका भिक्षापात्र, विष, आयुध (शस्त्र), बीज, हिंसा, तीक्ष्णता और मैथुन—ये सब यतिके लिये निषिद्ध हैं। इनका सेवन करनेसे वह अधःपतित हो जाता है। यतिको भिक्षा माँगनेके देश, राजा, जातिबन्धु, पुत्र, मित्रादि तथा स्त्रीका एवं अन्य सेवा-शुश्रूषाकी वातोंका मनसे भी चिन्तन न करना चाहिये। मुक्तिमार्गमें लगा हुआ मुनि 'आइये, जाइये, बैठिये, खूब आये' ऐसे सम्मानसूचक वचन अपने सुहृद्के लिये भी न कहे।

संन्यासोपनिषदि

आसनं पात्रलोपश्च सञ्चयः शिष्यसञ्चयः।
दिवास्वापो वृथालापो यतेर्बन्धकराणि षट् ॥१३२॥

आसन (एक स्थानपर अधिक दिन रहना) पात्रलोप (पात्र न रखना), सञ्चय, शिष्यसंग्रह, दिनमें सोना और वृथा वार्तालाप—ये छः बातें यतिको बन्धनमें डालनेवाली हैं।

एकाहात्परतो ग्रामे पञ्चाहात्परतः पुरे।
वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम् ॥१३३॥

वर्षाऋतुके सिवा किसी और समय ग्राममें एक दिन तथा नगरमें पाँच दिनसे अधिक ठहरना—यही आसन कहा जाता है।

उक्तालाब्वादिपात्राणामलाभेऽन्यपरिग्रहः ।
यतेः संव्यवहाराय पात्रलोपः स उच्यते ॥१३४॥

यतिके व्यवहारके लिये बतलाये हुए तूँबा आदि पात्रोंके न मिलनेपर अन्य पात्रोंका रखना—यह पात्रलोप कहलाता है।

शुश्रूषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः ।
शिष्याणां न तु कारुण्याच्छिष्यसंग्रह ईरितः ॥१३५॥

करुणासे नहीं, बल्कि शुश्रूषालाभ, पूजा अथवा यशके लिये ही शिष्योंका संग्रह करना—शिष्यसंग्रह कहा गया है।

विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते ।
विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते ॥१३६॥

प्रकाशरूप होनेसे विद्या दिन है और अविद्या रात्रि कही जाती है। अतः विद्याभ्यासमें जो प्रमाद किया जाता है वही दिवास्वाप कहलाता है।

आध्यात्मिकीं कथां मुक्त्वा भिक्षावार्तां विना तथा।
अनुग्रहं परिप्रश्नं वृथाजल्पोऽन्य उच्यते ॥१३७॥

अध्यात्मचर्चाको छोड़कर भिक्षाचर्या, किसीपर अनुग्रह करना तथा [परमार्थ-सम्बन्धी] प्रश्नोत्तर करना—इनके सिवा और सब बातें वृथालाप हैं।

स्थावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम् ।
षडेतानि न गृह्णीयाद्यतिर्मूत्रपुरीषवत् ॥१३८॥

यतिको [स्थानादि] स्थावर, [पशु आदि] जंगम, बीज, तैजस (धातुजनित), विष और अस्त्र—ये छः प्रकारके द्रव्य मलमूत्रके समान ग्रहण न करने चाहिये।

स्मृतयः

मधु मांसं च मद्यं च ताम्बूलं तैलमौषधम् ।
वर्ज्यान्यष्टौ यतेर्दूरात्तथा कान्ता च काञ्चनम् ॥१३९॥

मधु, मांस, मद्य, ताम्बूल, तैल, औषध, कामिनी और काञ्चन—ये आठ पदार्थ यतिको दूरहीसे त्याग देने चाहिये।

न शिष्याननुबध्नीत नारभेत मठान् क्वचित् ।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत न सेवेद्राजमन्दिरम् ॥१४०॥

यतिको चाहिये कि शिष्यसंग्रह न करे, मठ कभी न बनवावे, [अपने लाभके लिये] शास्त्रोंकी व्याख्याका उपयोग न करे तथा राजभवनका सेवन न करे।

वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां प्रीतिं यत्नेन वर्जयेत् ।
ग्रामान्ते निर्जने देशे नित्यं कृतनिकेतनः ॥१४१॥

यतिको चाहिये कि सर्वदा ग्रामके बाहर निर्जन देशमें निवास करता हुआ वानप्रस्थ और गृहस्थोंके साथ यत्नपूर्वक प्रीतिका त्याग करे।

वृद्धानामातुराणां च भीरूणां सङ्गवर्जितः ।
ग्रामे वाथ पुरे वापि वासो नैकत्र दुष्यति ॥१४२॥

जो यति वृद्ध, रोगी अथवा भयभीत हों उनका ग्राम या नगरमें एक ही स्थानपर निःसंगभावसे रहना भी दूषित नहीं है।
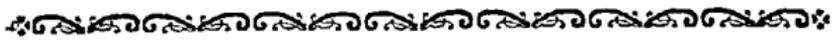
न तीर्थसेवी नात्यन्तमुपवासपरो यतिः ।
न चाध्यापनशीलः स्यान्न व्याख्यानपरो भवेत् ॥१४३॥

यतिको तीर्थसेवी, अत्यन्त उपवासपरायण, अधिक पढ़ाने-लिखानेवाला तथा व्याख्यान देनेवाला भी न होना चाहिये ।

प्रतिग्रहं न गृह्णीयान्न चैवान्यं प्रदापयेत् ।
प्रेरयेद्वा तथा भिक्षुर्न स्वप्नेऽपि कथञ्चन ॥१४४॥

भिक्षुको न तो स्वयं प्रतिग्रह लेना चाहिये और न दूसरेको ही दिलवाना चाहिये, और न कभी स्वप्नमें भी किसीको इसके लिये प्रेरित ही करना चाहिये ।

दासीं दासं गृहं यानं गोभूधान्यं धनं रसान् ।
प्रतिगृह्य यतिर्ग्रामं हन्यात्कुलशतत्रयम् ॥१४५॥

दासी, दास, घर, यान, गौ, पृथिवी, शुष्क अन्न, धन, रस और ग्राम इन्हें ग्रहण करनेसे यति अपने तीन सौ कुलोंको नष्ट कर देता है ।

आविकं पट्टकं वासस्तूलिकां मञ्चकं मधु ।
शुक्लवस्त्रं च यानं च ताम्बूलं स्त्रियमेव च ।
प्रतिगृह्य कुलं हन्यात्प्रतिगृह्णाति यस्य च ॥१४६॥

ऊनी वस्त्र, रेशमी वस्त्र, शय्या, मञ्च, मधु, श्वेत वस्त्र, सवारी, ताम्बूल और स्त्रीको ग्रहण करके यति अपने और जिससे ग्रहण करता है उसके भी कुलको नष्ट कर देता है ।

पुष्पं शाखां पल्लवं वा फलमूलतृणादिकम् ।
भञ्ज्याद्धि यस्तु संन्यासी नरके पतति ध्रुवम् ॥१४७॥

जो संन्यासी होकर पुष्प, शाखा, पत्ता, फल, मूल या तृण आदिको तोड़ता है वह निश्चय ही नरकमें गिरता है।

क्षेत्रं गावो हिरण्यं च यतेर्यस्य परिग्रहः।
तादृशं कल्मषं दृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत् ॥१४८॥

खेत, गौ और सुवर्ण—ये जिस यतिके परिग्रह हैं उसका ऐसा पाप देखकर मनुष्यको वस्त्रसहित जलमें घुस जाना चाहिये [अर्थात् वस्त्रसहित स्नान करना चाहिये]।

अन्नपानपरो भिक्षुर्वस्त्रादीनां च संग्रही।
उभौ तौ मन्दबुद्धित्वात्पूतिनरकशायिनौ ॥१४९॥

जो भिक्षु खान-पानमें लोलुप है और जो वस्त्र आदिका संग्रह करता है वे दोनों ही मन्दबुद्धि होनेसे पूतिनामक नरकमें शयन करते हैं।

आविक्यं त्वधिकं वस्त्रं तूल्यं तूलिपटीं तथा।
प्रतिगृह्य यतिश्चैतान्पतते नात्र संशयः ॥१५०॥

ऊनी वस्त्र, अधिक वस्त्र, रूई भरे हुए कपड़े तथा सूती वस्त्रोंका प्रतिग्रह करनेसे यति नरकमें गिरता है—इसमें सन्देह नहीं।

क्रोधलोभपरो नित्यं निद्रालस्यपरस्तथा।
विषादीच्छेश्वरश्चैव प्रेयसो भ्रश्यते द्विजः ॥१५१॥

जो द्विज सर्वदा क्रोध-लोभपरायण, निद्रा और आलस्यमें तत्पर, विषादयुक्त और स्वेच्छाचारी होता है वह प्रेय (प्रिय स्थिति) से पतित हो जाता है।

यतीनां काञ्चनं दत्त्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम् ।
चौराणामभयं दत्त्वा दातापि नरकं व्रजेत् ॥१५२॥

यतियोंको सुवर्ण, ब्रह्मचारियोंको ताम्बूल तथा चोरोंको अभय-दान करनेसे देनेवाला भी नरकमें जाता है।

छेदने भेदने पाके यतिर्यस्तु प्रवर्तते ।
तादृशं कश्मलं दृष्ट्वा प्रेतशौचं विधीयते ॥१५३॥

जो यति छेदन, भेदन अथवा पाक करनेमें प्रवृत्त होता है उसका वैसा पाप देखकर देखनेवालेको मृतकशौच करना चाहिये।

विधवां कञ्चुकोपेतां सधवां कञ्चुकं विना ।
यतिं च कञ्चुकोपेतं दृष्ट्वा चक्षुर्निमीलयेत् ॥१५४॥

विधवाको चोलीके सहित, सधवाको विना चोलीके तथा यति-को अँगरखा पहने देखकर आँख मूँद लेना चाहिये।

चत्वारि पातनीयानि यतीनां मनुरब्रवीत् ।
औषधं सन्निधानं च एकान्नं कांस्यभोजनम् ॥१५५॥

मनुजीने यतियोंको पतित करनेवाले चार काम बतलाये हैं—औषध, संग्रह, एक घरका अन्न तथा काँसीके पात्रमें भोजन करना।

एकान्नी कांस्यभोजी च भेषजी वस्तुसंग्रही ।
चत्वारो नरकं यान्ति मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥१५६॥

एक घरका अन्न खानेवाला, काँसीके पात्रमें भोजन करनेवाला, ओषधियाँ रखनेवाला और वस्तुओंका संग्रह करनेवाला ये चारों [संन्यासी] नरकमें जाते हैं—ऐसा स्वायंभुव मनुने कहा है।
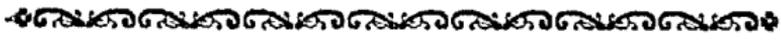
मनुस्मृतौ

बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः ।
शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥१५७॥

बालकोंकी हत्या करनेवाले, शरणागतोंका घात करनेवाले तथा स्त्रीहत्यारे [प्रायश्चित्तादि] धर्मानुष्ठानद्वारा शुद्ध हो गये हों, तो भी उनके साथ न रहें ।

महाभारते ब्राह्मणगीतावाक्यानि

अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च ।
अक्रोधश्चानसूया च दमो नित्यमपैशुनम् ।
अष्टस्वेतेषु युक्तः स्याद्व्रतेषु संयतेन्द्रियः ॥१५८॥

अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, आर्जव, अक्रोध, अनसूया, दम और अपैशुन्य—इन आठ व्रतोंमें जितेन्द्रिय पुरुषको सदा ही तत्पर रहना चाहिये ।

नाददीत परस्वानि न गृह्णीयादयाचितः ।
न किञ्चिद्विषयं भुक्त्वा स्पृहयेत्तस्य वै पुनः ॥१५९॥

दूसरोंकी वस्तुको ग्रहण न करे, बिना प्रार्थना किये किसीकी चीज न ले तथा किसी विषयको भोगकर पुनः उसे भोगनेकी इच्छा न करे ।

न शिल्पजीविकां जीवेद्धिरण्यं नोत कामयेत् ।
न द्वेष्टा नोपदेष्टा च स्यादेवं निरुपस्कृतः ॥१६०॥

शिल्पसम्बन्धी जीविकाका आश्रय न ले, सुवर्णकी कामना न करे तथा किसीसे द्वेष या किसीको उपदेश करनेवाला भी न हो। इस प्रकार सब तरहकी बनावटसे दूर रहे।

आशीर्युक्तानि सर्वाणि हिंसायुक्तानि यानि च ।
लोकसंग्रहधर्मं च न कुर्यान्न च कारयेत् ॥१६१॥

जितने भी कामनामय अथवा हिंसायुक्त कर्म हैं तथा जो लोकसंग्रहसम्बन्धी धर्म हैं, उनमेंसे न तो कोई करे और न करावे ही।

अनागतं च न ध्यायेन्नातीतमनुचिन्तयेत् ।
वर्तमानमुपेक्षेत कालाकाङ्क्षी समाहितः ॥१६२॥

किसी भावी विषयका विचार न करे तथा अतीतका भी चिन्तन न करे; बल्कि कालयापनकी इच्छा कर समाहित चित्तसे वर्तमानकी भी उपेक्षा करता रहे।

नारदपरिव्राजकोपनिषदि

कौपीनयुगलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः ।
यतेः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते ॥१६३॥

परमहंस यतिको दो कौपीन, कन्था और एक दण्ड—केवल इतना ही परिग्रह करना चाहिये; इससे अधिकका उसके लिये विधान नहीं है।

यदि वा कुरुते रागादधिकस्य परिग्रहम् ।
रौरवं नरकं गत्वा तिर्यग्योनिषु जायते ॥१६४॥

यदि रागवश वह इससे अधिकका परिग्रह करता है तो रौरव नरकमें गिरकर तिर्यग्योनियोंमें उत्पन्न होता है ।

विशीर्णान्यमलान्येव चैलानि ग्रथितानि तु ।
कृत्वा कन्थां बहिर्वासो धारयेद्धातुरञ्जिताम् ॥१६५॥

यतिको गाँठे हुए फटे-पुराने स्वच्छ चिथड़ोंकी कन्था बनाकर उसे गेरूसे रँगकर बाह्य वस्त्रके स्थानमें धारण करनी चाहिये ।

भूतानां प्रियकारी स्यान्न परद्रोहकर्मधीः ।
नरा वशीकृता येन तेन देवा वशीकृताः ॥१६६॥

यतिको प्राणियोंका प्रियकारी होना चाहिये, उसे परद्रोहमें बुद्धि नहीं लगानी चाहिये । जो मनुष्योंको वशीभूत कर लेता है वही देवताओंको भी अपने अधीन कर सकता है ।

अजिह्वः पण्ढकः पङ्गुरन्धो बधिर एव च ।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः ॥१६७॥

अजिह्व, नपुंसक, पंगु, अन्ध, बधिर और मुग्ध—इन छः गुणोंके कारण भिक्षु मुक्त हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं ।

इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जते ।
हितं सत्यं प्रियं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥१६८॥

जो भोजन करते हुए भी—यह प्रिय है और यह अप्रिय है—इस प्रकार आसक्त नहीं होता तथा हितकारी सत्य और प्रिय सम्भाषण करता है उसे 'अजिह्व' कहते हैं ।

अद्य जातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् ।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स पण्ढकः ॥१६९॥

जिस प्रकार आज ही उत्पन्न हुई स्त्रीको अथवा सौ वर्षकी स्त्रीको देखकर कोई विकारयुक्त नहीं होता उसी प्रकार सोलह वर्षकी युवतीको देखकर भी जो निर्विकार रहता है वही 'नपुंसक' है ।

भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च ।
योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः ॥१७०॥

जो भिक्षा और मल-मूत्र-त्यागके लिये ही भ्रमण करता है तथा एक योजनसे अधिक कभी नहीं चलता वही सर्वथा 'पंगु' है ।

तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम् ।
चतुर्युगां भुवं त्यक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते ॥१७१॥

जिसकी दृष्टि बैठते या चलते समय भी चार धनुष पृथिवीको छोड़कर दूर नहीं जाती वह संन्यासी 'अन्ध' कहलाता है ।

हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं च यत् ।
श्रुत्वापि न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः ॥१७२॥

जो हितकारी, अहितकारी, मनोरम अथवा शोकावह वचनोंको सुनकर भी मानो नहीं सुनता वह 'बधिर' कहलाता है ।

सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थोऽविकलेन्द्रियः ।
सुप्तवद्वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते ॥१७३॥

जो भिक्षु विषयोंकी सन्निधिमें, समर्थ तथा अविकलेन्द्रिय होकर भी, सर्वदा सोये हुएके समान रहता है वह 'मुग्ध' कहलाता है ।

रथ्यायां बहुवस्त्राणि भिक्षा सर्वत्र लभ्यते ।
भूमिः शय्या सुविस्तीर्णा यतयः केन दुःखिताः ॥१७४॥

गलीमें बहुतसे वस्त्र पड़े रहते हैं, भिक्षा भी सर्वत्र मिल जाती है, सोनेके लिये पृथिवीरूप बड़ी विस्तृत शय्या है; फिर यतिजन दुःखित क्यों हों ?

आप्तवाक्यानि

जायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शुभाशुभम् ।
दृष्ट्वा श्रुत्वा न कम्पेत शोकहर्षौ त्यजेद्यतिः ॥१७५॥

यतिको चाहिये कि स्त्री, भाई, पुत्र और बन्धु आदिके शुभाशुभको देख और सुनकर कम्पित न हो तथा हर्ष-शोकका त्याग करे ।

इष्टानिष्टेषु भोगेषु व्यसनाभ्युदयेषु च ।
उपशान्तां वदेद्वाचमपि बाणैर्हतो भृशम् ॥१७६॥

इष्ट और अनिष्ट भोगोंमें, आपत्ति और सम्पत्तिके समय, और यदि बाणोंद्वारा अत्यन्त आहत भी हो तो भी शान्त वाणी उच्चारण करे ।

सत्यां वाचमहिंस्रां च वदेदनपवादिनीम् ।
अतिवादांस्तितिक्षेत अनृशंसामपैशुनाम् ॥१७७॥

जो सत्य और हिंसारहित हो और जिसमें किसीकी निन्दा, क्रूरता तथा चुगली न हो ऐसी वाणी बोले तथा सब प्रकारकी अपकीर्ति सहन करे ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यमस्तेयमार्जवम् ।
वेदान्तश्रवणं ध्यानं भिक्षोः कार्याणि नित्यशः ॥१७८॥

भिक्षुको ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, आर्जव, वेदान्त-श्रवण और ध्यान—इनका सदा ही आचरण करना चाहिये।

नैवाददीत पाथेयं यतिः किञ्चिदनापदि ।
कथमापत्सु गृह्णीयाद्यावदह्नाय भुज्यते ॥१७८॥

यतिको, जबतक कोई विशेप आपत्ति न हो तबतक किसी प्रकारका पाथेय (मार्गमें खानेयोग्य पदार्थ) नहीं रखना चाहिये। और जबतक प्रतिदिन भोजन मिलता है तबतक आपत्तिमें भी वह क्यों ग्रहण करेगा ?

आददीत प्रवृत्तेभ्यः साधुभ्यो धर्मसाधनम् ।
नाददीत निवृत्तेभ्यः प्रमादेनापि किञ्चन ॥१७९॥

अपने धर्मके साधनरूप भिक्षा आदि प्रवृत्तिपरायण सत्पुरुषोंसे ग्रहण करे; निवृत्तिपरायण पुरुषोंसे भूलकर भी कुछ न ले।

परमापद्गतेनापि न कार्यं स्तेयमल्पकम् ।
स्तेयादभ्यधिकः कश्चिन्नास्त्यधर्म इति स्मृतः ॥१८०॥

अत्यन्त आपत्तिमें पड़ जानेपर भी यतिको थोड़ी-सी भी चोरी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि चोरीसे बड़ा और कोई अधर्म नहीं है—ऐसा प्रसिद्ध है।

दशव्रतान्यनुष्ठाय यतिः कल्याणमश्नुते ।
तेषामेवाननुष्ठानान्नरकं स समश्नुते ॥१८१॥

यति दश व्रतोंका अनुष्ठान करनेसे तो कल्याण प्राप्त कर लेता है तथा उनका अनुष्ठान न करनेसे ही वह नरकमें जाता है।

दश व्रतानि सर्वेषां यतीनां विहितानि च ।
अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ॥१८२॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं दुर्भुक्तिवर्जनम् ।
वाङ्मनःकायचेष्टासु प्रमादस्य च वर्जनम् ॥१८३॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, शौच, दुष्टान्नका त्याग तथा मन वाणी एवं शरीरकी चेष्टाओंमें प्रमादका त्याग—इन दश व्रतोंका सभी यतियोंके लिये विधान है ।

वर्णाश्रमाणां धर्मो हि देवस्थानेषु कारणम् ।
लिङ्गाभावात्तु कैवल्यमिति ब्रह्मानुशासनम् ॥१८४॥

वर्णाश्रमोंका धर्म तो देवस्थानोंकी प्राप्तिमें ही कारण है, किन्तु लिंग (आश्रमसम्बन्धी चिह्नोंका) त्याग कर देनेपर तो कैवल्यपद प्राप्त हो जाता है—ऐसा ब्रह्माजीका आदेश है ।

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम् ।
नात्यक्त्वा चाभयं शेते सर्वं त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥१८५॥

बिना त्याग किये कोई सुख नहीं पाता, बिना त्यागके परमात्माकी प्राप्ति भी नहीं होती और न त्याग किये बिना कोई निर्भय शयन ही कर सकता है; अतः सब कुछ त्यागकर सुखी हो जाय ।

न भाषेत स्त्रियं काञ्चित्पूर्वदृष्टां न च स्मरेत् ।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि ॥१८६॥

किसी स्त्रीसे सम्भाषण न करे, पहले देखी हुईका स्मरण

न करे और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली बातचीतका भी त्याग कर दे तथा चित्रलिखित स्त्रीकी ओर भी देखे नहीं ।

एतच्चतुष्टयं मोहात् स्त्रीणामाचरतो यतेः ।
चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात्प्रणश्यति ॥१८८॥

स्त्रियोंके प्रति मोहवश इस चार प्रकारके आचरण करनेवाले यतिका चित्त अवश्य विकृत हो जाता है और उसके विकृत होनेसे वह नष्ट हो जाता है ।

सुजीर्णोऽपि सुजीर्णासु विद्वान्स्त्रीषु न विश्वसेत् ।
सुजीर्णास्वपि कन्थासु सज्जते जीर्णमम्बरम् ॥१८९॥

विद्वान् बहुत वृद्ध हो, तो भी उसे अत्यन्त वृद्धा स्त्रियोंमें भी विश्वास न करना चाहिये, क्योंकि बहुत पुरानी कन्थामें भी जीर्ण-शीर्ण चिथड़ा जुड़ जाता है ।

श्रीमद्भागवते

स्त्रीणां तत्सङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
क्षेमे विविक्ते आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥१९०॥

जितेन्द्रिय पुरुष स्त्री और स्त्रीसंगियोंका सहवास दूरहीसे त्यागकर किसी निरापद एकान्त देशमें बैठकर निरालस्यभावसे मेरा चिन्तन करे ।

वायुपुराणे

यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा पुनः सेवेत मैथुनम् ।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥१९१॥

जो पुरुष संन्यास लेकर फिर मैथुनधर्ममें प्रवृत्त होता है वह साठ सहस्र वर्षपर्यन्त विष्ठामें कीड़ा होकर जन्म लेता है।

शून्यागारेषु घोरेषु आखुर्भवति दारुणः ।
स तिर्यक् स्यात्ततो गृध्रः श्वा वै द्वादश वत्सरान् ॥१९२॥

फिर वह किसी शून्य और भयंकर घरमें भारी चूहा बनता है उसके पश्चात् तिर्यग्योनिमें उत्पन्न होकर फिर गृध्र और बारह वर्षतक श्वान होता है।

खरो विंशतिवर्षाणि दश वर्षाणि शूकरः ।
अपुष्पोऽफलितो वृक्षो जायते कण्टकान्वितः ॥१९३॥

फिर, बीस वर्षतक गधा, दश वर्ष शूकर और तदनन्तर फल-फूलसे रहित काँटोंवाला वृक्ष होता है।

ततो दावाग्निना दग्धः स्थाणुर्भवति कामुकः ।
स्थावराच्च परिभ्रष्टो योनिष्वन्यासु गच्छति ॥१९४॥

तत्पश्चात् वह कामलोलुप जीव दावाग्निसे दग्ध होकर कोई स्थावर बनता है और फिर स्थावर-योनिसे भी पतित होकर अन्यान्य योनियोंमें जाता है।

पूर्णे वर्षसहस्रान्ते जायते ब्रह्मराक्षसः ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तः क्रव्यादो रुधिराशनः ॥१९५॥

इस प्रकार पूरे एक सहस्र वर्ष बीत जानेपर वह भूख-प्यास-से व्याकुल तथा कच्चा मांस और रुधिर भक्षण करनेवाला ब्रह्म-राक्षस हो जाता है।

क्रमेण लभते मोक्षं कुलस्योत्सादनेन च ।
चाण्डालगर्भसम्भूतो जायते नात्र संशयः ॥१९५॥

फिर अपने कुलका उच्छेद करके वह क्रमशः उस योनिसे मुक्त होता है तथा चाण्डालके गर्भसे उत्पन्न होकर जन्म लेता है—इसमें कोई सन्देह नहीं ।

आहारशुद्धिर्विनयः शौचमप्रतिकर्म च ।
सम्यग्दर्शनमित्येवं पञ्चैवोपव्रतानि च ॥१९६॥

आहारशुद्धि, विनय, शौच, सजावट न करना तथा सम्यग्दर्शन—ये पाँच उपव्रत हैं ।

स्मृतयः

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं तपः परम् ।
क्षमा दया च सन्तोषो व्रतान्यस्य विशेषतः ॥१९७॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, उत्कृष्ट तपस्या, क्षमा, दया और सन्तोष—ये यतिके विशेष धर्म हैं ।

अध्यात्मपुस्तकं विप्रैर्दत्तं गृह्णीत भिक्षुकः ।
न स्वयं द्रव्यमादाय लेखयेद्दोषदर्शनात् ॥१९८॥

भिक्षुकको चाहिये कि ब्राह्मणोंकी दी हुई अध्यात्मपुस्तक ग्रहण कर ले; स्वयं द्रव्य लेकर लिखवावे नहीं, क्योंकि ऐसा करनेमें दोष देखा गया है ।

मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता ।
निःस्पृहत्वं समत्वं च सप्तैतान्येकदण्डिनः ॥१९९॥
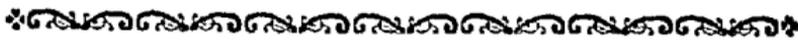
मौन, योगसम्बन्धी आसन, योग, तितिक्षा, एकान्तशीलता, निःस्पृहता और समता—ये सात नियम एकदण्डीके हैं।

दक्षस्मृतौ

वैणवेन त्रिदण्डेन न त्रिदण्डीति चोच्यते ।
अध्यात्मदण्डयुक्तो यः स त्रिदण्डीति कथ्यते ॥२००॥

बाँसके त्रिदण्डसे कोई त्रिदण्डी नहीं कहा जा सकता। जो अध्यात्मदण्डसे युक्त है वही त्रिदण्डी कहा जाता है।

वागादिदण्डयुक्तस्तु प्रत्यगात्मन्यवस्थितः ।
परे ब्रह्मणि लीनो यः स त्रिदण्डी व्यवस्थितः ॥२०१॥

वागादि इन्द्रियोंके संयमके सहित जो अपने अन्तरात्मामें स्थित होकर परब्रह्ममें लीन हो गया है वही त्रिदण्डी माना गया है।

वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्कर्मदण्डेऽल्पभोजनम् ।
मानसे तु कृते दण्डे प्राणायामो विधीयते ॥२०२॥

वाणीका संयम करनेके लिये मौन साधन करे और कर्म-संयमके लिये स्वल्पाहार करे तथा मनोदमनके लिये प्राणायामका विधान है।

नारदपरिव्राजकोपनिषत्सु

एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद् द्वितीयं मिथुनं स्मृतम् ।
त्रयो ग्रामः समाख्यात अत ऊर्ध्वं नगरायते ॥२०३॥

पूर्वोक्त लक्षणोंवाला एक यति तो भिक्षु है, दो मिथुन कहे गये हैं, तीन मिल जानेपर ग्राम कहलाते हैं और इनसे अधिक तो नगररूप हैं।

नगरं नहि कर्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा ।
एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः ॥२०५॥

यतिको नगर ग्राम अथवा मिथुन न करना चाहिये। इन तीनोंके करनेसे यति स्वधर्मसे च्युत हो जाता है।

राजवार्तादि वा तेषां भिक्षावार्ता परस्परम् ।
स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं सन्निकर्षान्न संशयः ॥२०६॥

यतियोंके एकत्रित हो जानेसे उनमें आपसमें राजवार्ता, भिक्षासम्बन्धी बातचीत तथा स्नेह, पिशुनता (चुगली) और मात्सर्य (डाह) आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं—इसमें सन्देह नहीं।

आप्तवाक्यानि

कथाचारे खले सार्थे पुरे गोष्ठे त्वसद्गृहे ।
निवसेन्न यतिः षट्सु स्थानेष्वेतेषु कर्हिचित् ॥२०७॥

व्यर्थ वार्तालापके अड्डे, खलिहान, जनसमूह, नगर, गोष्ठ और असत्पुरुषोंके घर—इन छः स्थानोंमें यतिको कभी न रहना चाहिये।

एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः ।
एक एव चरेन्नित्यं वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥२०८॥

यतिको चाहिये कि सर्वदा एकवस्त्र, वस्त्रहीन तथा एकाग्र-दृष्टि होकर सब प्रकारकी लोलुपता त्यागकर अकेला ही विचरे; केवल वर्षाऋतुमें एक स्थानपर रहे।

जले जीवाः स्थले जीवा आकाशे जीवमालिनि ।
जीवमालाकुले लोके वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥२०९॥

वर्षाऋतुमें जलमें, स्थलमें तथा जीवोंसे भरे हुए आकाशमें भी सर्वत्र जीव-ही-जीव हो जाते हैं; इस प्रकार सम्पूर्ण लोक जीव-मालासे व्याप्त हो जानेके कारण उस समय एक स्थानपर ही रहना चाहिये।

यावद्वर्षत्यकालेऽपि यावत् क्लिन्ना च मेदिनी।
तावन्न विचरेद्भिक्षुः स्वधर्ममनुपालयन्॥२१०॥

जबतक, समय न होनेपर भी, वर्षा होती हो और पृथिवी भीगी रहे तबतक अपने धर्मका पालन करते हुए भिक्षुको विचरना न चाहिये।

चतुरोऽयं वसेन्मासान्द्वौ वा कौशिकवार्षिकौ।
वृद्धाननुक्रमेणैव नमस्कृत्य विधानतः॥२११॥

यतिको चाहिये कि वह वृद्धोंको अनुक्रमसे विधिवत् नमस्कार करता हुआ चार महीने अथवा श्रावण और भाद्रपद दो महीने एक स्थानपर रहे।

संग्रहकर्तृवचनम्

वृद्धेभ्यो नमस्कारानुक्रमश्च यतिधर्मसमुच्चये दर्शितः।

यतिधर्मसमुच्चयमें गुरुजनोंको नमस्कार करनेका क्रम इस प्रकार दिखलाया है।

देवं कृष्णं मुनिं व्यासं भाष्यकारं गुरोर्गुरुम्।
गुरुं देवं गणाध्यक्षं दुर्गां देवीं सरस्वतीम्॥२१२॥

भगवान् कृष्ण, व्यासमुनि, भाष्यकार श्रीशंकराचार्यजी, गुरुके गुरु, गुरुदेव, गणेशजी, दुर्गादेवी तथा सरस्वतीजी इन्हें क्रमशः नमस्कार करे।

द्वादश्यां पौर्णमास्यां वा कुर्यात्सङ्कल्पमात्मवित् ।
अनेन विधिना भिक्षुराषाढ्यां सुसमाहितः ॥२१२॥
स्थानाभावाद्व्रजेत्तावद्यावद्भवति पञ्चमी ।
प्रायश्चित्तेन युज्येत पञ्चम्यूर्द्धं व्रजेद्यदि ॥२१३॥

इस प्रकार आत्मज्ञ भिक्षु आषाढकी द्वादशी अथवा पूर्णमासीको समाहित चित्तसे [एक स्थानपर रहनेका] सङ्कल्प करे तथा स्थानका अभाव होनेपर जबतक [श्रावण कृष्णा] पञ्चमी न आवे तबतक अन्यत्र भी जा सकता है; किन्तु यदि पञ्चमीके पीछे कहीं जायगा तो प्रायश्चित्तका भागी होगा ।

नासमानसहायेषु निवसेद्योगवित् क्वचित् ।
वसेत्समानशीलेषु सुशीलेषु तपस्विषु ॥२१४॥

योगवेत्ता यतिको असहाय तथा जो अपने समान न हों उन लोगोंमें कभी न रहना चाहिये । उसे अपने तुल्य शीलवान् तथा सुशील तपस्वियोंमें ही रहना चाहिये ।

पिता माता स्वसा भ्राता स्नुषा जाया सुतस्तथा ।
ज्ञातिबन्धुसुहृद्वर्गो दुहिता तत्सुतादयः ॥२१५॥
यस्मिन्देशे वसन्त्येते न तत्र दिवसं वसेत् ।
द्वेषः शोको भवेत्तत्र रागहर्षादयो मलाः ॥२१६॥

पिता, माता, भगिनी, भाई, पुत्रवधू, स्त्री, पुत्र, जाति-भाई, सुहृद्गण, पुत्री और पुत्रीके पुत्र आदि—ये जिस स्थानपर रहते हों

वहाँ एक दिन भी न रहना चाहिये, क्योंकि वहाँ रहनेसे द्वेष, शोक तथा राग एवं हर्ष आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

अश्रुपातं यदा कुर्याद्भिक्षुः शोकेन चार्दितः।
योजनानां शतं गत्वा तदा पापात्प्रमुच्यते ॥२१७॥

यदि भिक्षु शोकाकुल होकर अश्रुपात करता है तो सौ योजन दूर जानेपर उस पापसे मुक्त होता है।

कार्तिक्यां वापयित्वा तु स्नापयित्वा त्रिविक्रमम्।
परस्परं च सम्पूज्य क्षमयित्वा परस्परम् ॥२१८॥
आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन् भिक्षुश्चरेन्महीम्।
अन्धवत्कुब्जवद्वापि बधिरोन्मत्तपिशाचवत् ॥२१९॥

[चातुर्मास्य समाप्त होनेपर] कार्तिकी पूर्णिमापर क्षौर करा, भगवान् त्रिविक्रमको स्नान करानेके अनन्तर परस्पर सत्कार करके एक दूसरेसे क्षमा करावे और फिर सम्पूर्ण जीवोंको आत्मवत् देखता हुआ अन्धे, कुबड़े, बहरे, उन्मत्त अथवा पिशाचके समान पृथिवीपर विचरे।

न चैकस्मिन्वसेद्ग्रामे न चैकस्मिन् सरित्तटे।
शून्यागारे न चैकस्मिन्वसेच्छून्यालये तथा ॥२२०॥

वह एक गाँव, एक नदीतीर, एक शून्य गृह अथवा एक ही शून्य आश्रममें कभी न रहे [अर्थात् उसे अपना निवासस्थान सर्वदा बदलते रहना चाहिये]।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये ख्यातः पुण्यतमः श्रुतौ।
देशः सरस्वतीतीरे करोदायास्तु पश्चिमे ॥२२१॥

दग्धं च वह्निना पूर्वं पवित्रीकरणाय वै ।
योगज्ञानतपोध्यानसिद्धयर्थं वै महात्मनाम् ॥२२३॥
तस्मिन्देशे सदा भिक्षुः स्वधर्मं परिपालयन् ।
पर्यटेद्वै सदा योगी वीक्षयन्वसुधातलम् ॥२२४॥

जिसे पवित्र करनेके लिये पूर्वकालमें अग्निसे दग्ध किया गया था वह हिमालय और विन्ध्याचलके बीचका करोदा नदीके पश्चिम ओर सरस्वती-तीरवर्ती देश महात्माओंके योग, ज्ञान, तप और ध्यानकी सिद्धिके लिये श्रुतिमें सर्वोत्कृष्ट कहा गया है। योगीको चाहिये कि अपने धर्मका पालन करता हुआ सर्वदा योगयुक्त हो पृथिवीतलका निरीक्षण करता हुआ उसी देशमें विचरता रहे।

न रात्रौ न च मध्याह्ने सन्ध्ययोर्नैव पर्यटेत् ।
न शून्ये न च दुर्गे वा प्राणबाधकरे तथा ॥२२५॥

यतिको रात्रि, मध्याह्न अथवा दोनों सन्ध्याओंमें तथा शून्य, दुर्गम एवं प्राणबाधक देशोंमें कभी भ्रमण न करना चाहिये।

नामगोत्रादिचरणं देशं वासं श्रुतं कुलम् ।
वयो वृत्तं बलं शीलं ख्यापयेन्नैव सद्यतिः ॥२२६॥

सच्चे साधुको अपने नाम और गोत्रादि तथा देश, वासस्थान, विद्या, कुल, आयु, आचार, बल और शील आदिकी प्रसिद्धि नहीं करनी चाहिये।

स्कन्दपुराणे

गङ्गाकूले वसेन्नित्यं भिक्षुर्मोक्षपरायणः ।
सिद्धं क्षेत्रं तु विज्ञेयं यावद्धनुशतत्रयम् ॥२२७॥

मोक्षमार्गमें तत्पर हुआ भिक्षु सर्वदा गंगातटपर रहे; गंगासे तीन सौ धनुषकी दूरीतक सिद्धक्षेत्र जानना चाहिये।

भविष्यपुराणे

ब्रह्मादिदेवलोकानां मुक्तेश्च प्राप्तये नृणाम्।
गङ्गैव परमो हेतुः कलिकाले विशेषतः ॥२२८॥

मनुष्योंके लिये, विशेषतः कलिकालमें, ब्रह्मादि देवलोक तथा मुक्तिकी प्राप्तिके लिये गंगा ही परम कारण है।

मनुस्मृतौ

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा।
शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥२२९॥

शरीर क्षीण हो जानेपर भी जीवोंकी रक्षाके लिये रात्रि अथवा दिनके समय सर्वदा पृथिवीकी ओर देखते हुए ही भ्रमण करे।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥२३०॥

दृष्टिसे पवित्र करके चरण रखे, वस्त्रसे पवित्र करके जल पिये, सत्यसे पवित्र हुआ वचन बोले तथा अन्तःकरणसे पवित्र माना हुआ आचरण करे।

महाभारते

आत्मोत्कर्षं न मार्गेत परेषां परिनिन्दया।
स्वगुणैरेव मार्गेत विप्रकर्षं पृथग्जनात् ॥२३१॥

दूसरोंकी निन्दा करके अपना उत्कर्ष दिखाना न चाहे बल्कि अपने गुणोंसे ही अन्य पुरुषोंकी अपेक्षा उन्नत होनेका प्रयत्न करे।

निर्गुणास्त्वेव भूयिष्ठमात्मसम्भाविता नराः।
दोषैरन्यान् गुणवतः क्षिपन्त्यात्मगुणक्षयात् ॥२३१॥

अपनेको बहुत बड़ा माननेवाले गुणहीन पुरुष ही अपना गुण क्षीण हो जानेके कारण दोषोंके आरोपसे अन्य गुणवानोंपर आक्षेप किया करते हैं।

अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन्।
विपश्चिद्गुणसम्पन्नः प्राप्नोति सुमहद्यशः ॥२३२॥

विद्वान् और गुणवान् पुरुष किसीकी निन्दा तथा अपनी पूजाका बखान न करके ही अति महान् यश प्राप्त कर लेता है।

आकाशस्था ध्रुवं यत्र दोषं ब्रूयुर्विपश्चिताम्।
आत्मपूजाभिकामो वै को वसेत्तत्र पण्डितः ॥२३३॥

आकाशवासी देवता जिस कर्ममें विद्वानोंके लिये अवश्य दोष बतलाते हैं भला, उसीमें अपनी प्रशंसाकी इच्छासे कौन विवेकी पुरुष प्रवृत्त हो सकता है।

मध्यस्थ एव तिष्ठेत प्रशंसानिन्दयोः समः।
एतत्पवित्रं परमं पारिव्राजक आश्रमे ॥२३४॥

प्रशंसा और निन्दामें समान रहकर सदा उदासीन भावसे ही रहे। संन्यासाश्रममें यही सबसे बढ़कर पवित्र है।
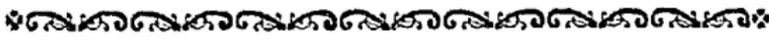
प्रत्यक्षे गुणवादी यः परोक्षे चापि निन्दकः ।
स मानवः श्ववल्लोके नष्टलोकपरावरः ॥२३५॥

जो पुरुष सामने गुण बखान करनेवाला और पीछे निन्दा करनेवाला होता है वह संसारमें कुत्तेके समान है। उसके इह-लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

तादृग्जनशतस्यापि यद्ददाति जुहोति च ।
परोक्षेणापवादी यस्तन्नाशयति तत्क्षणात् ॥२३६॥

ऐसे सैकड़ों पुरुषोंको भी जो कुछ दिया अथवा हवन किया जाता है उसे वह पुरुष, जो पीछे निन्दा करनेवाला है, उसी क्षण नष्ट कर देता है।

तस्मात्प्राज्ञो नरः सद्यस्तादृशं पापचेतसम् ।
वर्जयेत्साधुभिर्वर्ज्यं सारमेयामिषं यथा ॥२३७॥

अतः बुद्धिमान् पुरुषको ऐसे पापात्माका तत्काल त्याग कर देना चाहिये जिस प्रकार कि कुत्तेका मांस सत्पुरुषोंके लिये सदा ही त्याग करनेयोग्य है।

तं स्वकर्माणि कुर्वाणं प्रतिकर्तुं य इच्छति ।
भस्मकूट इवाबुद्धिः खरो रजसि मज्जति ॥२३८॥

अपने कर्मोंका पालन करनेवाले उस महात्माका जो पुरुष अपकार करना चाहता है वह मूढबुद्धि गधा मानो राखकी ढेरी अथवा धूलिमें लोटता है।
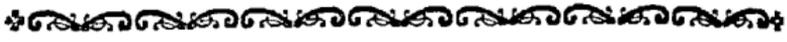
संग्रहकर्तृवचनम्

एवं श्रुत्यादिवाक्यानि धर्माणां बोधकानि वै ।
यतेर्यमप्रधानानां संगृहीतानि खल्विह ॥२४०॥

इस प्रकार यहाँ यतियोंके यमप्रधान धर्मोंका बोध करानेवाले श्रुति आदिके वाक्योंका संग्रह किया गया है ।

अथ संन्यासिधर्माणां प्रायेण नियमात्मनाम् ।
बोधकान्यृषिवाक्यानि गृह्णामीह समासतः ॥२४१॥

अब मैं प्रायः संन्यासियोंके नियमात्मक धर्मोंको सूचित करनेवाले ऋषिवाक्योंका यहाँ संक्षेपसे संग्रह करता हूँ ।

मेधातिथिस्मृतौ

भिक्षाटनं तपो ध्यानं स्नानं शौचं सुरार्चनम् ।
कर्तव्यानि षडेतानि यतीनां नृपदण्डवत् ॥२४२॥

भिक्षाटन, तपस्या, ध्यान, स्नान, शौच और देवपूजन—इन छः कर्मोंका यतियोंको राजदण्डके समान पालन करना चाहिये ।

शौचविधि

मनुस्मृतौ

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोश्च यथा दिवा ॥२४३॥

यतिको दिनके समय उत्तरमुख और रात्रिके समय

दक्षिणाभिमुख होकर मल-मूत्र त्याग करना चाहिये तथा दोनों सन्ध्याओंमें दिनके अनुसार ही करना चाहिये ।

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।
यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधभयेषु च ॥२४४॥

किन्तु छायामें, अन्धकारमें, अथवा प्राणसंकट या भय उपस्थित होनेपर द्विजको, रात्रि हो अथवा दिन, अपने सुभीतेके अनुसार मुख करना चाहिये ।

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ।
न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥२४५॥

मार्ग, भस्म, गोशाला, हलसे जोते हुए खेत, जल, चिता, पर्वत, पुराने देवालय तथा वल्मीकमें कभी मूत्रत्याग न करे ।

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ।
न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥२४६॥

इसी प्रकार जीवोंसे भरे हुए गड्ढेमें, चलते-चलते, खड़ा होकर अथवा नदीके तीरपर पहुँचकर या पर्वतशिखरपर भी [मूत्रत्याग न करे] ।

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ।
न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥२४७॥

वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल तथा गौकी ओर देखते हुए भी कभी मल-मूत्र त्याग न करे ।

प्रत्यग्निं प्रति सूर्यं च प्रति सोमोदकद्विजान् ।
प्रति गां प्रति वातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥२४८॥

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, ब्राह्मण, गौ और वायुकी ओर मुँह करके मूत्र करनेवालेकी बुद्धि नष्ट हो जाती है ।

आप्तवाक्यम्

शतहस्तं परित्यज्य मूत्रं कुर्याज्जलाशयात् ।
शतद्वये पुरीषं तु तीर्थे चैव चतुर्गुणम् ॥२४९॥

जलाशयसे सौ हाथ दूरीपर मूत्र और दो सौ हाथ दूरीपर मल त्याग करना चाहिये तथा तीर्थस्थानमें इससे चौगुनी दूरीपर करना चाहिये ।

विष्णुपुराणे

वल्मीकमूषकोत्खातां मृदमन्तर्जलां तथा ।
शौचावशिष्टां गेहाच्च मृदं शौचे विवर्जयेत् ॥२५०॥

वल्मीक (बाँबी) की, चूहोंकी खोदी हुई, जलके भीतरकी, शौचकर्मसे बची हुई तथा घरसे ली हुई मृत्तिकाको शौचकर्ममें न लेना चाहिये ।

आप्तवाक्यम्

अन्तःप्राण्युपपन्नां च हलोत्खातां च वर्जयेत् ।

जिसके भीतर जीव हो तथा जो हलसे खोदी गयी हो उस मिट्टीको भी शौचकर्ममें त्यागना चाहिये ।

यस्मिन् देशे च यत्तोयं या च यत्र च मृत्तिका ।
सैव तत्र प्रशस्ता स्यात्तया शौचं विधीयते ॥२५१॥

जिस देशमें जैसा जल हो और जहाँ जैसी मृत्तिका हो वहाँ वही प्रशस्त मानी गयी है और उसीसे शौचकर्म करनेका विधान है ।

तीर्थे शौचं न कुर्वीत कुर्वीतोद्धृतवारिणा ।

तीर्थमें शौचकर्म नहीं करना चाहिये, बल्कि जलाशयसे बाहर निकाले हुए जलसे ही करे ।

मनुस्मृतौ

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश ।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥२५२॥

शुद्धि चाहनेवाले मनुष्यको लिङ्गमें एक बार, गुदामें तीन बार, बायें हाथमें दश बार और दोनों हाथोंमें सात बार मिट्टी लगानी चाहिये ।

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां च चतुर्गुणम् ॥२५३॥

यह तो गृहस्थोंका शौच है । इससे दूना ब्रह्मचारियोंका, तिगुना वानप्रस्थोंका और चौगुना यतियोंका होता है ।

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥२५४॥

जबतक अपवित्र पदार्थयुक्त वस्तुसे उसका लेप और दुर्गन्ध
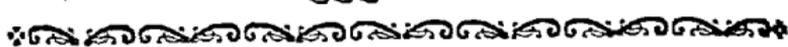
दूर न हो तबतक ऐसी समस्त वस्तुओंकी शुद्धिके लिये मृत्तिका और जलका प्रयोग करना चाहिये ।

स्मृतयः

धर्मविद्दक्षिणं हस्तमधः शौचेन योजयेत् ।
तथैव वामहस्तेन नाभेरूर्ध्वं न शोधयेत् ॥२५५॥
प्रकृतिस्थितिरेषा स्यात् कारणादुभयक्रियाः ॥२५६॥

धर्मज्ञ पुरुष अधोभागकी शुद्धि करनेमें दाँये हाथका प्रयोग न करे तथा नाभिसे ऊपरके भागका शोधन बायें हाथसे न करे । यह तो स्वाभाविक स्थिति है, किन्तु कारणविशेषसे ये दोनों क्रियाएँ भी की जा सकती हैं ।

यद्दिवा विहितं शौचं तदर्द्धं निशि कीर्तितम् ।
तदर्द्धमातुरे प्रोक्तमातुरस्यार्द्धमध्वनि ॥२५७॥

दिनमें जितने शौचका विधान है उससे आधा रात्रिमें बतलाया गया है, तथा उससे आधा रुग्णावस्थामें और रुग्णावस्थासे आधा मार्गमें कहा है ।

दन्तधावनविधि

मुखे पर्युषिते नित्यं भवत्यप्रयतो नरः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥२५८॥

मुखके बासी हो जानेपर नित्य ही मनुष्य अपवित्र हो जाता है; इसलिये सब प्रकार प्रयत्न करके दन्तधावन करनी ही चाहिये ।

कण्टकिक्षीरवृक्षोत्थं द्वादशाङ्गुलमव्रणम् ।
कनिष्ठाग्रसमं स्थूलं सकूर्चत्वगपर्वकम् ॥२५९॥

जो काँटेवाले या दूधवाले वृक्षसे ली गयी हो, बारह अंगुल लम्बी और व्रणहीन हो, कनिष्ठा अँगुलीके बराबर मोटी हो, सिरेपर कुचीवाली हो तथा छालयुक्त और ग्रन्थिरहित हो ।

नृसिंहपुराणे

अलाभे दन्तकाष्ठस्य प्रतिषिद्धे तथा दिने ।
अपां द्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धिर्भविष्यति ॥२६०॥

यदि दन्तधावन न मिले अथवा दन्तधावनके लिये प्रतिषिद्ध दिवस आ जाय तो जलके बारह कुल्ले करनेसे मुखकी शुद्धि हो जायगी ।

संग्रहकर्तृवचनम्

निषिद्धदिनानि च स्कन्दपुराणे दर्शितानि तथा च काशीखण्डे—

निषिद्ध दिनोंका स्कन्दपुराणमें दिग्दर्शन कराया है, जैसा कि काशीखण्डमें कहा है—

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्यां रविवासरे ।
दन्तानां काष्ठसंयोगो दहेदासप्तमं कुलम् ॥२६१॥

प्रतिपदा, अमावस्या और षष्ठी तिथिमें, तथा नवमी और रविवारके दिन दाँतोंका काष्ठसे हुआ संयोग सातवीं पीढ़ीतक कुलको ध्वंस कर देता है ।
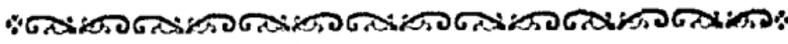
दन्तधावनार्थं वर्ज्यानि द्रव्याणि च याज्ञवल्क्येनोक्तानि—

दन्तधावनके लिये जो द्रव्य वर्जित हैं उनका वर्णन याज्ञवल्क्यजीने इस प्रकार किया है—

याज्ञवल्क्यस्मृतौ

इष्टिकालोष्टपाषाणैर्नखैरङ्गुलिभिस्तथा ।
मृत्काचानामिकाङ्गुष्ठान् वर्जयेद्दन्तधावने ॥२६२॥

ईंट, ढेला और पाषाण तथा नख, अँगुली, मृत्तिका, काँच, अनामिका और अंगुष्ठ—इनका दन्तधावनमें त्याग करे ।

स्नानविधि

पराशरस्मृतौ

स्नानानि पञ्च पुण्यानि कीर्तितानि मनीषिभिः ।
आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं वायव्यं दिव्यमेव च ॥२६३॥

मनीषियोंने आग्नेय, वारुण, ब्राह्म, वायव्य और दिव्य—ये पाँच प्रकारके स्नान बतलाये हैं ।

आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्य तु वारुणम् ।
आपो हि ष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम् ॥२६४॥

भस्मस्नान आग्नेय है, जलमें डुबकी लगाकर नहाना वारुण-स्नान है, 'आपो हि ष्ठा' इत्यादि [मन्त्रसे मार्जन करना] ब्राह्मस्नान है तथा गोरज वायव्यस्नान माना गया है ।

यत्तु सातपवर्षेण तत्स्नानं दिव्यमुच्यते ।
तत्र स्नात्वा च गङ्गायां स्नातो भवति मानवः ॥२६५॥

जो स्नान धूपमें बरसते हुए जलसे किया जाता है वह दिव्य कहलाता है। उसमें स्नान करनेसे मनुष्य मानो गङ्गामें स्नान कर लेता है।

व्यासस्मृतौ

चतस्रो घटिकाः प्रातररुणोदय उच्यते।
यतीनां स्नानकालोऽयं गङ्गाम्भःसदृशः स्मृतः ॥२६६॥

प्रातःकालकी चार घड़ियाँ अरुणोदय कहलाती हैं। यतियोंके लिये यही स्नानका समय है, यह गङ्गास्नानके समान माना गया है।

कापिलस्मृतौ

प्रातःस्नाने त्वशक्तश्चेत्कापिलं स्नानमाचरेत्।
तत्राप्यसामर्थ्ययुक्ते मन्त्रस्नानं विधीयते ॥२६७॥

यदि प्रातःस्नानमें असमर्थ हो तो कापिलस्नान करे और जो उसमें भी समर्थ न हो उसके लिये मन्त्रस्नानका विधान है।

नाभेरधः प्रविश्याप्सु कटिं प्रक्षाल्य मृज्जलैः।
जलार्द्रकर्पटेनाङ्गशोधनं कापिलं स्मृतम् ॥२६८॥

नाभिसे नीचेका भाग जलमें डुबोकर कटिभागको मृत्तिका और जलसे धोकर जलमें भीगे हुए कपड़ेसे शरीरको शुद्ध कर लेना कापिलस्नान कहलाता है।

सायंप्रातरसामर्थ्ये सायमेवाथवा पुनः।
परिवर्त्य च कौपीनं मन्त्रस्नानं विधीयते ॥२६९॥

सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय अथवा सामर्थ्य न हो तो केवल सायंकालको ही कौपीन बदलकर मन्त्रस्नान किया जाता है।

पराशरस्मृतौ

चक्षूरोगी शिरोरोगी कण्ठरोगी कफाधिकः।
कण्ठस्नानं प्रकुर्वीत शिरःस्नानफलं लभेत् ॥२७०॥

जो नेत्र, शिर या कण्ठका रोगी हो अथवा जिसे कफ अधिक हो वह कण्ठतक ही स्नान करे। इससे ही उसे शिरसे स्नान करनेका फल मिल जाता है।

स्नानेऽप्यशक्तः स्नायीत नित्यमुष्णेन वारिणा।
तैलाभ्यङ्गो न दुष्येत व्रणिनां वातरोगिणाम् ॥२७१॥

जिसे स्नान करनेकी सामर्थ्य न हो वह सर्वदा गर्म जलसे स्नान करे। जो व्रणयुक्त अथवा वातके रोगी हैं उन [यतियों] के लिये तैल मलनेमें भी कोई दोष नहीं है।

आचमनविधि

शङ्खस्मृतौ

दक्षिणं तु करं कृत्वा गोकर्णाकृतिवत्पुनः।
माषमज्जनमात्रास्तु सङ्गृह्य त्रिः पिबेदपः ॥२७२॥

दायें हाथको गौके कानके समान आकृतिवाला करके फिर उसमें उड़द डूब सकने योग्य जल लेकर तीन बार जलपान करे।

यतिश्च ब्रह्मचारी च नाचमेच्चर्मवारिणा ।
वानप्रस्थो गृहस्थश्च दैवे पित्र्ये च कर्मणि ॥२७३॥

यति और ब्रह्मचारीको चर्मपात्रके जलसे आचमन नहीं करना चाहिये तथा वानप्रस्थ और गृहस्थ भी देवता और पितृगणसम्बन्धी कर्ममें उससे आचमन न करें ।

मनुस्मृतौ

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च ।
पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥२७४॥

सोने, छींकने, भोजन करने, थूकने, [भूलसे] अनृत भाषण करने और जल पीनेपर तथा अध्ययनके लिये उद्यत होनेपर सावधान होकर आचमन करे ।

शातातपस्मृतौ

दन्तलग्ने फले मूले अप्सु यागाहुतीषु च ।
स्नेहे सोमे चेक्षुदण्डे नैवोच्छिष्टो भवेद्द्विजः ॥२७५॥

फल, मूल, जल, यज्ञकी हवि, घृत, सोम और ईख—इनके दाँतोंमें लगे रहनेपर भी द्विज उच्छिष्टयुक्त नहीं होता ।

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः करात् ।
न तैरुच्छिष्टभावः स्यात्तुल्यास्ते भूमिगैः सह ॥२७६॥

आचमन करते समय यदि हाथसे गिरी हुई बूँदें चरणोंका स्पर्श करें तो उनसे उच्छिष्टताकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वे तो पृथिवीपर पड़ी हुई बूँदोंके समान होती हैं ।
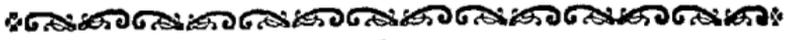
देवार्चनविधि

शौनकस्मृतौ

ज्ञानं महेश्वरादिच्छेन्मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात् ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ नमस्कारेण चार्चयेत् ॥२७७॥

भगवान् शङ्करसे ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करे तथा श्री-विष्णुसे मोक्षकी कामना करे। उन्हें पृथिवीपर दण्डके समान लोटकर प्रणाम करे तथा नमस्कारद्वारा भी उनका पूजन करे।

व्यासस्मृतौ

पक्वं हि तुलसीपत्रं शुष्कं पर्युषितं च यत् ।
आनीय तत्प्रयत्नेन पूजयेत्पुरुषोत्तमम् ॥२७८॥

जो तुलसीपत्र पका हुआ, सूखा और बासी हो उसे भी प्रयत्नपूर्वक लाकर श्रीपुरुषोत्तमकी पूजा करे।

भावपुष्पैर्यजेद्योगी बाह्यैर्वा श्रद्धयान्वितः ।
तदर्थं पुष्पहिंसायां न भवेद्धिंसकः क्वचित् ॥२७९॥

योगीको श्रद्धापूर्वक भावमय अथवा बाह्य पुष्पोंसे पूजन करना चाहिये; देवपूजाके लिये पुष्प तोड़नेसे वह हिंसक कभी नहीं हो सकता।

प्राणायामविधि

यमस्मृतौ

द्वादशावर्तनं यत्तु प्रणवस्य मनो हृदि ।
प्राणायामो यतः प्रोक्तः प्राणानायम्य ओमिति ॥२८०॥

मनको हृदयमें रोककर प्राणका संयम करते हुए जो 'ओ३म्' इस प्रकार प्रणवकी बारह आवृत्तियाँ करना है वही यतिका प्राणायाम कहा गया है ।

कूर्मपुराणे

प्राणस्तु देहजो वायुरायामस्तन्निरोधनम् ॥२८१॥

'प्राण' देहस्थ वायु है तथा 'आयाम' उसके निरोधको कहते हैं ।

जपविधि

कूर्मपुराणे

जपकाले न भाषेत नान्यानि सेवयेद्बुधः ।
न कम्पयेच्छिरो ग्रीवां दन्तान्नैव प्रकाशयेत् ॥२८२॥

बुद्धिमान् साधक जपके समय भाषण न करे, किसी अन्य विषयका सेवन न करे, शिर तथा ग्रीवा न हिलावे और न दाँत ही दिखावे ।

पद्मपुराणे

अनुत्पन्नात्मविज्ञानः विरक्तः संयतेन्द्रियः ।
यावज्जीवं जपेन्मन्त्रं प्रणवं ब्रह्मणो वपुः ॥२८३॥

जिसे आत्मज्ञान उत्पन्न न हुआ हो उस यतिको विरक्त और जितेन्द्रिय होकर जीवनपर्यन्त ब्रह्मके प्रतीक ओंकारका जप करना चाहिये ।
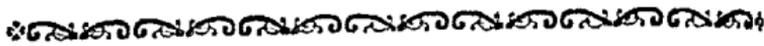
याज्ञवल्क्यस्मृतौ

जपश्च द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा ।
वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः ॥२८४॥

जप वाचिक और मानसिक दो प्रकारका वतलाया है। उनमें वाचिक उपांशु और उच्च दो प्रकारका कहा गया है।

उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुण उच्यते ।
मानसश्च तथोपांशोः सहस्रगुण उच्यते ॥२८५॥

उच्च जपसे उपांशु सहस्रगुण कहा जाता है तथा मानस जप उपांशुसे भी सहस्रगुण है।

आप्तवाक्यम्

यस्तु द्वादशसाहस्रं नित्यं प्रणवमभ्यसेत् ।
तस्य द्वादशमासैस्तु परं ब्रह्म प्रकाशते ॥२८६॥

जो पुरुष नित्यप्रति वारह हजार प्रणवका जप करता है उसके प्रति वारह मासमें ही परब्रह्म प्रकाशित हो जाता है।

यः शब्दो बोधजननः परेषां शृण्वतां स्फुटम् ।
स्वाध्यायो वाचिकः प्रोक्त उपांशोरथलक्षणम् ॥२८७॥
ओष्ठयोः स्पन्दमात्रेण परस्याशब्दबोधकः ।
उपांशुरेष निर्दिष्टः साहस्रो वाचिकाज्जपात् ॥२८८॥

जो शब्द दूसरे सुननेवालोंको स्पष्ट बोध करानेवाला होता है वह वाचिक स्वाध्याय (जप) कहलाता है। उपांशुका लक्षण यह

है—ओठोंके स्पन्दनमात्रसे जो दूसरोंको शब्दका ज्ञान नहीं कराता वह उपांशु जप कहलाता है। यह वाचिक जपसे सहस्रगुण है।

ध्यानविधि

शून्यागारे गुहायां वा पर्वतेषु वनेषु च।
तत्रासीनः प्रसन्नात्मा ध्यानं विधिवदाचरेत् ॥२८९॥

शून्य मन्दिर, गुहा, पर्वत अथवा वनोंमें बैठकर प्रसन्नचित्तसे विधिपूर्वक ध्यानका अभ्यास करे।

ब्रह्मोपनिषदि

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥२९०॥

आत्माको नीचेकी अरणी तथा प्रणवको ऊपरकी अरणी बनाकर ध्यानरूप मन्थनके अभ्याससे भगवान्‌को अपनेमें छिपा हुआ-सा देखे।

नमस्कारविधि

यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि।
तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतरस्मै कदाचन ॥२९१॥

जो अपनेसे पहले संन्यासी हुआ हो और धर्ममें अपने समान हो उसीको प्रणाम करना चाहिये, और किसीको कदापि न करे।
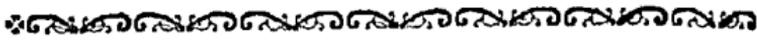
भिक्षाविधि

याज्ञवल्क्यस्मृतौ

अप्रमत्तश्चरेद्भैक्षं सायाह्नेऽनभिलक्षितः ।
रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे यात्रामात्रमलोलुपः ॥२९२॥

जिसमें अधिक भिक्षुक न रहते हों उस गाँवमें अलक्षित रहकर लोलुपता और प्रमाद न करते हुए केवल शरीररक्षणार्थ सायंकालमें भिक्षाटन करे ।

मनुस्मृतौ

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥२९३॥

[भूकम्प आदि] उत्पातके निमित्त और नक्षत्र एवं [अंगरेखा आदि] शारीरिक चिह्नोंके फल दिखलाकर तथा उपदेश और शास्त्रार्थद्वारा कभी भिक्षा पानेका लोभ न करे ।

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥२९४॥

यदि कोई पदार्थ आदरपूर्वक प्राप्त होते हों तो उनका सब प्रकार निरादर ही करे, क्योंकि सत्कारकी प्राप्तिसे तो यति, मुक्त होनेपर भी, पुनः बन्धनमें पड़ जाता है ।

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जते ॥२९५॥

केवल एक समय ही भिक्षाटन करे, भिक्षाके विशेष विस्तारमें आसक्त न हो। जो यति भिक्षामें ही आसक्त होता है उसका विषयोंमें भी राग हो जाता है।

दत्तात्रेयस्मृतौ

याचितायाचिताभ्यां च भिक्षाभ्यां कल्पयेत्स्थितिम्।
माधुकरं याचितं स्यात्प्राक्प्रणीतमयाचितम्॥२९६॥

यतिको याचित और अयाचित दो प्रकारकी भिक्षाओंसे ही निर्वाह करना चाहिये। इनमें माधुकरी याचित भिक्षा है और प्राक्प्रणीत (माँगनेसे पहले प्राप्त हुई भिक्षा) अयाचित कहलाती है।

उशनःस्मृतौ

माधुकरमसङ्क्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम्।
तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम्॥२९७॥

बिना सङ्कल्पके प्राप्त हुआ माधुकर, प्राक्प्रणीत, अयाचित तात्कालिक और उपपन्न—यह पाँच प्रकारकी भिक्षा मानी गयी है।

मनःसङ्कल्परहितान् गृहांस्त्रीन्पञ्च सप्त वा।
मधुवदाहरणं यत्तन्माधुकरमिति स्मृतम्॥२९८॥

मधुकर जैसे भिन्न-भिन्न पुष्पोंसे मधु ले आता है उसी प्रकार जिनका मनमें कोई सङ्कल्प न हो ऐसे तीन, पाँच या सात घरोंसे, भिक्षा माँग लाना 'माधुकर' कहलाता है।

शयनोत्थापनात्प्राग्यत् प्रार्थितं भक्तिसंयुतैः।
तत्प्राक्प्रणीतमित्याह भगवानुशना मुनिः॥२९९॥

सोनेसे उठनेके पूर्व ही जो भक्तिसम्पन्न पुरुषोंद्वारा प्रार्थित होती है उसे भगवान् उशना मुनिने 'प्राक्प्रणीत' कहा है।

भिक्षाटनसमुद्योगात्प्राकेनापि निमन्त्रितम्।
अयाचितं तु तद्भैक्षं भोक्तव्यं मनुरब्रवीत् ॥३००॥

भिक्षाटनके उद्योगसे पूर्व ही यदि कोई निमन्त्रित कर दे तो उसे 'अयाचित' कहते हैं। मनुजीने वह भिक्षा ग्रहण करनेयोग्य बतलायी है।

उपस्थानेन यत्प्रोक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन हि।
तात्कालिकमिति ख्यातं तदत्तव्यं मुमुक्षुणा ॥३०१॥

जब कोई ब्राह्मण [भिक्षाटनकालमें] अपने समीप आकर भिक्षाके लिये कहे तो उसे 'तात्कालिक' भिक्षा कहा है। मुमुक्षुको उसे ग्रहण करना चाहिये।

सिद्धमन्नं भक्तजनैरानीतं यन्मठं प्रति।
उपपन्नं तदित्याहुर्मुनयो मोक्षकाङ्क्षिणः ॥३०२॥

जिस सिद्ध (पके हुए) अन्नको भक्तजन अपनी कुटीपर ही ले आवें उसे मोक्षकामी मुनियोंने 'उपपन्न' बतलाया है।

भिक्षाः पञ्चविधा ह्येताः सोमपानसमाः स्मृताः।
तासामेकतमयापि वर्तयन् सिद्धिमाप्नुयात् ॥३०३॥

ये पाँच प्रकारकी भिक्षाएँ सोमपानके समान ही मानी गयी हैं। उनमेंसे किसी एकका भी आश्रय लेनेसे पुरुष सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

संवर्तस्मृतौ

अष्टौ भिक्षाः समादाय स मुनिः सप्त पञ्च वा ।
अद्भिः प्रक्षाल्य ताः सर्वास्ततोऽश्नीयाच्च वाग्यतः॥२०४॥

वह मुनि आठ, सात अथवा पाँच घरकी भिक्षा लाकर उन सबको जलसे धोवे और फिर मौन होकर भोजन करे ।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ

सम्भवे बहुगेहानां न तु तेष्वेव नित्यशः ।
भिक्षाटनमुपक्रम्य क्वचिल्लोभेन भैक्षभुक् ।
नातिक्रमेद्गृहं मोहाद्यत्र बाधो न विद्यते ॥२०५॥

भिक्षुकको चाहिये कि बहुत-से घर होनेपर लोभवश नित्य-प्रति उन्हीं-उन्हीं घरोंमें [जहाँ भिक्षा मिलती हो] भिक्षाटन करता हुआ, मोहवश ऐसे किसी घरका कभी उल्लंघन न करे जहाँ किसी प्रकारकी बाधा न हो ।

गृहातिक्रमणं कुर्याद्यत्र लोभादिना यतिः ।
प्राणायामशतं कुर्यात्प्रायश्चित्तं तथा यतिः ॥२०६॥

जब लोभादिके कारण यति घरोंका अतिक्रमण करे तो उसे सौ प्राणायाम और उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये ।

दत्तात्रेयस्मृतौ

भिक्षाटने स्त्रियः काश्चिच्छ्रोत्रियाणां गृहे गृहे ।
तासां विलोकनं कार्यं यथा मातुः स्वसुस्तथा ॥२०७॥

भिक्षाटनके समय, श्रोत्रिय ब्राह्मणोंके घर-घरमें जो स्त्रियाँ रहती हैं उन्हें माता और भगिनीके समान देखना चाहिये।

आत्मसम्मितमाहारमाहरेदात्मवान् यतिः।
अत्यन्तक्षुधितस्यापि समाधिर्नैव जायते ॥३०८॥

जितेन्द्रिय यतिको अपने पोषणयोग्य आहार ले आना चाहिये, क्योंकि अत्यन्त भूखे मनुष्यको भी समाधि सिद्ध नहीं हो सकती।

यमस्मृतौ

आहारस्य चतुर्भागमर्द्धं वाप्याहरेद्यतिः।
युवा चैवारुजः शक्तः प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ॥३०९॥

युवा, नीरोग तथा शक्तिसम्पन्न यतिको अपने आहारका चौथाई या आधा भाग ही लाना चाहिये; भोजनकी आसक्तिका सदा ही त्याग करे।

अन्नसङ्गाद्बलं दर्पो विषयासक्तिरेव च।
कामः क्रोधस्तथा लोभः पतनं नरके तथा ॥३१०॥

भोजनकी आसक्तिसे बल, अभिमान और विषयासक्ति हो जाती है तथा उसीसे काम, क्रोध, लोभ और नरकमें पतन भी होता है।

अत्रिस्मृतौ

अनिन्द्यं वै व्रजेद्गेहं निन्द्यं गेहं तु वर्जयेत्।
अनावृते विशेद्द्वारि गेहे नैवावृते व्रजेत् ॥३११॥

जो घर निन्दनीय न हो उसीमें [भिक्षा माँगनेके लिये] जाय—निन्दनीय घरका सर्वदा त्याग करे। जो द्वार खुला हुआ हो उसीमें प्रवेश करे—बन्द घरमें कभी न जाय।

न वीक्ष्येद्द्वाररन्ध्रेण भिक्षां लिप्सुः क्वचिद्यतिः।
न कुर्याद्वै क्वचिद्घोषं न द्वारं ताडयेत् क्वचित् ॥२१२॥

यतिको भिक्षाके लोभसे कहीं द्वारके छेदमें होकर नहीं झाँकना चाहिये। उसे कभी किसी प्रकारका शब्द भी नहीं करना चाहिये और न कहीं दरवाजा ही खटखटाना चाहिये।

मेधातिथिस्मृतौ

अकार्पण्यं तु बह्वन्नं मन्यन्ते यत्र मानवाः।
निरीक्ष्यन्ते त्वनुद्विग्नास्तद्गृहं यत्नतो व्रजेत् ॥२१३॥

जिस घरके लोग उदारताको ही बहुत बड़ा अन्न मानते हों और कभी उदास न दिखायी देते हों उसमें यतिको प्रयत्नपूर्वक जाना चाहिये।

शौनकस्मृतौ

पीडयित्वापि स्वात्मानमल्पान्नं सम्प्रयच्छति।
सा भिक्षा हिंसिता ज्ञेया तादृशीं वर्जयेद्यतिः ॥२१४॥

यदि कोई अपने चित्तको पीडित करके थोड़ा-सा अन्न दे भी दे तो वह भिक्षा हिंसायुक्त मानी जाती है। ऐसी भिक्षाका यतिको त्याग करना चाहिये।
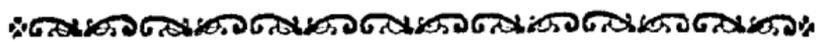
पञ्चाहं सप्तरात्रं वा यत्र भिक्षा न लभ्यते ।
तद्गृहं वर्जयेद्भिक्षुश्चाण्डालगृहवत्सदा ॥३१५॥

जिस घरमें पाँच दिन या सात रात्रि भिक्षा न मिले उसका भिक्षुको चाण्डालके घरके समान सर्वदा त्याग करना चाहिये ।

अत्रिस्मृतौ

गोदोहमन्नपाकं वा सक्तुपेषणमेव वा ।
एकं कालं प्रतीक्षेत दर्शनेन विना यतिः ॥३१६॥

यदि कोई घरका पुरुष दिखायी न दे तो यतिको गोदोहन, [एक भिक्षाके योग्य] अन्नपाक अथवा सत्तू पीसनेके कालपर्यन्त प्रतीक्षा करनी चाहिये ।

क्षणमेकं न तिष्ठेद्वै गृहिणो दर्शनाद्यतिः ।
ससम्भ्रमं च नेक्षेत भिक्षादानार्थमुत्तमम् ॥३१७॥

किन्तु गृहीको देख लेनेपर तो यतिको एक क्षण भी नहीं ठहरना चाहिये । और किसी उत्तम गृहस्थकी ओर भिक्षादानके लिये सम्भ्रम (उत्सुकता) पूर्वक देखना भी नहीं चाहिये ।

न कुप्येन्न च कम्पेत न हृष्येन्नैव कुत्सयेत् ।
अतिक्रम्य गृहं लोभान्न पुनस्तद्गृहं विशेत् ॥३१८॥

यतिको न तो क्रोध करना चाहिये, न काँपना चाहिये । न हर्षित होना चाहिये और न निन्दा ही करनी चाहिये तथा किसी घरसे आगे निकल जानेपर फिर लोभवश उसी घरमें प्रवेश नहीं करना चाहिये ।

मेधातिथिस्मृतौ

अदुष्टापतितं साधुं यतिर्यः परिवर्जयेत् ।
स तस्य सुकृतं दत्त्वा दुष्कृतं प्रतिपद्यते ॥३१९॥

जो यति अदुष्ट, अपतित और साधु गृहस्थका त्याग करता है वह उसे अपना शुभकर्म देकर बदलेमें उसका दुष्कर्म पाता है ।

तथैव च गृहस्थस्य निराशो भिक्षुको गतः ।
हुतं दत्तं तपोऽधीतं सर्वमादाय गच्छति ॥३२०॥

इसी प्रकार यदि गृहस्थके यहाँसे कोई भिक्षु निराश होकर चला जाय तो वह उसके हवन, दान, तप और स्वाध्याय—इन सभीको ले जाता है ।

बौधायनस्मृतौ

चरेन्माधुकरीं वृत्तिं यतिर्म्लेच्छगृहादपि ।
एकान्नं तु न भुञ्जीत बृहस्पतिसमादपि ॥३२१॥

यतिको माधुकरी तो म्लेच्छके यहाँसे भी ले लेनी चाहिये, किन्तु एकका अन्न किसी बृहस्पतिके समान व्यक्तिका हो तब भी न खाना चाहिये ।

भैक्ष्यं सर्वेषु वर्णेषु एकान्नं वा द्विजेषु च ।
न चैकान्नं द्विजेषु स्यात्कामं स्यात्सार्ववर्णिकम् ॥३२२॥

यदि समस्त वर्णोंमें भिक्षा करनेका अथवा द्विजातिमें केवल एकका अन्न ग्रहण करनेका अवसर आ पड़े तो समस्त वर्णोंकी
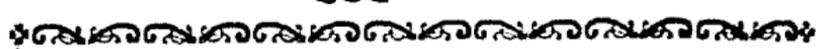
भिक्षा भले ही स्वीकार कर ले, किन्तु द्विजातियोंमें भी एकका अन्न ग्रहण न करे।

अत्रिस्मृतौ

श्रोत्रियान्नं न भिक्षेत श्रद्धाभक्तिबहिष्कृतम्।
व्रात्यस्यापि गृहे भिक्षेच्छ्रद्धाभक्तिपुरस्कृतम् ॥३२३॥

उसे श्रद्धा-भक्तिके बिना तो श्रोत्रियका भी अन्न नहीं लेना चाहिये; किन्तु यदि श्रद्धा-भक्तिपूर्वक दे तो संस्कारहीनके घरसे भी ले आना चाहिये।

मनुस्मृतौ

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥३२४॥

गर्भाधानके आठवें वर्ष ब्राह्मणका, गर्भसे ग्यारहवें वर्ष क्षत्रियका तथा गर्भसे बारहवें वर्षमें वैश्यका उपनयन-संस्कार करे।

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥३२५॥

ब्राह्मणके लिये सोलह वर्षसे, क्षत्रियके लिये बाईस वर्षसे और वैश्यके लिये चौबीस वर्षसे अधिक गायत्री-उपदेशका समय नहीं है।

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥३२६॥

इससे अधिक आयु हो जानेपर यथासमय संस्कार न होनेके कारण ये गायत्रीके अधिकारसे भ्रष्ट होकर व्रात्य (संस्कारहीन) तथा आर्यजनोंसे निन्दित हो जाते हैं ।

अत्रिस्मृतौ

द्वावेवाश्रमिणौ भोज्यौ वानप्रस्थो गृही तथा ।
अभोज्यमन्नमन्येषां सर्वेषामपि लिङ्गिनाम् ॥३२७॥

वानप्रस्थ और गृहस्थ—इन दो आश्रमियोंका ही अन्न खाना चाहिये, अन्य सब लिङ्गधारियों (आश्रमियों) का अन्न अभोज्य है ।

बृहस्पतिस्मृतौ

यत्यन्नं ब्रह्मचार्यन्नमवीरान्नं तथैव च ।
शूद्रान्नं च तथा भिक्षुर्वर्जयेत्परदारवत् ॥३२८॥

यतिको यति, ब्रह्मचारी, अवीर (जातिच्युत) और शूद्रके अन्नका परस्त्रीके समान त्याग करना चाहिये ।

व्यासस्मृतौ

यत्यन्नं तु न भोक्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
गोमांसेन समं ज्ञेयं सुराबिन्दुसमं जलम् ॥३२९॥

यतिका अन्न तो प्राणोंके कण्ठगत हो जानेपर भी न खाना चाहिये । उसका अन्न गोमांसके समान तथा जल मदिराकी बूँदके समान समझना चाहिये ।
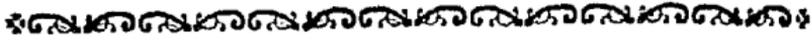
जाबालवाक्यम्

स्वधर्मात्प्रच्युता ये वै पुरुषा योषितोऽपि वा ।
अवीरास्ते सदा ज्ञेया नित्यं सद्भिर्विगर्हिताः ॥३३०॥

जो पुरुष या स्त्री अपने धर्मसे पतित हो जाते हैं वे ही सर्वदा सत्पुरुषोंसे निन्दित 'अवीर' माने गये हैं ।

मेधातिथिस्मृतौ

ब्राह्मणक्षत्रियविशां मेध्यानां भैक्षमाचरेत् ।
तत्राप्यसम्भवे पूर्वादाददीतोत्तरोत्तरात् ॥३३१॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—जो पवित्र वर्ण हैं उन्हींसे भिक्षा माँगे । उनमें भी पूर्व-पूर्वसे मिलनी असम्भव होनेपर ही पीछेवालोंसे ले ।

द्विजाभावे तु सम्प्राप्ते उपवासत्रयं गते ।
भैक्षं शूद्रादपि ग्राह्यं रक्षेत्प्राणान् द्विजोत्तमः ॥३३२॥

जिस समय द्विजातिका अभाव हो और तीन दिन उपवास ते हो जायँ तब शूद्रसे भी भिक्षा ले लेनी चाहिये । इस प्रकार श्रेष्ठ द्विजको अपने प्राणोंकी रक्षा करनी ही चाहिये ।

पराशरस्मृतौ

दासनापितगोपालकुलमित्रार्द्धसीरिणः ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्नाः यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥३३३॥

शूद्रोंमें दास, नाई, ग्वाले, कुर्मी तथा दूसरेके साझेमें हल जोतनेवाले और जिसने अपनेको समर्पण कर दिया हो उन सबका अन्न खाया जा सकता है ।

मद्यमांसरतं नित्यं नीचकर्मप्रवर्तकम् ।
तं शूद्रं वर्जयेद्दूरं श्वपाकमिव दूरतः ॥२२४॥

जो निरन्तर मद्य-मांसमें ही रत रहता हो तथा नीच कर्मोंका प्रवर्तक हो उस शूद्रका चाण्डालके समान दूरहीसे त्याग करना चाहिये ।

द्विजशुश्रूषणरतान्मद्यमांसविवर्जितान् ।
स्वकर्मनिरतान्नित्यं शूद्रान्नान्नं त्यजेद्बुधः ॥२२५॥

जो द्विजातिकी सेवामें तत्पर हो, मद्य-मांससे बचा हुआ हो तथा अपने कर्ममें लगा हुआ हो, बुद्धिमान् पुरुषको उस शूद्रके अन्नका त्याग नहीं करना चाहिये ।

अत्रिस्मृतौ

कुटुम्बसङ्कटं चैव मलिनोपहतं गृहम् ।
पीडयान्नं प्रयच्छेद्यस्तद्गृहं वर्जयेद्यतिः ॥२२६॥

जिसका परिवार [आयकी अपेक्षा] बहुत बड़ा हो और घर अत्यन्त मैलकुचैला हो तथा जो दुःख मानकर अन्न देता हो उसके घरका यतिको त्याग करना चाहिये ।

नाश्नन्ति ह्यशुचेर्देवा नाश्नन्ति वृषलीपतेः ।
स्त्रीजितान्नं न चाश्नन्ति तदन्नं वर्जयेद्यतिः ॥२२७॥

देवतालोग अपवित्र पुरुषके घरका अन्न नहीं खाते, और न वे वृषलीके* पति तथा स्त्रीजित पुरुषका ही अन्न खाते हैं; इसलिये इनके अन्नका यतिको भी त्याग करना चाहिये ।

---

* जिस कन्याका विवाह रजोदर्शनके पीछे होता है उसे 'वृषली' कहते हैं ।

चिकित्सकस्य मृगयाशल्यहर्तुश्च पाशिनः ।
कुलटापण्ढयोरन्नमुद्यतं सन्त्यजेद्यतिः ॥३३८॥

चिकित्सक, मृगयाके लिये बाण ले चलनेवाले, फाँसी लगानेवाले तथा कुलटा और नपुंसकके अन्नको यति उपस्थित होनेपर भी त्याग दे ।

या तु पर्युषिता भिक्षा नैवेद्ये कल्पिता तु या ।
तामभोज्यां विजानीयाद्दाता च नरकं व्रजेत् ॥३३९॥

जो भिक्षा बासी हो अथवा किसी देवताको नैवेद्य (उपहार) करके मानी गयी हो उसे अभोज्य जाननी चाहिये । उसे देनेवाला नरकको जाता है ।

आयसेन तु पात्रेण यदन्नमुपदीयते ।
भोक्ता विष्ठासमं भुङ्क्ते दाता च नरकं व्रजेत् ॥३४०॥

जो अन्न लोहेके पात्रसे दिया जाता है उसे खानेवाला तो विष्ठाके समान खाता है और देनेवाला नरकगामी होता है ।

उद्यतामाहृतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ।
भोज्यां प्रजापतिर्मेने अपि दुष्कृतकर्मणः ॥३४१॥

पहलेसे जिसकी कोई सूचना न दी गयी हो ऐसी स्वयं ही उपस्थित अथवा लायी हुई भिक्षा, यदि किसी दुष्कर्मीकी भी हो तो भी ब्रह्माजीने उसे भोज्य माना है ।

पितामहवाक्यम्

सौवर्णलौहरौप्येषु ताम्राद्यश्ममयेषु च ।
अश्नन् भिक्षुर्न दुष्येत दुष्यते तु परिग्रहात् ॥३४२॥

सुवर्ण, लोहे या चाँदीके पात्रोंमें, अथवा ताँबे या पत्थरके बर्तनोंमें भोजन करनेसे भिक्षुको दोष नहीं होता; उसे तो परिग्रह करनेमें ही दोष है ।

आदित्यपुराणे

एकवासा विशुद्धात्मा मन्दगामी युगान्तदृक् ।
यथालब्धं तदश्नीयात्पूजासंस्कारवर्जितः ॥३४३॥

एक वस्त्रधारी, विशुद्धचित्त, मन्दगामी तथा एक युग (चार हाथ) पर्यन्त दृष्टि रखनेवाला भिक्षु पूजा या संस्कारसे रहित रहकर, जो कुछ मिल जाय उसीको खा ले ।

विष्णुस्मृतौ

यदि भैक्षं समादाय पर्युषेद्योगवित्तमः ।
स पर्युषितदोषेण भिक्षुर्भवति किल्बिषी ॥३४४॥

यदि कोई योगवेत्ता भिक्षा लेकर उसे बासी कर दे [अर्थात् दूसरे दिनतक रहने दे] तो उसे बासी करनेके दोषसे ही वह दूषित हो जाता है ।

नारदवाक्यम्

हव्यं कव्यं च राजेन्द्र नाश्नीयादात्मवान्यतिः ।
हव्यकव्यपरो भिक्षुः पतत्येव न संशयः ॥३४५॥

हे राजेन्द्र! आत्मज्ञ यतिको हव्य (देवताओंको समर्पण की हुई वस्तु) या कव्य (पितरोंको समर्पण की हुई वस्तु) नहीं खाना चाहिये। हव्यकव्यका सेवन करनेवाला भिक्षु पतित हो ही जाता है—इसमें सन्देह नहीं।

श्राद्धभोजी यतिर्नित्यमाशु गच्छति शूद्रताम्।
तादृशं कश्मलं दृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत्॥३४६॥

श्राद्धमें भोजन करनेवाला यति शीघ्र ही शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता है ऐसे पापको देखकर वस्त्रसहित जलमें प्रवेश [करके स्नान] करना चाहिये।

जैमिनिस्मृतौ

श्राद्धान्नं यस्य कुक्षौ तु मुहूर्त्तमपि वर्तते।
भिक्षोश्चत्वारि नश्यन्ति आयुः प्रज्ञा यशो बलम्॥३४७॥

जिस भिक्षुके उदरमें श्राद्धका अन्न एक मुहूर्त भी रह जाता है उसके आयु, बुद्धि, यश और बल चारों नष्ट हो जाते हैं।

बृहस्पतिस्मृतौ

श्रवणं मननं ध्यानं स्वाध्यायं ज्ञानमेव च।
सन्ध्ये नश्वरतां यान्ति सकृच्छ्राद्धान्नभोजनात्॥३४८॥

श्रवण, मनन, ध्यान, स्वाध्याय, ज्ञान और दोनों समयकी सन्ध्या—ये सब एक बार श्राद्धान्न खा लेनेसे ही नष्ट हो जाते हैं।

अन्तःकरणशुद्धिस्तु न स्यात्तस्यैव सर्वदा।
यदान्नं प्रेतयोग्यं च भवेत्सङ्कल्पमात्रतः॥३४९॥

जब वह श्राद्धान्न संकल्पमात्रसे ही प्रेतके योग्य हो जाता है तो उससे श्राद्धभोजी पुरुषके अन्तःकरणकी शुद्धि कभी नहीं हो सकती।

परान्नं नैव गृह्णीयाद्भिक्षुः स्वाश्रमपालकः।
परान्नवर्जनादेव भिक्षुर्भिक्षुरिति स्मृतः ॥३५०॥

अपने आश्रमधर्मका पालन करनेवाला भिक्षु पराया अन्न कभी ग्रहण न करे। भिक्षु पराये अन्नका त्याग करनेके कारण ही भिक्षु माना गया है।

यतिके भिक्षापात्रका विवेचन

याज्ञवल्क्यस्मृतौ

यतिपात्राणि मृद्वेणुदार्वलाबुमयानि च।
सलिलं शुद्धिरेतेषां गोबालैश्चावघर्षणम् ॥३५१॥

यतिके पात्र मृत्तिका, बाँस और तूँबेके होते हैं। उनकी शुद्धिका साधन जल तथा गोके बालोंसे माँजना है।

अत्रिस्मृतौ

मृद्दार्वलाबुजं पात्रं वैणवं तान्तवौपले।
पार्णं तार्णं तथा क्षौमं पात्रं पर्णपुटं तथा।
उक्तानि यतिपात्राणि ब्रह्मणा विश्वयोनिना ॥३५२॥

विश्वविधाता ब्रह्माजीने यतिके लिये मिट्टी, काष्ठ और अलाबु (तूँबे) के, तथा बाँस, तन्तु (सूत), पत्थर, पत्ते, तृण, रेशम और पत्तोंके दोनेके पात्र बतलाये हैं।

करे कर्पटके चैव आयसे ताम्रभाजने ।
भुञ्जन् भिक्षुर्न लिप्येत लिप्यन्ते गृहमेधिनः ॥३५३॥

हाथ, वस्त्र अथवा लोहे या ताँबेके पात्रमें भोजन करनेसे यतिको तो पापका लेप नहीं होता; हाँ, गृहस्थियोंको अवश्य होता है।

विद्वान् यतिकी भिक्षाविधि

शौनकस्मृतौ

पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद्भैक्षमाचरेत् ।
तिष्ठन्भुञ्ज्याच्चरन्भुञ्ज्यान्मध्येनाचमनं तथा ॥३५४॥

अपने हाथोंको ही पात्र बनाकर विचरनेवाला योगी बारम्बार भिक्षा न माँगे । वह बैठे-बैठे अथवा चलते-चलते ही भोजन कर ले और बीच-बीचमें जल पी ले ।

गौतमस्मृतौ

पात्रमस्य भवेत्पाणिस्तेन नित्यं गृहानटेत् ।
हविः प्राश्य यथाचम्य निराहारो भवेद्गृही ।
प्राश्याचम्य तथा भिक्षुर्निराहारो गृहे गृहे ॥३५५॥

हाथ ही यतिका पात्र है उसीसे वह नित्य-प्रति घरोंमें भिक्षाटन करे । जिस प्रकार गृहस्थ हवि खाकर आचमन करनेसे निराहार ही रहता है उसी प्रकार घर-घरमें खाकर आचमन करनेसे भिक्षु निराहार ही रहता है ।

वसिष्ठस्मृतौ

भिक्षाटनं प्रकुर्वाणो ह्यमेध्यं श्वादि वा स्पृशेत् ।
भिक्षां गृहीत्वा स्नात्वा च प्राणायामान्षडाचरेत् ॥३५६॥

भिक्षाटन करते समय यदि उसका श्वान आदि अपवित्र जीवोंसे स्पर्श हो जाय तो भिक्षा लिये हुए ही स्नान करे और फिर छः प्राणायाम करे ।

अमेध्यनिचयं चैव स्पृष्ट्वा दैवलकं यतिः ।
सपात्रो विधिवत् स्नात्वा विष्णुं ध्यात्वा विमुच्यते ॥३५७॥

अपवित्र वस्तुओंके समूह तथा देवोपजीवी पुरुषका स्पर्श करनेपर यति पात्रके सहित विधिपूर्वक स्नान तथा विष्णुका ध्यान करनेपर उस दोषसे मुक्त हो जाता है ।

पादत्राणे स्थितौ पादावस्पृश्यं स्पृशतो यदि ।
पादत्राणपरित्यागे आचान्तः शुद्धिमाप्नुयात् ॥३५८॥

यदि जूते पहने हुए पैरोंसे कोई अस्पृश्य वस्तु लग जाय तो जूता उतारनेके अनन्तर आचमन करनेसे शुद्धि हो जाती है ।

उदक्याशावचाण्डालचौरनग्नकपालिभिः ।
स्पृष्टां भिक्षां त्यजेद्भिक्षुः सचैलो जलमाविशेत् ॥३५९॥

रजस्वला स्त्री, शवके साथ जानेवाले लोग, चाण्डाल, चोर, नग्न (नास्तिक) और कापालिकोंसे स्पर्श होनेपर भिक्षु भिक्षाको त्याग दे और वस्त्रोंसहित जलमें घुस जाय ।

कुड्ये काष्ठे रथे मञ्चे नौकायां गजवृक्षयोः ।
तृणौघजलसङ्घाते स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते ॥२६०॥

भींत, काठ, रथ, मञ्च, नौका, हाथी, वृक्ष, तृणसमूह और जलराशिमें छूआछूत नहीं होती ।

जमदग्निस्मृतौ

श्वकाकक्रोडवेश्याविखरोष्ट्रस्पर्शने यतिः ।
सभिक्षस्तु जले मग्नः शुध्येज्जप्त्वाघमर्षणम् ॥२६१॥

कुत्ता, काक, शूकर, वेश्या, भेड़, गधा और ऊँट—इनसे स्पर्श हो जानेपर यति भिक्षाके सहित जलमें डुबकी लगाकर अघमर्षणमन्त्र जपनेसे शुद्ध होता है ।

पराशरस्मृतौ

मार्जारमक्षिकाकीटपतङ्गक्रिमिदर्दुराः ।
मेध्यामेध्यं स्पृशन्तोऽपि नोच्छिष्टं मनुरब्रवीत् ॥२६२॥

बिलाव, मक्खी, कीट, पतंग, कीड़ा और मेंढक—ये पवित्र अथवा अपवित्र पदार्थोंका स्पर्श करें तो भी मनुजीने उससे उच्छिष्ट नहीं माना ।

यमस्मृतौ

अष्टौ ग्रासा यतेः प्रोक्ताः षोडश वनवासिनः ।
द्वात्रिंशत्तु गृहस्थानां यथेष्टं ब्रह्मचारिणः ॥२६३॥

यतिके लिये आठ ग्रास कहे गये हैं तथा वानप्रस्थके लिये

सोलह, गृहस्थके लिये बत्तीस और ब्रह्मचारीके लिये यथेष्ट ग्रासोंका विधान है ।

आप्तवाक्यम्

चतुरङ्गुलमुत्सेधं चतुरङ्गुलमायतम् ।
एतद्ग्रासप्रमाणं तु व्याघ्रेण परिभाषितम् ।
भङ्क्त्वा भङ्क्त्वोपभुञ्जीत नियमार्थं यतिरात्मवान् ॥

चार अंगुल लम्बा और चार अंगुल चौड़ा—यह व्याघ्रमुनिने ग्रासका परिमाण कहा है । आत्मवान् यति नियममें रहनेके लिये इस प्रकार विभाग करके भोजन करे ।

भिक्षाकी प्रशंसा

मनुस्मृतौ

नापो मूत्रपुरीषाभ्यां नाग्निर्दहनकर्मणा ।
न वायुः स्पर्शदोषेण नान्नदोषेण मस्करी ॥३६५॥

मल-मूत्रसे जल, दहनकार्यसे अग्नि, स्पर्शदोषसे वायु तथा अन्नदोषसे यति दूषित नहीं होता है ।

यमस्मृतौ

गङ्गातोयाभिषिक्तां च भिक्षां योऽश्नाति योगवित् ।
न तु क्रतुशतैरिष्टं फलं प्राप्नोति मानवः ॥३६६॥

जो योगवेत्ता गंगाजलमें भिगोई हुई भिक्षा खाता है उसके समान मनुष्य सौ यज्ञ करनेसे भी फल नहीं पाता ।
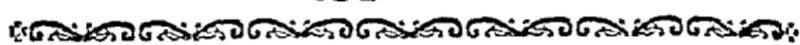
गङ्गातोयं च भैक्षं च वैष्णवान्नं विशेषतः ।
आनखान्मोचयेत्पापं मन्त्रपूतं हविर्यथा ॥३६७॥

गंगाजल, भिक्षान्न और विशेषतः वैष्णवका अन्न—ये भिक्षुके नखसे शिखापर्यन्त सम्पूर्ण पाप दूर कर देते हैं; जैसे कि मन्त्रोंसे पवित्र किया हुआ हवि ।

शातातपस्मृतौ

भिक्षा माधुकरी नाम सर्वपापप्रणाशिनी ।
अवधूता च पूता च सोमपानं दिने दिने ॥३६८॥

माधुकरी नामकी भिक्षा सभी पापोंको नष्ट करनेवाली है । वह त्यागमयी और परम पवित्र है तथा प्रतिदिन सोमपान करनेके समान है।

भिक्षाहारो निराहारो भिक्षा नैव प्रतिग्रहः ।
श्रोत्रियान्नं च भैक्षं च हुतशेषं च यद्धविः ।
आनखाच्छोधयेत्पापं तुषाग्निरिव काञ्चनम् ॥३६९॥

भिक्षाहार करनेवाला निराहारके समान है, भिक्षा प्रतिग्रह नहीं है । श्रोत्रियका अन्न, भिक्षान्न तथा हवनसे बचा हुआ हवि—ये शिखासे नखतक सम्पूर्ण पापोंका शोधन कर देते हैं; जैसे तुषकी अग्नि सुवर्णको शुद्ध कर देती है।

गङ्गायाः सलिलं पुण्यं शालग्रामशिला तथा ।
भिक्षान्नं पञ्चगव्यं च पवित्राणि युगे युगे ॥३७०॥

परम पावन गंगाजल, शालग्रामशिला, भिक्षान्न और पञ्चगव्य—ये युग-युगमें पवित्र हैं ।
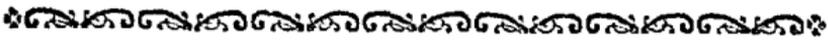
याज्ञवल्क्यस्मृतौ

नक्तात्परश्चोपवास उपवासादयाचितम् ।
अयाचितात्परं भैक्षं तस्माद्भैक्षेण वर्त्तयेत् ॥३७१॥

नक्त (दिनमें भोजन न करके केवल रात्रिके समय भोजन करने) से उपवास श्रेष्ठ है, उपवाससे अयाचितवृत्ति उत्कृष्ट है तथा अयाचितसे भिक्षा माँगना उत्तम है । इसलिये सदा भिक्षा-वृत्तिसे रहे ।

निषिद्धाचारी यतिकी निन्दा

आप्तवाक्यम्

तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ।
भिक्षामात्रेण यो जीवेत्स पापी यतिवृत्तिहा ॥३७२॥

जो तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य और शमादि गुणोंसे हीन रहकर केवल भिक्षाके आश्रयसे ही जीवित रहता है वह पापात्मा यति-वृत्तिको नष्ट करनेवाला है ।

एकान्नाशी भवेद्यस्तु कदाचिल्लम्पटो यतिः ।
तस्य वै निष्कृतिर्नास्ति प्रायश्चित्तायुतैरपि ॥३७३॥

जो यति भोजनमें आसक्त होकर एक ही व्यक्तिका अन्न खाने लगता है उसका हजारों प्रायश्चित्तोंसे भी छुटकारा नहीं हो सकता ।

असमर्थ भिक्षुके लिये भिक्षा-विधि

पराशरस्मृतौ

यतीनामातुराणां च वृद्धानां दीर्घरोगिणाम् ।
एकान्ने नैव दोषोऽस्ति एकस्यापि दिने दिने ॥३७४॥

जो यति दुःखी, वृद्ध अथवा पुराने रोगी हों उन्हें रोज-रोज एकके अथवा एक ही अन्नके खानेमें भी दोष नहीं है ।

क्रतुस्मृतौ

अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत् ।
निमन्त्रितोऽथवाश्नीयात्स्वगुणं न प्रकाशयेत् ॥३७५॥

बिना माँगे जो कुछ स्वयं मिल जाय वही यतिका भोजन-वस्त्रादि होना चाहिये । अथवा वह किसीसे निमन्त्रित होनेपर भी भोजन कर सकता है; किन्तु उसे अपना गुण प्रकट न करना चाहिये ।

सुजीर्णोऽतिकृशो योगी देशान्ताद्विकलेन्द्रियः ।
पुत्रमित्रगुरुभ्रातृपत्नीभ्यो भैक्षमाहरेत् ॥३७६॥

जो योगी अति वृद्ध, कृश अथवा विकलेन्द्रिय हो वह अन्य देशमें रहता हुआ अपने पुत्र, मित्र, गुरु, भाई या पत्नीसे भी भिक्षा ले सकता है ।

समर्थ यतिकी भिक्षाविधि

दत्तात्रेयस्मृतौ

कृते देशं त्यजेद्ग्रामं त्रेतायां द्वापरे कुलम् ।
कर्त्तारं तु कलौ दुष्टं त्यक्त्वा भैक्षं समाचरेत् ॥३७७॥

सत्ययुगमें [दुष्ट पुरुषसे सम्बन्धित] देशका, त्रेतामें ग्रामका, द्वापरमें कुलका और कलियुगमें केवल दुष्कर्म करनेवालेका त्याग करके भिक्षावृत्तिका आचरण करे ।

आङ्गिरःस्मृतौ

संन्यासं चैव यः कृत्वा पुनरुत्तिष्ठते द्विजः ।
न तस्य निष्कृतिः कार्या स्वधर्मात्प्रच्युतस्य वै ॥३७८॥

जो द्विज एक बार संन्यास करके फिर उससे उत्थान करता है, अपने धर्मसे गिरे हुए उस यतिके उद्धारके लिये कोई उपाय नहीं हो सकता ।

विष्णुस्मृतौ

आरूढो नैष्ठिकं धर्मं पुनरावर्त्तयेद्यदि ।
आरूढपतितो ज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥३७९॥

यदि नैष्ठिक धर्ममें आरूढ हुआ पुरुष फिर लौट आवे तो उसे आरूढपतित (चढ़कर गिरा हुआ) समझना चाहिये । वह सब धर्मोंसे बहिष्कृत होता है ।

चाण्डालाः प्रत्यवसिताः परिव्राजकतापसाः ।
तेषां जातान्यपत्यानि चाण्डालैः सह वासयेत् ॥३८०॥

यतिधर्मसे लौटे हुए परिव्राजक और तपस्वी चाण्डाल ही हैं। उनसे उत्पन्न हुए पुत्रोंको चाण्डालोंके साथ ही बसाना चाहिये।

अङ्गिरःस्मृतौ

आरूढपतितो हन्ति दश पूर्वान्दशापरान् ।
निस्तारयति तानेव यो हि सम्यग्व्यवस्थितः ॥३८१॥

आरूढपतित भिक्षु अपनी दश पहली और दश पीछेकी पीढ़ियोंको नष्ट कर देता है; किन्तु जो अपने धर्ममें भली प्रकार स्थित है वह उन्हींको तार देता है ।

परमहंसोपानिषदि

काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः ।
स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञकान् ॥३८२॥

जिसने केवल काष्ठका दण्ड धारण किया है, किन्तु जो सब कुछ खानेवाला और ज्ञानसे रहित है वह महारौरवनामक घोर नरकोंमें जाता है ।

दक्षस्मृतौ

पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।
श्वपादेनाङ्कयित्वा तं राजा शीघ्रं प्रवासयेत् ॥३८३॥

जो पुरुष संन्यास ग्रहण करके अपने धर्ममें स्थित नहीं रहता, राजाको चाहिये कि उसे कुत्तेके पञ्जेसे दागकर शीघ्र ही निर्वासित कर दे।

व्यासस्मृतौ

द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा।
निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥३८४॥

उद्योगरहित गृहस्थ और व्यवहारपरायण भिक्षु—ये दोनों अपने इन विपरीत कर्मोंके कारण अच्छे नहीं मालूम होते।

लिङ्गे सत्यपि खल्वस्मिन् ज्ञानमेव हि कारणम्।
यदि मोक्षाय भूतानां लिङ्गग्राहो निरर्थकः ॥३८५॥

यदि संन्यासके चिह्न रहनेपर भी प्राणियोंके मोक्षमें ज्ञान ही कारण है तो लिङ्गधारण तो निरर्थक ही है [इसलिये लिङ्गधारणका आग्रह छोड़कर ज्ञानप्राप्तिका ही विशेष प्रयत्न करना चाहिये]।

प्रायश्चित्तविधि

अकामादपि हिंसेत पशून्मृगादिकान् यतिः।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत चान्द्रायणमथापि वा ॥३८६॥

यदि संङ्कल्पके बिना भी यतिसे पशु अथवा मृग आदिकी हिंसा हो जाय तो उसे कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र अथवा चान्द्रायण व्रत करना चाहिये।

मनुस्मृतौ

तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥२८७॥

तप्तकृच्छ्र व्रतका आचरण करनेवाले मुनिको प्रतिदिन एक बार स्नानकर समाहित चित्तसे तीन-तीन दिनतक क्रमशः उष्ण जल दूध, घृत और वायु पीना चाहिये।

अत्रिसंहितायाम्

षट्पलानि पिबेदापस्त्रिपलं तु पयः पिबेत् ।
पलमेकं तु वै सर्पिस्तप्तकृच्छ्रं विधीयते ॥२८८॥

[उस समय] जल छः पल पीना चाहिये, दूध तीन पल और घृत एक पल; इस प्रकार तप्तकृच्छ्र व्रतका विधान है।

आप्तवाक्यम्

दशार्द्धगुञ्जं प्रवदन्ति माषं
माषाह्वयैः षोडशभिश्च कर्षम् ।
कर्षैश्चतुर्भिस्तु पलं तुलाज्ञाः
कर्षं सुवर्णस्य सुवर्णसंज्ञम् ॥२८९॥

पाँच गुंजाको एक माष कहते हैं, सोलह माषसे एक कर्ष होता है तथा तोलको जाननेवाले लोग चार कर्षका एक पल बतलाते हैं और एक कर्ष सोनेका नाम सुवर्ण (अशर्फी) है।

हारीतस्मृतौ

अहोरात्रेण यान् जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः ।
प्राणायामान्दशाष्टौ च प्रायश्चित्तं यतिश्चरेत् ॥३९०॥

यति एक दिन-रातमें बिना जाने जिन जीवोंकी हत्या करता है उनके प्रायश्चित्तके रूपमें उसे अठारह प्राणायाम करने चाहिये ।

चाक्षुषे दश कुर्वीत वाच्ये विंशतिमेव च ।
मानसे त्रिंशतं चापि पातके प्राणसंयमान् ॥३९१॥

यतिको चाक्षुष (नेत्रसम्बन्धी) पाप करनेपर दश, वाचिक करने-पर बीस तथा मानसिक करनेपर तीस प्राणायाम करने चाहिये ।

यमस्मृतौ

कणपिण्याकतक्रं वा शाकमूलफलादिकम् ।
पक्वं वाप्यथवापक्वं पचन्नज्ञानतो यतिः ॥३९२॥
आचरेत्त्रीणि कृच्छ्राणि प्राकृतान्येव शुद्धये ।
अभ्यासाद्बुद्धिपूर्वं हि पाकदोषान्न मुच्यते ॥३९३॥

कण, पिन्नी, तक्र, शाक, मूल और फलादि—ये पके हों अथवा कच्चे—इनको अज्ञानवश पकानेपर होनेवाले पापोंका शोधन करनेके लिये यतिको तीन साधारण कृच्छ्र व्रत करने चाहिये । किन्तु अभ्यासवश जान-बूझकर पकानेपर तो वह किसी प्रकार पाक-दोषसे मुक्त नहीं होता ।
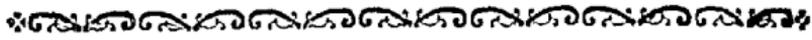
देवलस्मृतौ

प्रस्कन् रेतो दुर्बलत्वात्प्राणायामांस्तु षोडश ।
रेतःसेकं क्वचिद्भिक्षुः कुर्यान्मोहात्तु कामतः ।
प्राजापत्यत्रयं कृत्वा प्राणायामशतं चरेत् ॥३९४॥

दुर्बलतावश वीर्यपात होनेपर भिक्षुको सोलह प्राणायाम करने चाहिये और यदि कभी मोहवश वह जान-बूझकर वीर्यपात करे तो तीन प्राजापत्य व्रत करके सौ प्राणायाम करने चाहिये ।

मनुस्मृतौ

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।
त्र्यहं परं तु नाश्नीयात्प्राजापत्योऽयमुच्यते ॥३९५॥

तीन दिन प्रातःकाल और तीन दिन सायंकालमें तथा तीन दिन बिना माँगे भोजन करे । इसके पश्चात् तीन दिन भोजन न करे—यही प्राजापत्य व्रत कहलाता है ।

पराशरस्मृतौ

सायं तु द्वादश ग्रासाः प्रातः पञ्चदश स्मृताः ।
चतुर्विंशतयोऽयाच्याः परं निरशनं स्मृतम् ॥३९६॥

[प्राजापत्य व्रतमें] सायंकालमें बारह और प्रातःकाल पन्द्रह ग्रास बतलाये हैं; तथा अयाचितवृत्तिसे चौबीस ग्रास कहे हैं । इसके पीछे अनशनका विधान है ।

अशक्तं प्रत्यापस्तम्ब आह स—

जो इसमें असमर्थ हैं उनके लिये आपस्तम्बने कहा है—

सायं द्वाविंशतिर्ग्रासाः प्रातः षड्विंशतिः स्मृताः ।
चतुर्विंशतयोऽयाच्याः परे निरशनास्त्रयः ।
कुक्कुटाण्डप्रमाणस्तु यथा चास्ये विशेत्सुखम् ॥२९७॥

सायंकालमें बाईस और प्रातःकालमें छब्बीस ग्रास कहे हैं तथा अयाचितवृत्तिसे चौबीस ग्रास बतलाये हैं। इसके पीछे तीन दिन अनशन कहा है। ग्रास कुक्कुट (मुर्ग) के अण्डेके समान होना चाहिये, जो कि सुखपूर्वक मुखमें जा सके।

देवलस्मृतौ

स्त्रियं दृष्ट्वा यदा स्वप्ने रेतः क्षरति वै क्वचित् ।
स्नात्वा सवासाः शुद्ध्यर्थं कुर्यात् षोडश संयमान् ॥२९८॥

जब कभी स्वप्नमें स्त्रीको देखकर वीर्यपात हो जाय तो उसकी शुद्धिके लिये सचैल स्नान करके सोलह प्राणायाम करे।

उपवासं यतिः कुर्यात्पुनः सुप्ते क्षयेद्यदि ।
प्राणायामैर्विशुद्धात्मा विरजो जायते पुनः ॥२९९॥

यदि फिर भी सोते समय वीर्यस्राव हो तो यतिको उपवास करना चाहिये। प्राणायामसे शुद्धचित्त हो जानेपर फिर वह मलहीन हो जाता है।

विष्णुस्मृतौ

नैष्ठिकानां वनस्थानां यतीनामवकीर्णिनाम् ।
शुद्धानामपि लोकेऽस्मिन्प्रत्यापत्तिर्न विद्यते ॥४००॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, यति और विशुद्ध त्यागियोंका इस लोकमें पुनरागमन नहीं होता ।

आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यदि प्रच्यवते नः ।
प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महा ॥४०१॥

यदि नैष्ठिक धर्ममें आरूढ हुआ पुरुष उससे गिर जाय तो उसके लिये मुझे कोई भी प्रायश्चित्त दिखायी नहीं देता, जिससे कि वह आत्महत्यारा शुद्ध हो सके ।

अत्रिस्मृतौ

वर्षाभेदं यतिः कुर्याद्यदि कश्चिदनापदि ।
प्राजापत्येन कृच्छ्रेण मुच्यते नात्र संशयः ॥४०२॥

यदि किसी प्रकारकी आपत्ति न होनेपर भी कोई यति वर्षा- [ऋतु]का लङ्घन करे [अर्थात् एक स्थानमें न रहकर विचरता रहे] [तो] एक कृच्छ्र प्राजापत्य करनेसे दोषमुक्त होता है—इसमें कोई सन्देह नहीं ।

स्थितियोग्यान्बहून्ग्रामान्यदि वर्षासु लङ्घयेत् ।
प्रत्येकैकं चरेत्कृच्छ्रमेतत्पापात्प्रमुक्तये ॥४०३॥

यदि भिक्षु वर्षाऋतुमें रहनेयोग्य कई ग्रामोंका उल्लङ्घन कर

दे, तो उसे प्रत्येक ग्रामके लिये एक-एक कृच्छ्र व्रत करना चाहिये। तभी उस पापसे मुक्त होता है।

वृद्धयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

चौरैरुपद्रुतं देशं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्।
चक्रेणान्येन वा क्रान्तं वर्षास्वप्याशु सन्त्यजेत् ॥४०४॥

जो देश चोरोंके उपद्रवसे युक्त, दुर्भिक्ष तथा व्याधिसे पीडित अथवा किसी अन्य राजासे आक्रान्त हो उसे वर्षाऋतुमें भी तुरन्त त्याग देना चाहिये।

मुहूर्तमपि नासीत देशे सोपद्रवे यतिः।
उपद्रुते तु मनसि समाधिर्नोपजायते ॥४०५॥

यतिको उपद्रवयुक्त देशमें एक मुहूर्त्त भी नहीं ठहरना चाहिये, क्योंकि विक्षिप्त चित्तमें समाधि नहीं हो सकती।

यत्तीर्थमनुसम्प्राप्य चित्तमस्य प्रसीदति।
तत्र तिष्ठेन्नरो विद्वान्मोक्षमार्गे व्यवस्थितः ॥४०६॥

जिस तीर्थस्थानमें पहुँचकर चित्त प्रसन्न हो जाय, मोक्ष-मार्गमें लगे हुए विद्वान् पुरुषको वहीपर रहना चाहिये।

वृद्धशातातपस्मृतौ

निगृहीतेन्द्रियग्रासो यत्र यत्र वसेद्यतिः।
तत्र तत्र कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्करं तथा ॥४०७॥

जिसने अपने इन्द्रियग्रामको जीत लिया है वह यति जहाँ-जहाँ रहता है वहीं-वहीं कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्करक्षेत्र हैं।

दत्तात्रेयस्मृतौ

क्षौरं मेढ्रप्रदेशे तु कृत्वा कृच्छ्रं समाचरेत् ।
प्राणायामशतं कृत्वा तस्माद्भिक्षुर्विशुद्ध्यति ॥४०८॥

उपस्थदेशका क्षौर करनेपर यतिको कृच्छ्र व्रत करना चाहिये । उस दोषसे भिक्षु सौ प्राणायाम करनेपर शुद्ध होता है ।

अत्रिस्मृतौ

न स्नानमाचरेद्भिक्षुः पुत्रादिनिधने श्रुते ।
पितृमातृक्षयं श्रुत्वा स्नात्वा शुद्ध्यति साम्बरः ।
न कुर्यात्सूतकं भिक्षुः श्राद्धपिण्डोदकक्रियाः ॥४०९॥

अपने पुत्रादिका मरण सुननेपर यतिको स्नान नहीं करना चाहिये । माता-पिताका मरण सुननेपर भी वह सचैल स्नान करनेसे ही शुद्ध हो जाता है । भिक्षुको सूतक अथवा श्राद्ध या पिण्डोदक क्रिया तो कभी न करने चाहिये ।

वायुपुराणे

प्रातःस्नानं विना कामाद्भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ।
बहुभोज्ये यतिर्भुक्त्वा कुर्यादेतद्व्रतं पुनः ॥४१०॥

यतिको प्रातःकाल स्नान किये बिना इच्छापूर्वक खा लेनेपर चान्द्रायण व्रत करना चाहिये तथा बहुत लोगोंके भोजमें भोजन कर लेनेपर भी इस व्रतका आचरण करना चाहिये ।

प्रयोगसारे

पात्रे तु पतिते भैक्षे एकभिक्षां करोति यः ।
स कुर्याच्छतमश्रान्तः प्राणायामान्विशुद्धये ॥४११॥

भिक्षा-पात्र गिर जानेपर जो भिक्षु केवल एक घरकी ही भिक्षा करता है उसे शुद्ध होनेके लिये बिना विश्राम लिये सौ प्राणायाम करने चाहिये ।

जमदग्निस्मृतौ

अश्नन्माधुकरीं भिक्षां नैवेद्ये तु विसर्जिते ।
परपाकं न गृह्णीयात्किञ्चिदन्नमुपस्थितम् ॥४१२॥

माधुकरी भिक्षा खाते समय जब नैवेद्य (भगवान्‌को भोग) लगा चुके तो फिर दूसरेका पकाया हुआ अन्न उपस्थित होनेपर उसमेंसे थोड़ा-सा भी न ले ।

अथवा यद्गुरुर्ब्रूयात्तत्कार्यमविशङ्कया ।
निग्रहेऽनुग्रहे वापि गुरुः सर्वत्र कारणम् ॥४१३॥

अथवा जो कुछ गुरु कहे उसीको निःशंक होकर करे, क्योंकि निग्रह और अनुग्रह दोनोंमें सर्वत्र गुरु ही कारण हैं ।

यमस्मृतौ

यदि पर्युषितं भैक्षमद्याद्भिक्षुः कथञ्चन ।
तदा चान्द्रायणं कुर्याद्यतिः शुद्ध्यर्थमात्मनः ॥४१४॥
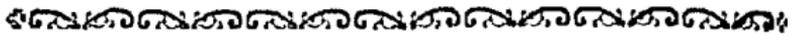
यदि भिक्षु कभी बासी (पहले दिन लायी हुई) भिक्षा खा ले तो उसे अपने अन्तःकरणकी शुद्धि करनेके लिये चान्द्रायण व्रत करना चाहिये।

भिक्षुर्द्विर्भोजनं कुर्यात्कदाचिज्ज्ञानदुर्बलः ।
स्वस्थावस्थो यदा लौल्यात्तदा चान्द्रायणं चरेत् ॥४१५॥

जब कभी ज्ञानकी दुर्बलतावश भिक्षु स्वस्थावस्थामें भी लोलुपतासे दुबारा भोजन कर ले तो उसे चान्द्रायण व्रत करना चाहिये।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः ।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचस्तथौषधम् ॥४१६॥

जल, मूल, फल, दूध, हवि, ब्राह्मणोंकी इच्छासे तथा गुरुके वचनसे खाये हुए पदार्थ और औषध—ये आठ व्रतको भङ्ग करनेवाले नहीं हैं।

जाबालवाक्यम्

एकान्नं मधु मांसं च अन्नं विष्ठादिदूषितम् ।
हन्तकारं च नैवेद्यं प्रत्यक्षं लवणं तथा ।
एतान्भुक्त्वा यतिर्मोहात्प्राजापत्यं समाचरेत् ॥४१७॥

एक घरका अन्न, मधु, मांस, विष्ठा आदिसे दूषित अन्न, हन्तकार, नैवेद्य और प्रत्यक्ष (खाद्य पदार्थमें मिले हुए लवणसे भिन्न) लवण—इन्हें मोहवश खानेपर भिक्षुको प्राजापत्य व्रत करना चाहिये।

यत्यन्नं यतिपात्रस्थं यतिना प्रेरितं च यत् ।
अन्नत्रयं न भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥४१८॥

यतिका, यतिके पात्रमें रखा हुआ तथा यतिकी प्रेरणासे आया हुआ—इन तीन अन्नोंको कभी न खाना चाहिये और यदि खा ले तो चान्द्रायण व्रत करे ।

संन्यासं कुरुते यस्तु श्राद्धं तस्य विधीयते ।
तस्यान्नं नैव भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥४१९॥

जो संन्यास करता है उसके लिये श्राद्ध करनेका विधान है । [इस प्रकार वह मृतकवत् हो जाता है ।] अतः उसका अन्न कभी न खाना चाहिये और खा लेनेपर चान्द्रायण व्रत करना चाहिये ।

विश्वामित्रवाक्यम्

एकस्यान्नं त्र्यहं भुक्त्वा निरन्तरमनापदि ।
प्राणायामशतं कुर्याच्छुद्ध्यर्थं यतिरात्मवान् ॥४२०॥

कोई आपत्काल न होनेपर तीन दिनतक निरन्तर एक ही व्यक्तिका अन्न खाकर आत्मवान् यतिको शुद्धिके लिये सौ प्राणायाम करने चाहिये ।

अत्रिस्मृतौ

ज्ञातीनां तु कुले भिक्षुर्न भिक्षेत कथञ्चन ।
आचरेच्च यदा भिक्षां तदा चान्द्रायणं चरेत् ॥४२१॥

भिक्षुको अपने बान्धवोंके कुलमें कभी भिक्षा न करनी चाहिये। जब कभी उसे उनके यहाँ भिक्षा करनी पड़े तो चान्द्रायण व्रत करना चाहिये।

सगोत्रमसगोत्रं वा यद्गृहे सूतकं भवेत् ।
न तावच्छुद्ध्यते भूमिर्यावन्न स्यादनिर्दशम् ।
भिक्षाश्चेद्भिक्षते भिक्षुर्भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥४२२॥

जिस घरमें सूतक हो उसमें रहनेवाला उसके गोत्रका हो अथवा गोत्रसे बाहर हो, उसकी भूमि, जबतक अनिर्दश (दशवाँ दिन) नहीं होता, शुद्ध नहीं होती। यदि उसके यहाँ भिक्षु भिक्षा कर ले तो उसे खाकर चान्द्रायण व्रत करे।

निषिद्धान्नं यदाश्नीयादनुज्ञा यत्र नास्ति वै ।
अतिकृच्छ्रं तदा भिक्षुः कुर्याच्छुद्ध्यर्थमात्मनः ॥४२३॥

जब कभी भिक्षु, जिसके लिये आज्ञा नहीं है ऐसा निषिद्ध अन्न भोजन करे तो उसे अपनी शुद्धिके लिये अतिकृच्छ्र व्रत करना चाहिये।

सक्तुपेषणगोदोहादन्नपाकादिकालतः ।
ऊर्ध्वं यदि प्रतीक्षेत भिक्षार्थं भैक्षमाचरन् ॥४२४॥
द्वादशैव तदा कुर्यात्प्राणायामान्विशुद्धये ।
प्राणायामशतं कुर्याद्भुक्त्वा शूद्रान्नमापदि ॥४२५॥

यदि भिक्षा माँगते समय भिक्षुको सत्तू पीसने, गौ दुहने अथवा अन्न पकाने आदिके कालसे अधिक प्रतीक्षा करनी पड़े तो उसे

अपनी शुद्धिके लिये बारह प्राणायाम करने चाहिये, तथा आपत्ति-कालमें शूद्रका अन्न खानेपर उसे सौ प्राणायाम करने चाहिये ।

जमदग्निस्मृतौ

आहारग्रहणे रात्रौ प्राणायामा दश स्मृताः ।
जलग्रहणे रात्रौ प्राणायामास्तथैव च ॥४२६॥

रात्रिको आहार करनेपर दश प्राणायामोंका नियम है तथा रात्रिमें जल पीनेपर भी इतने ही प्राणायाम करने चाहिये ।

भुक्तशेषं न कुर्वीत प्रमादात्कुरुते यदि ।
प्रतिग्रासं तदा कुर्यात्त्रींस्त्रीन्प्राणायामान्यतिः ॥४२७॥

यतिको कभी जूठन न छोड़नी चाहिये और यदि प्रमादवश कभी छोड़ दे तो एक-एक ग्रासके लिये तीन-तीन प्राणायाम करे ।

देवलस्मृतौ

पतितान्नं सकृद्भुक्त्वा प्रायश्चित्ती भवेद्यतिः ।
तप्तकृच्छ्रत्रयं कृत्वा शुद्ध्यते नात्र संशयः ॥४२८॥

यति पतितका अन्न एक बार भी खा लेनेपर प्रायश्चित्तका भागी हो जाता है । तब वह तीन तप्तकृच्छ्र करनेपर शुद्ध होता है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ।

यमस्मृतौ

ताम्बूलाभ्यञ्जनं चैव कांस्यपात्रे तु भोजनम् ।
कृत्वा चोपवसेद्भिक्षुः स्रग्गन्धादि च भूषणम् ॥४२९॥

ताम्बूलभक्षण, तैलमर्दन और काँसीके पात्रमें भोजन करनेपर तथा माला और गन्ध आदि धारण करनेपर भिक्षुको उपवास करना चाहिये ।

उपानहौ विना भिक्षुः कृत्वा भिक्षाटनादिकम् ।
मार्गे मूत्रसमाकीर्णे सम्यक्स्नानेन शुद्ध्यति ॥४३०॥

किसी मूत्रादिसे भरे हुए मार्गमें विना जूतोंके भिक्षाटनादि करनेपर भिक्षु भली प्रकार स्नान करनेपर ही शुद्ध होता है ।

ज्ञानेन मुच्यते भिक्षुस्तपसा स्वर्गमाप्नुयात् ।
नरकं विषयासङ्गात्त्रयो मार्गास्तपस्विनाम् ॥४३१॥

ज्ञान हो जानेपर भिक्षु मुक्त हो जाता है, तपस्याद्वारा स्वर्ग प्राप्त कर सकता है और विषयासक्ति होनेपर नरकमें जाता है । इस प्रकार तपस्वियोंके लिये ये तीन मार्ग हैं ।

जमदग्निस्मृतौ

उद्धृत्य वामहस्तेन भाजनाद्योऽन्नमत्ति वै ।
गृध्रोच्छिष्टं च विज्ञेयं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥४३२॥

जो पुरुष पात्रमेंसे बायें हाथसे अन्न उठाकर भोजन करता है ... अन्न गृध्रके उच्छिष्टके समान ही जानना चाहिये । उसे खाकर चान्द्रायण व्रत करे ।

यमस्मृतौ

उद्धृत्य वामहस्तेन यः पिबेद्ब्राह्मणो जलम् ।
सुरापानेन [illegible] ॥यम्भुवोऽब्रवीत् ॥४३३॥

जो ब्राह्मण बायें हाथसे निकालकर जल पीता है उसका वह जलपान मद्यपानके समान है—ऐसा स्वायम्भुव मनुने कहा है।

जमदग्निस्मृतौ

विनाङ्गुष्ठेन नाश्नीयान्न लिहेज्जिह्वया करम् ।
अश्नन्यदि लिहेद्धस्तं तदा चान्द्रायणं चरेत् ॥४३४॥

अँगूठा लगाये बिना कभी भोजन न करे तथा हाथको कभी जीभसे न चाटे और यदि भोजन करते समय हाथ चाट ले तो चान्द्रायण व्रत करे।

भुञ्जानस्य यदा भिक्षोः कदाचित्स्रवते गुदम् ।
अन्नं चास्यगतं त्यक्त्वा कृत्वा शौचं समाहितः ॥४३५॥
स्नानं कृत्वा यथान्यायं त्रिंशत्प्राणायामांश्चरेत् ।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्यं पिबेत्ततः ॥४३६॥

यदि भोजन करते समय भिक्षुको कभी मलस्राव (दस्त) हो जाय तो मुखका अन्न थूककर सावधान चित्तसे शौचकर्म करे और स्नान करनेके अनन्तर नियमानुसार तीस प्राणायाम करे। फिर एक दिन-रातका उपवास करके पञ्चगव्य पान करे।

पञ्चगव्यपानमन्त्रश्चान्यैर्निर्दिष्टः—

पञ्चगव्यपानका मन्त्र अन्य आचार्योंने इस प्रकार कहा है—

यत्त्वगस्थिगतं पापं शरीरे पूर्वसञ्चितम् ।
तन्मे पापञ्च शोकञ्च पञ्चगव्याः पुनन्तु माम् ॥४३७॥

जो पूर्वसंचित पाप हमारे शरीरमें त्वचा और अस्थियोंमें स्थित हैं मेरे उस पाप और शोकको तथा मुझे भी पञ्चगव्य पवित्र कर दे।

विश्वामित्रवाक्यम्

अज्ञानादुक्तमेवैतत्प्रायश्चित्तं विधीयते ।
अभ्यासादधिकं किञ्चिद्वर्द्धते दिनसंख्यया ॥४३८॥

ऊपर कहे हुए प्रायश्चित्तका विना जाने किये हुए पापोंके लिये ही विधान है। किन्तु अभ्यासवश किये हुए पापोंमें वह दिनोंकी संख्यामें कुछ बढ़ जाता है [अर्थात् अधिक दिन करना पड़ता है] ।

विष्णुपुराणे

कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते ।
प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ॥४३९॥

जिस मनुष्यको पाप करनेपर पश्चात्ताप होता है उसके लिये एकमात्र हरिस्मरण ही परम प्रायश्चित्त है।

तस्मादहर्निशं विष्णुं संस्मरेत्पुरुषो मुने ।
न याति नरकं शुद्धः सङ्क्षीणाखिलपातकः ॥४४०॥

अतः हे मुने ! पुरुषको अहर्निश श्रीविष्णुभगवान्का ही चिन्तन करना चाहिये। इससे वह सम्पूर्ण पापोंके क्षीण होनेसे शुद्ध हो जानेके कारण नरकगामी नहीं होता।

स्कन्दपुराणे

अभक्ष्यभक्षणात्पापमगम्यगमनादिजम् ।
नश्यते नात्र सन्देहो गोविन्दस्य प्रकीर्तनात् ॥४४१॥

इसमें सन्देह नहीं कि श्रीगोविन्दका कीर्तन करनेसे अभक्ष्य-भक्षण और अगम्यागमनसे हुआ पाप भी नष्ट हो जाता है।

तन्नास्ति कर्मजं लोके वाग्जं मानसमेव वा ।
यत्तु न क्षीयते पापं कलौ गोविन्दकीर्तनात् ॥४४२॥

संसारमें ऐसा कोई कर्मज, वाचिक अथवा मानसिक पाप नहीं है जो कलियुगमें श्रीगोविन्दका गुणगान करनेसे क्षीण न हो जाय।

आप्तवाक्यानि

जपाज्ज्ञानात्तथा ध्यानान्नान्यद्भिक्षोस्तु शोधनम् ।
तस्मात्तानि सदा कुर्याद्यतिः शुद्ध्यर्थमात्मनः ॥४४३॥

यतिके लिये जप, ज्ञान और ध्यानके सिवा और कोई शुद्धि-का साधन नहीं है, इसलिये उसे अपनी शुद्धिके लिये उन्हें निरन्तर करते रहना चाहिये।

ध्यानेन सदृशं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम् ।
श्वपाकेष्वपि भुञ्जानो ध्यायी नैव तु लिप्यते ॥४४४॥

ध्यानके समान पापकर्मोंका शोधन करनेवाला और कोई उपाय नहीं है, ध्यानी पुरुष चाण्डालोंके यहाँ भोजन करता हुआ भी पापलिप्त नहीं होता।
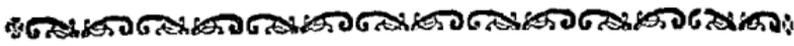
संग्रहकर्तृवचनम्

किम्बहुलेखनेनेह सङ्क्षेपादिदमुच्यते ।
त्यागो विषयमात्रस्य कर्तव्योऽखिलभिक्षुभिः ॥४४५॥

इस विषयमें और बहुत लिखनेसे क्या लाभ है, संक्षेपसे यही कहा जाता है कि समस्त भिक्षुओंको विषयमात्रका त्याग कर देना चाहिये ।

संन्यासाश्रममासाद्य सज्जते विषयेषु यः ।
स्वगुणख्यातिसञ्जीवी स भिक्षुः सर्वतोऽधमः ॥४४६॥

जो संन्यासाश्रममें आकर विषयोंमें आसक्त रहता है, अपने गुणोंकी प्रसिद्धिके आश्रयसे जीवित रहनेवाला वह भिक्षु सबसे अधम है ।

उत्तम भिक्षुके लक्षण

स्वश्रेयोऽर्थकृतायासः स्वधर्माणाञ्च गूहकः ।
परदोषाप्रवादी च स भिक्षुस्तूत्तमः स्मृतः ॥४४७॥

जो अपने कल्याणके लिये प्रयत्न करता है, स्वधर्मोंको गुप्त रखता है और दूसरोंके दोषोंका बखान नहीं करता वह भिक्षु उत्तम कहा गया है ।

सर्वारम्भपरित्यागी सदैवान्तर्मुखश्च यः ।
ब्रह्माभ्यासपरो नित्यं स भिक्षुर्भिक्षुरुच्यते ॥४४८॥

जो सब प्रकारके आरम्भोंको त्यागनेवाला है, सदा ही अन्तर्मुख रहता है तथा निरन्तर ब्रह्मचिन्तनमें लगा रहता है वही भिक्षु भिक्षु कहलाता है।

भिक्षान्नमात्रसम्भोजी कन्थाकौपीनसङ्ग्रही ।
श्रवणादिरतो यश्च स भिक्षुर्मोक्षमाप्नुयात् ॥४४९॥

जो केवल भिक्षान्न ही भोजन करता है, केवल कन्था और कौपीनका ही संग्रह करनेवाला है तथा निरन्तर श्रवणादिमें तत्पर रहता है वह भिक्षु मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

तुष्टिनिन्दा

तुष्टयो भिक्षुणा हेया मोक्षाध्वप्रतिबन्धिकाः ।
अन्यथा न्यासतुष्टयायं मोक्षमार्गात्पतेद्यतिः ॥४५०॥

भिक्षुको मोक्षमार्गकी विघ्नस्वरूप तुष्टियोंका त्याग करना चाहिये; नहीं तो संन्यासमात्रकी तुष्टिसे यति मोक्षमार्गसे पतित हो जाता है।

उपादानाभिधा या सा न्यासतुष्टिर्निगद्यते ।
न्यासलिङ्गेन बोधः स्यात्तेन मोक्षोऽपि सम्भवेत् ॥४५१॥

उपादान नामकी जो तुष्टि है वही न्यासतुष्टि कही जाती है। [उससे यति यह समझने लगता है कि] संन्यासका चिह्न धारण करनेसे ही ज्ञान हो जाता है और उसीसे मोक्ष भी हो सकता है।

अतो ध्यानविरागाभ्यां किं मम स्याज्जपादिभिः ।
इति तुष्टिः सदा हेया तथान्याश्चाष्टतुष्टयः ॥४५२॥

अतः ध्यान, वैराग्य एवं जप आदिसे मुझे क्या लेना है। इस प्रकारकी तुष्टि सदा त्याग करनेयोग्य है तथा इसके सिवा अन्य आठ तुष्टियाँ भी सर्वदा त्याज्य हैं।

ताः सांख्यकारिकायां वा ईशकृष्णेन दर्शिताः।
तद्वाक्यं संलिखामीह नवतुष्टिप्रदर्शकम् ॥४५३॥

वे तुष्टियाँ ईश्वरकृष्णने सांख्यकारिकामें दिखलायी हैं। यहाँ मैं उनका नौ तुष्टियोंको प्रदर्शित करनेवाला वचन लिखता हूँ।

ईश्वरकृष्णवाक्यम्

आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात्पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥४५४॥

प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामकी चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं तथा विषयोंके निवृत्त हो जानेपर पाँच बाह्य तुष्टियाँ होती हैं। इस प्रकार कुल नौ तुष्टियाँ मानी गयी हैं*।

---

* आठ प्रकारकी प्रकृतिमेंसे किसीमें चित्त लीन हो जानेसे अपनेको मुक्त मान लेना 'प्रकृति' नामकी तुष्टि है। संन्यासाश्रम ग्रहणसे ही अपनेको कृतार्थ मान लेना 'उपादान' तुष्टि है। समय आनेपर स्वयं ही सिद्धि मिल जायगी, ध्यानादि क्लेशकी क्या आवश्यकता है—ऐसा विचार 'काल' नामकी तुष्टि है तथा भाग्योदयसे सिद्धि हो जायगी—ऐसा विचार 'भाग्य' नामवाली तुष्टि है। इन चारोंका आत्मा (अन्तःकरण) से सम्बन्ध है, इसलिये ये आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं। पदार्थोंके उपार्जन, रक्षण और व्यय आदिमें क्लेश देखकर उनसे उपरत हो जाना बाह्य तुष्टियाँ हैं। शब्दादि बाह्य विषय पाँच हैं, इसलिये बाह्य तुष्टियाँ भी पाँच हैं। ये सब मिलाकर नौ तुष्टियाँ हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ

नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः ।
अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न समाचरेत् ॥४५५॥

धर्ममें आश्रम कारण नहीं है वह तो करनेसे ही होता है। अतः जो कुछ अपने लिये अहितकर हो उसका दूसरोंके प्रति भी आचरण न करे।

विद्वान् यतिके धर्म

संग्रहकर्तृवचनम्

अथ विद्वद्यतेर्धर्मा यैर्वाक्यैः सम्प्रदर्शिताः ।
सङ्क्षेपात्तान्यपीहाहं सङ्गृह्णामि प्रसङ्गतः ॥४५६॥

अब मैं प्रसंगवश उन वाक्योंका यहाँ संक्षेपसे संग्रह करता जिनमें विद्वान् यतिके धर्म बतलाये गये हैं।

ब्रह्मोपनिषदि

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
स शिखीत्युच्यते विद्वान् नेतरे केशधारिणः ॥४५७॥

जिसके अग्निके समान कोई और शिखा नहीं है बल्कि वल ज्ञानमयी शिखा ही है वही विद्वान् शिखी (शिखाधारी) कहलाता है; उससे इतर केशधारी नहीं।

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ॥४५८॥
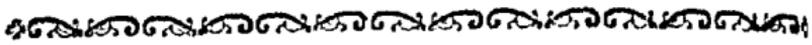
जो ज्ञानरूप शिखाधारी, ज्ञाननिष्ठ और ज्ञान-यज्ञोपवीत धारण करनेवाले हैं उनके लिये ज्ञान ही श्रेष्ठ वस्तु है; वह ज्ञान उत्तम और परम पवित्र है ।

परमहंसोपनिषदि

सर्वान् कामान्परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः ।
ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ॥४५९॥

जिसकी सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर अद्वैतमें परम स्थिति है और जिसने ज्ञानरूप दण्ड धारण किया हुआ है, वह एकदण्डी कहलाता है ।

आप्तवाक्यम्

यदात्मा प्रज्ञयात्मानं सन्धत्ते परमात्मनि ।
तेन सन्ध्या ध्यानमेव तस्मात्सन्ध्याभिवन्दनम् ॥४६०॥

आत्मा जो बुद्धिद्वारा अपनेको परमात्मामें स्थापित कर देता है यह ध्यान ही सन्ध्या है । इसीसे [यतिका] सन्ध्योपासन होता है ।

निरुदका ध्यानसन्ध्या वाक्कायक्लेशवर्जिता ।
सन्धिनी सर्वभूतानां सा सन्ध्या ह्येकदण्डिनाम् ॥४६१॥

यह जलहीन ध्यानमयी सन्ध्या वाणी और शरीरके क्लेशसे रहित, और समस्त प्राणियोंकी [परमात्माके साथ] सन्धि करानेवाली है । यही एक दण्डधारियोंकी सन्ध्या है ।

आत्मानमात्मना साक्षाद्ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
देहजात्यादिसम्बन्धान् वर्णाश्रमसमन्वितान् ।
वेदशास्त्रपुराणानि पादपांशुमिव त्यजेत् ॥४६२॥
एकाकी निःस्पृहस्तिष्ठेन्न हि केन सहालपेत् ।
दद्यान्नारायणेत्येवं प्रतिवाक्यं सदा यतिः ॥४६३॥

अपने आत्माको बुद्धिद्वारा साक्षात् निश्चल ब्रह्मतत्त्व जानकर वर्णाश्रमके सहित देह और जाति आदि सम्बन्धोंको तथा वेद, शास्त्र और पुराणोंको पैरकी धूलिके समान त्याग दे। किसी प्रकारकी इच्छा न करके अकेला ही रहे तथा किसीसे वार्तालाप न करे तथा यतिको चाहिये कि सर्वदा उत्तरमें 'नारायण' इतना ही कहे ।

मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः ।
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥४६४॥

मुनिको सर्वदा कौपीनधारी अथवा नग्न रहना चाहिये । वह ध्यानपरायण और अध्यात्मनिरत रहकर निरपेक्ष और निष्कामभावसे स्थित रहे तथा आनन्दकी इच्छासे केवल अपनी ही सहायतासे विचरता रहे ।

सन्दिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः ।
अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ॥४६५॥

वह सम्पूर्ण प्राणियोंका सन्देहपात्र होकर वर्णाश्रमचिह्नोंसे रहित हो अन्धे, जड और गूँगेके समान पृथिवीमें विचरता रहे ।

देवाग्न्यागारे तरुमूले गुहायां
वसेदसङ्गोऽलक्षितशीलवृत्तः ।
निरिन्धनज्योतिरिवोपशान्तो
न चोद्विजेत्प्रव्रजेद्यत्र कुत्र ।
त्यक्तैषणो ह्यनृणस्तं विदित्वा
मौनी वसेदाश्रमे यत्र कुत्र ॥४६६॥

यतिको अपने शील और आचारको अलक्षित रखते हुए देवागार, अग्निशाला, वृक्षमूल अथवा गुहामें असङ्गभावसे निवास करना चाहिये। तथा बिना ईंधनकी अग्निके समान शान्त रहकर जहाँ-तहाँ विचरता रहे और उद्विग्न न हो। उसे तीनों प्रकारकी एषणाओंको त्यागकर तीनों ऋणोंसे उऋण हो भगवान्‌का साक्षात्कार-कर मौनावलम्बनपूर्वक जहाँ-तहाँ आश्रममें पड़े रहना चाहिये।

महाभारते

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ।
उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद्भिक्षुलक्षणम् ॥४६७॥

कपाल, वृक्षकी जड़, मलिनवस्त्र, निरपेक्षता और सम्पूर्ण प्राणियोंकी उपेक्षा—यही भिक्षुका लक्षण है।

अरोषमोहः समलोष्टकाञ्चनः
प्रहीणकोशो गतसन्धिविग्रहः ।
अपेतनिन्दास्तुतिरप्रियाप्रिय-
श्चरन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥४६८॥

क्रोध और मोहसे रहित, ढेले और सुवर्णमें समान दृष्टि रखनेवाला, पञ्चकोशसे रहित, सन्धिविग्रहशून्य, निन्दास्तुतिसे मुक्त हुआ तथा प्रिय और अप्रियकी भावना न रखता हुआ यह भिक्षुक उदासीनके समान विचरता रहे।

अशिल्पजीवी गुणवांश्च नित्यं
जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रमुक्तः।
अनोकशायी लघुरल्पवास-
श्चरन्देशानेकचरः स भिक्षुकः ॥४६९॥

वह भिक्षु किसी प्रकारके शिल्पका आश्रय न कर, सर्वदा गुणयुक्त हो, जितेन्द्रिय और सब ओरसे अनासक्त रह, किसी वृक्षके तले शयन करता तथा थोड़ा-थोड़ा निवास करता अनेकों देशोंमें अकेला ही विचरता हुआ घूमता रहे।

लाभं साधारणं नेच्छेन्नाभिभुञ्जीत पूजितः।
अभिपूजितलाभं हि जुगुप्सेतैव तादृशः ॥४७०॥

कभी साधारण लाभकी भी इच्छा न करे, दूसरोंसे सम्मानित होकर भोजन न करे तथा उसी स्थितिमें रहकर सदा सम्मान-लाभकी निन्दा करता रहे।

शून्यागारं वृक्षमूलमारण्यमथवा गुहाम्।
अज्ञातचर्यां गत्वान्यां ततोऽन्यत्रैव संविशेत् ॥४७१॥

शून्य मठ, वृक्षमूल, वन अथवा जिसका किसीको पता न हो ऐसी किसी अन्य गुहामें जाकर या वहाँसे भी अन्यत्र जाकर रहने लगे।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ

अकार्यकारिणां दानं वेगो नद्याश्च शुद्धिकृत् ।
शोध्यस्य मृच्च तोयञ्च संन्यासोऽथ द्विजन्मनाम् ॥४७२॥

जो किसी प्रकारका कार्य नहीं करते उनको दिया हुआ दान और नदीका वेग शुद्धि करनेवाले हैं तथा शोध्य पदार्थोंको मृत्तिका और जल एवं द्विजातियोंको संन्यास शुद्ध करनेवाला है ।

अङ्गिरःस्मृतौ

षष्टिं कुलान्यतीतानि षष्टिमागामिकानि च ।
कुलान्युद्धरते प्राज्ञः संन्यस्तमिति यो वदेत् ॥४७३॥

जो प्राज्ञपुरुष 'मैंने संन्यास कर दिया'—ऐसा उच्चारण करता है वह अपने साठ पहले और साठ आगामी कुलोंका उद्धार कर देता है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं विद्वद्यतेर्धर्माः सङ्क्षेपेणेह दर्शिताः ।
ते च सेव्याः प्रयत्नेनान्यैरपि यतिभिः सदा ॥४७४॥

इस प्रकार संक्षेपसे यहाँ विद्वान् यतिके धर्म बतलाये । उन्हें अन्य यतियोंको भी सर्वदा प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये ।

जिज्ञासु यतिके धर्म

विविदिषुस्तु संन्यासी तत्त्वज्ञं वेदपारगम् ।
उपेयाद्ब्रह्मबोधायाचार्यं शुश्रूषयान्वितः ॥४७५॥

जो जिज्ञासु यति हो उसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सेवा-भावसे भरकर वेदके पारगामी तत्त्वज्ञ गुरुके पास जाना चाहिये ।

ननु ब्रह्मविदाचार्यं विना प्राक्छ्रुतशास्त्रतः ।
तर्केणैवात्मबोधः स्यात्तस्मै यत्नः पुनर्वृथा ॥४७६॥

शङ्का—बोध तो ब्रह्मवेत्ता आचार्यके बिना पहले श्रवण किये हुए शास्त्र तथा मननसे भी हो सकता है; उसके लिये प्रयत्न करना तो वृथा ही है ।

मैवं ब्रह्मविदाचार्यं विना बोधो न सम्भवेत् ।
प्राक्छ्रुततर्कशास्त्रेण ह्याचार्यवानिति श्रुतेः ॥४७७॥

समाधान—ऐसा नहीं है । ब्रह्मवेत्ता आचार्यके बिना केवल पहले श्रवण किये हुए शास्त्रसे ही बोध किसी प्रकार सम्भव नहीं है, जैसा कि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'* (छा० उ० ६ । १४ । २) इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

तर्कस्य वेदबाह्यस्य नास्त्यात्मज्ञानहेतुता ।
नैषा तर्केण चाप्या धीरिति श्रुत्या निषेधनात् ॥४७८॥

वेदबाह्य तर्क आत्मज्ञानमें हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'† (क० उ० १ । २ । ९) इस श्रुतिने इसका निषेध किया है ।

तज्ज्ञानार्थमिति श्रुत्या तद्विद्धीति स्मृतेस्तथा ।
गुरूपगमनं कार्यं ब्रह्मज्ञानाय भिक्षुणा ॥४७९॥

---

* आचार्यवान् पुरुषको ही ज्ञान होता है ।

† यह मति तर्कसे प्राप्त होनेयोग्य नहीं है ।

'तज्ज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः'* (मु० उ० १।२।१२) इस श्रुतिसे तथा 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' † (गीता ४।३४) इस स्मृतिसे भी भिक्षुको ब्रह्मज्ञानके लिये गुरुके पास गमन करना ही चाहिये।

अमानित्वादिभिर्युक्तो ह्यद्वेष्टृत्वादिभिर्यतिः।
शृणुयात्तत्त्वमस्यादिवाक्यानि स्वगुरोर्मुखात् ॥४८०॥

यतिको [गीतोक्त] अमानित्व आदि तथा अद्वेष्टृत्व आदि गुणोंसे युक्त होकर अपने गुरुके मुखसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों-का श्रवण करना चाहिये।

ज्ञानाय श्रवणादीनि कार्याणीत्यब्रवीच्छ्रुतिः।
तथा तल्लक्षणादीन्याचार्यैरुक्तानि वै स्फुटम् ॥४८१॥

श्रुतिने भी कहा है कि ज्ञानके लिये श्रवण आदि करने चाहिये तथा आचार्योंने भी उनके लक्षण आदिका स्पष्ट निरूपण किया है।

श्रुतिः

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
श्रुत्वा च सततं ध्यायेदेते दर्शनहेतवः ॥४८२॥

प्रथम वेदवाक्योंसे श्रवण करना चाहिये, फिर युक्तिपूर्वक मनन करना उचित है तथा श्रवण करके निरन्तर ध्यान करे। ये ही साक्षात्कारके कारण हैं।

* उसे (ब्रह्मको) जाननेके लिये हाथमें समिधा लेकर गुरुके पास जाय।
† उसे प्रणाम, प्रश्न और सेवाके द्वारा जानो।
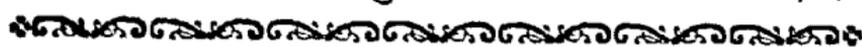
सर्वज्ञमुनिवाक्यम्

शब्दशक्तिविषयं निरूपणं
युक्तितः श्रवणमुच्यते बुधैः ।
वस्तुतत्त्वविषयं निरूपणं
युक्तितो मननमित्युदीर्यते ॥४८३॥
चेतसस्तु चितिमात्रशेषता
ध्यानमित्यभिवदन्ति वैदिकाः ।
अन्तरङ्गमिदमित्थमीरितं
तत्कुरुष्व परमात्मबुद्धये ॥४८४॥

युक्तिपूर्वक शब्दशक्तिविषयक निरूपणको बुधजन श्रवण कहते हैं, युक्तिपूर्वक वस्तुतत्त्वविषयक निरूपणको मनन कहा जाता है। तथा चित्तका केवल चिन्मात्र शेष रह जाना—इसीको वेदवेत्ता ध्यान बतलाते हैं। इस प्रकार यह अन्तरंग साधन कहा गया है, इसे परमात्माका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये करो।

आप्तवाक्यम्

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि ।
निदिध्यासो लक्षगुणोऽथानन्तं निर्विकल्पकम् ॥४८५॥

श्रवणसे सौगुना मननको समझे और मननसे भी लाखगुना निदिध्यासनको जाने तथा इससे अनन्तगुनी निर्विकल्प स्थिति है।

वार्त्तिककृद्वाक्यम्

श्रवणादिक्रिया तावत्कर्त्तव्येह प्रयत्नतः ।
यावद्यथोक्तविज्ञानमाविर्भवति तत्त्वतः ॥४८६॥

जबतक यथावत् विज्ञानका वास्तविक आविर्भाव न हो तब-तक इस लोकमें श्रवणादि क्रियाओंको प्रयत्नपूर्वक करते रहना चाहिये।

संग्रहकर्तृवचनम्

अज्ञानं बन्धहेतुर्हि विज्ञानं बन्धनाशकम् ।
तस्माद्ब्रह्मात्मविज्ञप्त्यै कर्त्तव्यं श्रवणादिकम् ॥४८७॥

अज्ञान ही बन्धनका कारण है तथा विज्ञान ही बन्धनका नाश करनेवाला है; अतः ब्रह्म और आत्माका बोध प्राप्त करनेके लिये श्रवण आदि करना चाहिये।

गुरु-शुश्रूषा-निरूपण

व्यासस्मृतौ

गुरुमूलाः क्रियाः सर्वा भुक्तिमुक्तिफलप्रदाः ।
तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यं युक्तार्थस्तु समाहितैः ॥४८८॥

भोग और मोक्षरूप फल देनेवाली सारी क्रियाएँ गुरुमूलक ही हैं। अतः सर्वदा समाहितचित्तसे तत्त्वज्ञ गुरुकी ही सेवा करनी चाहिये।

श्रद्धया परया युक्तः सदा द्वादश सन्ध्ययोः ।
[illegible]प्रणामान् कुर्वीत देवतागुरुसन्निधौ ॥४८९॥

अत्यन्त श्रद्धासे सम्पन्न होकर दोनों सन्ध्याओंके समय सर्वदा देवता और गुरुके प्रति बारह बार दण्डवत्-प्रणाम करे।

गुरोर्नैवाप्रियं कुर्यात्पण्डितेऽपण्डितेऽपि वा।
नाभासयेच्च तद्वाक्यं नावमानं समाचरेत् ॥४९०॥

गुरु, चाहे विद्वान् हो अथवा अविद्वान् उसका अप्रिय कभी न करे, उसके वाक्यकी कभी अवहेलना न करे और न कभी उसका अपमान ही करे।

गुरोश्च चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्।
न कुर्यान्नियमारम्भमनिवेद्य स्वकं गुरुम्।
छायाभूतोऽपरित्यागी नित्यमेव वसेद्गुरौ ॥४९१॥

गुरुजीके नेत्रोंके सामने मनमाने आसनसे न बैठे, अपने गुरुसे कहे बिना किसी नियमका भी आरम्भ न करे, और गुरुजीकी छायारूप होकर उनका कभी त्याग न करते हुए सर्वदा उन्हींके समीप बना रहे।

मनुस्मृतौ

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्।
गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्त्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥४९२॥

गुरुजीका नाम उनके पीछे भी अकेला (बिना कोई सम्मान-सूचक उपाधि लगाये) न ले। जहाँ गुरुजीका अपवाद या निन्दा

होती हो वहाँ अपने कान मूँद लेने चाहिये, अथवा वहाँसे कहीं अन्यत्र चले जाना चाहिये ।

सम्प्रदायविदां वचनम्

वेदान्तश्रवणारम्भे प्रणामा द्वादश स्मृताः ।
गुरोर्यथावदन्ते तु षट् प्रणामाः प्रकीर्त्तिताः ॥४९३॥

गुरुको वेदान्तश्रवणके आरम्भमें बारह तथा अन्तमें छः बार विधिपूर्वक प्रणाम करना बतलाया गया है ।

उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा श्रद्धयापि च ।
पद्भ्यां कराभ्यां कर्णाभ्यां प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते ॥४९४॥

हृदयसे, शिरसे, दृष्टिसे, मनसे, श्रद्धासे, चरणोंसे, हाथोंसे तथा कानोंसे किया हुआ प्रणाम अष्टाङ्ग दण्डवत् कहलाता है ।

अष्टाक्षरेण मन्त्रेण यतयो ये नमस्कृताः ।
स्मृतनारायणा घ्नन्ति नराणां पापपञ्जरम् ॥४९५॥

जो यतिजन [ॐ नमो नारायणाय—इस] अष्टाक्षर मन्त्रसे नमस्कार किये जाते हैं, श्रीनारायणका स्मरण कराये जानेके कारण वे मनुष्योंकी पापराशिको नष्ट कर देते हैं ।

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं गुरुमुपागम्य ततो ज्ञानमवाप्य च ।
ब्रह्मात्माज्ञाननाशेन ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥४९६॥

इस प्रकार गुरुके समीप आकर उनसे ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म और आत्माके अज्ञानका नाश हो जानेसे वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है ।

ज्ञानाधिकारी कौन है ?

नन्वेवं ब्रह्मबोधोऽस्तु शिष्यस्य गुरुवाक्यतः ।
अधिकारी तथाप्यस्य जीवोऽन्यो वेति संवद ॥४९७॥

शङ्का—इस प्रकार गुरुके वाक्यसे शिष्यको ब्रह्मज्ञान होता है—सो तो ठीक है; किन्तु इस ज्ञानका अधिकारी जीव है या कोई और—यह बतलाओ ।

शृणु त्वं ब्रह्मबोधस्याधिकारी ब्रह्म नापरः ।
यतोऽज्ञानेन जीवत्वं ब्रह्मणा स्वे प्रकल्पितम् ॥४९८॥

समाधान—सुनो, ब्रह्मज्ञानका अधिकारी ब्रह्म ही है, और कोई नहीं, क्योंकि अज्ञानवश ब्रह्मने ही अपनेमें जीवभावकी कल्पना कर ली है ।

राधेयतेव कौन्तेये सिंहे चाप्यजता यथा ।
राजपुत्रे च भिल्लत्वं तथा ब्रह्मणि जीवता ॥४९९॥

जिस प्रकार कुन्तीपुत्र (कर्ण) में राधापुत्रता*, सिंहमें अजता (बकरापन†) और राजपुत्रमें भिल्लता‡ कल्पित है उसी प्रकार ब्रह्ममें जीवभाव है ।

---

* कर्ण कुन्तीके पुत्र थे, किन्तु अधिरथकी स्त्री राधाद्वारा पालित होनेके कारण राधापुत्र कहलाये ।

† जैसे किसी सिंहके बच्चेको पकड़कर बकरीके बच्चोंके साथ रख दिया जाय और फिर वह अपने वास्तविक स्वरूपको भूलकर अपनेको बकरा ही समझने लगे ।

‡ जिस प्रकार कोई राजपुत्र भीलोंमें रहनेके कारण कालान्तरमें अपनी पूर्वस्थितिको भूलकर अपनेको भील ही समझने लगे ।

ब्रह्मैव वस्तुतो मुक्तं ज्ञेयत्वं प्रतिपद्यते ।
जीवत्वं चाप्यबोधेनातोऽर्हति तन्मुमुक्षुताम् ॥५००॥

वस्तुतः नित्यमुक्त ब्रह्म ही अज्ञानवश ज्ञेयत्व और जीवभावको भी प्राप्त हो जाता है; अतः उसीमें मुमुक्षुताका आविर्भाव हो सकता है ।

ननु विद्याधिकारित्वं ब्रह्मणि नार्हतीति चेत् ।
किं नेक्षसे जगत्सर्वमज्ञानात्तत्र कल्पितम् ॥५०१॥

यदि कहो कि ब्रह्ममें ज्ञानाधिकारित्वकी योग्यता नहीं है तो क्या तुम यह नहीं देखते हो कि सारा जगत् अज्ञानसे उसीमें कल्पित है ।

अविद्योपाधिकं वेत्तृ वेद्यञ्च निरुपाधिकम् ।
ब्रह्मातः कर्मकर्तृत्वमेकस्यात्र न दूपणम् ॥५०२॥

अविद्याकी उपाधिसे ब्रह्म ज्ञाता है और निरुपाधिकरूपसे वही ज्ञेय है । अतः उस एकहीमें कर्तृत्व और कर्मत्व माननेमें कोई दोप नहीं है ।

अतोऽविद्याविनाशाय गुरुतो ज्ञानलब्धये ।
विविदिपुर्गुरुं ब्रूयाद् गुरोऽध्यापय मामिति ।
स चेद्ददाति पृच्छ त्वं तदा पृच्छेत्तु भक्तितः ॥५०३॥

अतः अविद्याके नाश और गुरुदेवसे ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जिज्ञासुको गुरुसे इस प्रकार कहना चाहिये—'हे गुरो ! आप मुझे उपदेश कीजिये' । यदि गुरुजी कहें कि 'तू मुझसे पूछ' तो उनसे भक्तिपूर्वक प्रश्न करे ।
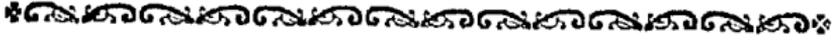
एवं रामप्रसादेन प्रकरणं चतुर्थकम् ।
समाप्तं यतिधर्माणां विस्तरेण निरूपकम् ॥५०४॥

इस प्रकार भगवान् रामकी कृपासे यह यतिधर्मोंका विस्तारसे निरूपण करनेवाला चौथा प्रकरण समाप्त हुआ ।

इति श्रीमुमुक्षुसर्वस्वसाराभिधे ग्रन्थे संन्यासधर्माख्यं चतुर्थ प्रकरणम् ।

पञ्चम प्रकरण

मङ्गलाचरण

यत उत्पद्यते विश्वं यत्सत्तया च संस्थितम् ।
यस्मिंश्च प्रलयं याति तं श्रीरामं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

जिनसे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, जिनकी सत्तासे यह स्थित है तथा जिनमें यह लीन हो जाता है उन श्रीरामको मैं नमस्कार करता हूँ ।

येषां वाक्योपदेशेनाज्ञानं विगलितं मम ।
तान्परब्रह्मरूपान्वै नौमि स्वसद्गुरूनपि ॥ २ ॥

जिनके महावाक्योपदेशसे मेरा अज्ञान गलित हो गया है उन परब्रह्मरूप अपने सद्गुरुदेवको भी मैं नमस्कार करता हूँ ।

गुरु-शिष्य-संवाद

चतुर्भिः साधनैर्युक्तः कश्चिच्छुद्धमना यतिः ।
प्रणम्य स्वगुरुं भक्त्या पृष्टवांस्तं मुमुक्षया ॥ ३ ॥

किसी साधनचतुष्टयसम्पन्न शुद्धचित्त यतिने अपने गुरुदेवको भक्तिपूर्वक प्रणामकर उनसे मोक्षकी कामनासे पूछा—

भो भगवन्नहं भीतो जन्मादिदुःखसागरात् ।
अतस्तत्तरणोपायं सङ्क्षिप्य कृपया वद ॥ ४ ॥

'हे भगवन् ! मैं जन्मादिरूप दुःख-सागरसे भयभीत हो रहा हूँ; अतः आप कृपापूर्वक संक्षेपसे उसे पार करनेका उपाय बतलाइये ।'

स च तद्वचनं श्रुत्वा गुरुराह दयानिधिः ।
मा भैष्ट सौम्य दुःखात्त्वं त्वया पृष्टं वदाम्यहम् ॥ ५ ॥

उसके ये वचन सुनकर दयानिधान गुरुदेवने कहा—'हे सौम्य ! तू दुःखसे भय न मान, मैं तेरी पूछी हुई बात बतलाता हूँ।'

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थमात्मब्रह्मैक्यगोचरम् ।
यज्ज्ञानं तत्तु दुःखाब्धेः सन्तरणस्य साधनम् ॥ ६ ॥

'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे उत्पन्न हुआ जो ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान है वही इस दुःखसमुद्रको पार करनेका साधन है।

ऐक्यज्ञानं विना नान्यदस्त्यात्माज्ञाननाशकम् ।
तन्नाशश्च विना नास्ति जन्मादिदुःखसङ्क्षयः ॥ ७ ॥

ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानके बिना आत्माके अज्ञानका नाश करनेवाला और कोई साधन नहीं है और उसका नाश हुए बिना जन्मादि दुःखका नाश नहीं हो सकता ।

ऋते ज्ञानान्न मोक्षोऽस्ति नान्यः पन्था विमुक्तये ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येतीत्याद्या हि श्रुतयो जगुः ॥ ८ ॥

यही बात 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'[1] 'नान्यः पन्था विमुक्तये'[2] (कै० उ० ९) 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति'[3] (कै० उ० ९) इत्यादि श्रुतियोंने भी कही है ।

श्रुतिः

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ ९ ॥

जिस समय मनुष्य आकाशको चमड़ेके समान लपेट लेंगे उस समय भगवान्‌को विना जाने ही दुःखका भी अन्त हो सकेगा ।

संग्रहकर्तृवचनम्

तस्मात्स्वीकुरु हे सौम्य जन्मादिदुःखसागरात् ।
जीवब्रह्मैक्यविज्ञानं प्लवं सन्तरणाय वै ॥ १० ॥

अतः हे सौम्य ! तुम जन्मादि दुःखसमुद्रसे पार होनेके लिये जीव और ब्रह्मकी एकताके ज्ञानरूप नौकाको स्वीकार करो ।

को जीवः किं परं ब्रह्म चैक्यं स्वामिंस्तयोः कथम् ।
कथञ्च तत्त्वमस्यादिवाक्यं तत्प्रतिपादयेत् ॥ ११ ॥

शिष्य—स्वामिन् ! जीव कौन है ? परब्रह्म क्या है ? उनकी

---

१. ज्ञानके विना मोक्ष नहीं हो सकता ।

२. मुक्तिके लिये और कोई मार्ग नहीं है ।

३. उसे जान लेनेपर मृत्युको पार कर लेता है ।

एकता किस प्रकार है ? तथा तत्त्वमसि आदि वाक्य किस प्रकार उनकी एकताका प्रतिपादन करते हैं ?

शृणुष्व सावधानः सन्नान्यो जीवस्त्वमेव हि ।
अहमेवास्मि कः स्वामिंस्त्वं ब्रह्मासीति निश्चिनु ॥ १२ ॥

गुरु–सावधान होकर सुनो; जीव तुम्हीं हो और कोई नहीं। [शिष्य–] स्वामिन् मैं ही कौन हूँ ? [गुरु–] तुम ब्रह्म ही हो—ऐसा निश्चय करो ।

वेदवाक्यानि भाषन्ते वत्स ते ब्रह्मरूपताम् ।
दुःखशान्त्यै च सन्त्यागं शृणु तानि वदामि ते ॥ १३ ॥

हे वत्स ! वेदवाक्य तुम्हारी ब्रह्मरूपताका तथा दुःख-शान्तिके लिये त्यागका प्रतिपादन करते हैं। सुनो, वे वेदवाक्य मैं तुम्हें सुनाता हूँ ।

श्रुतयः

एकमाद्यन्तरहितं चिन्मात्रममलं ततम् ।
खादप्यतितरां सूक्ष्मं तद्ब्रह्मासि न संशयः ॥ १४ ॥

जो एक, आदि-अन्तसे रहित, चेतनमात्र निर्मल, व्यापक और आकाशसे भी अत्यन्त सूक्ष्म है तू वह ब्रह्म ही है—इसमें सन्देह नहीं।

चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।
चित्त्वं चिदहमिति च लोकाश्चिदिति भावय ॥ १५ ॥

इस लोकमें केवल चित् ही है, यह सब चिन्मात्र और चिन्मय ही है । 'तू चित् है, मैं चित् हूँ तथा सम्पूर्ण लोक चित् ही है' ऐसी भावना कर ।

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत् ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत् ॥ १६ ॥

जो सबका आत्मारूप परब्रह्म विश्वका महान् आयतन है तथा जो नित्य और सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म है वही तू है और तू ही वह है।

आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः ।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवानघ ॥ १७ ॥

क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् आदि, मध्य और अन्तमें दुःखरूप ही है, इसलिये हे अनघ ! इस सबको त्यागकर तू तत्त्वनिष्ठ हो जा।

सर्वव्यापारमुत्सृज्य अहं ब्रह्मेति भावय ।
अहं ब्रह्मेति निश्चित्य अहं भावं परित्यज ॥ १८ ॥

तू सब प्रकारका व्यापार छोड़कर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी भावना कर और 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय करके अहंभावको भी त्याग दे।

निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः ।
क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥ १९ ॥

निद्रा तथा लौकिक बातचीतसम्बन्धी शब्द आदिसे कभी आत्म-विस्मृतिके लिये अवसर न देकर तू अपने अन्तःकरणमें आत्माका ही चिन्तन कर।

तत्-त्वं-पदार्थ-निरूपण

संग्रहकर्तृवचनम्

भगवन् सम्यगद्यापि पदार्थान्नैव वेद्म्यहम् ।
तत्त्वमेवेति वाक्यार्थं जानीयां तु कथं वद ॥ २० ॥

शिष्य–भगवन् ! अभीतक मैं तत् और त्वम् पदके अर्थ तो ठीक-ठीक जानता ही नहीं हूँ फिर बतलाइये 'तत्त्वमेव' इस वाक्यका अर्थ मैं कैसे जान सकूँगा ?

सत्यं यदात्थ वत्स त्वं वाक्यार्थप्रमिताविह ।
हेतुः पदार्थबोधोऽस्ति पदार्थान्विद्ध्यहं ब्रुवे ॥ २१ ॥

गुरु–हे वत्स ! तुम जो कुछ कहते हो ठीक ही है, वाक्यार्थका ज्ञान होनेमें पदोंके अर्थोंका ज्ञान ही कारण है । अब मैं पदोंका अर्थ बतलाता हूँ, सो भली प्रकार समझ लो ।

त्वंपदार्थ इह प्रत्यक् तत्पदार्थो महेश्वरः ।
असीति च तयोरैक्यमेवं ज्ञेयं तु तत्त्रिकम् ॥ २२ ॥

इनमें 'त्वम्' पदका अर्थ प्रत्यगात्मा है और 'तत्' पदका अर्थ परमेश्वर है तथा 'असि' उनकी एकता बतलाता है । इस प्रकार इन तीनोंका भाव समझना चाहिये ।

यो देहेन्द्रियहृत्साक्षी सच्चिदानन्दलक्षणः ।
तं नित्यानन्दमात्मानं जानीषे न कथं वद ॥ २३ ॥

जो सच्चिदानन्दस्वरूप [तुम्हारे] देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणका साक्षी है बताओ, उस नित्यानन्दस्वरूप आत्माको तुम कैसे नहीं जानते?

बाह्ये ह्यात्मन्यहम्भावं त्यक्त्वा तथान्तरात्मनि ।
कारणाङ्गे च तं त्यक्त्वा तेषां स्वं विद्धि साक्षिणम् ॥ २४ ॥

बाह्य आत्मा (स्थूल शरीर), अन्तरात्मा (सूक्ष्म शरीर)

और कारणात्मा (कारणशरीर) में अहंभाव त्यागकर अपनेको उनका साक्षी जानो ।

पञ्चकोशका बाध

योऽयमन्नमयः कोशो देहो रूपादिमत्त्वतः ।
भौतिकत्वाच्च नात्मायं घटादिवत्सदैव हि ॥ २५ ॥

यह जो अन्नमय कोशनामक देह है वह रूपादिमान् और भौतिक होनेके कारण घटादिके समान आत्मा कभी नहीं हो सकता ।

उपदेशसाहस्र्याम्

पार्थिवः कठिनो धातुर्द्रवो देहे स्मृतोऽम्मयः ।
पक्तिचेष्टावकाशाः स्युर्वह्निवाय्वम्बरोद्भवाः ॥ २६ ॥

शरीरमें कठिन धातु पृथिवीका अंश है, द्रवभाग जलमय है तथा पाचन, गति और अवकाश क्रमशः अग्नि, वायु और आकाशजनित हैं ।

संग्रहकर्तृवचनम्

इति भाष्यकृता चोक्ता देहस्य भूतकार्यता ।
तस्मादनात्मके देहे त्यज त्वमात्मभावनाम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार भगवान् भाष्यकार (श्रीशङ्कराचार्यजी) ने देहको भूतोंका कार्य बतलाया है; अतः इस अनात्म देहमें तुम आत्म-भावना छोड़ दो ।
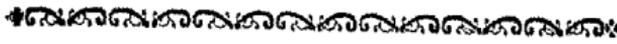
अनात्मा यदि देहोऽयं रूपवत्त्वादिहेतुभिः ।
तर्हि तद्भिन्नमात्मानं स्पष्टं स्वामिन् समीरय ॥ २८ ॥

शिष्य–यदि रूपवत्त्व आदि कारणोंसे यह देह अनात्मा ही है, तो हे स्वामिन् ! उससे भिन्न आत्माका स्पष्टतया वर्णन कीजिये ।

देहद्रष्टा सदा भिन्नो घटद्रष्टेव देहतः ।
द्रष्टृत्वात्त्वं स्वमात्मानं देहाद्भिन्नं विनिश्चिनु ॥ २९ ॥

गुरु–घटद्रष्टाके समान देहद्रष्टा सदा ही देहसे भिन्न है । अतः तुम द्रष्टृत्वधर्मके कारण अपने आपको देहसे भिन्न निश्चय करो ।

स्वभिन्नद्रष्टृको देहो दृश्यत्वाद्धि घटादिवत् ।
देहद्रष्टारमेवं वा स्वात्मानमवधारय ॥ ३० ॥

यह देह दृश्यरूप होनेसे घटादिके समान अपनेसे भिन्न द्रष्टाको प्रतीत होनेवाला है । इस प्रकार तुम अपनेको देहका द्रष्टा समझो ।

किञ्चात्मा भास्यदेहाद्वै भासकत्वाद्विभिद्यते ।
काष्ठादेर्हि यथैवाग्निस्तथा चायं ततस्तथा ॥ ३१ ॥

और यह आत्मा तो भासित होनेवाले देहसे उसका भासक होनेके कारण भिन्न ही है । जिस प्रकार काष्ठादिसे अग्नि पृथक् रहता है उसी प्रकार यह शरीरसे पृथक् है ।

चेतनाधीनचेष्टावान् देहो नात्मा रथादिवत् ।
जडत्वात्त्वं ततस्तस्य प्रेरकं त्ववधारय ॥ ३२ ॥

चेतनके अधीन ही चेष्टा करनेवाला देह जडरूप होनेसे

रथादिके समान आत्मा नहीं हो सकता । अतः तुम अपनेको तो उस (शरीर) का प्रेरक समझो ।

एवमन्नमयाद्भिन्नं ज्ञात्वात्मानं हि चिद्घनम् ।
देहे स्वात्ममतिं त्यक्त्वा प्राणमयेऽपि तां त्यज ॥ ३३ ॥

इस प्रकार चिन्मय आत्माको अन्नमय देहसे भिन्न जानकर देहमें आत्मबुद्धि छोड़ो और फिर प्राणमयमें भी उस (आत्मबुद्धि) का त्याग करो ।

भौतिकत्वात्तथा प्राणोऽनात्मा जडतयापि च ।
सुप्तौ यतो न जानाति चौरादीन्सञ्चलन्नपि ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार भौतिक तथा जडरूप होनेके कारण प्राण भी आत्मा नहीं है, क्योंकि यह सुषुप्तिमें सञ्चार करता हुआ भी चोर आदिको नहीं जानता ।

स्पर्शवत्त्वात्तथा प्राणो नात्मा व्यजनवातवत् ।
करणत्वाच्च नात्मायं प्राणेनेति श्रुतेस्तु सः ॥ ३५ ॥

तथा स्पर्शयुक्त होनेके कारण पंखेकी वायुके समान प्राण भी आत्मा नहीं हो सकता । इसके सिवा 'प्राणेन जिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम्'* (ऐ० उ० ३ । ४) इत्यादि श्रुतिके अनुसार करणरूप होनेसे भी वह आत्मा नहीं है ।

नापानेन न प्राणेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इत्युक्त्वा काठकश्रुत्या प्राणस्यानात्मता तथा ॥ ३६ ॥

* उसने [अन्नको] प्राणसे ग्रहण करना चाहा, किन्तु वह उसे प्राणसे ग्रहण न कर सका ।
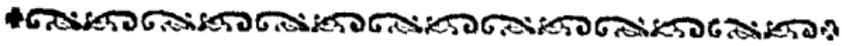
तथा कठश्रुतिने भी 'कोई भी मनुष्य प्राण अथवा अपानसे जीवित नहीं रह सकता' ऐसा कहकर प्राणकी अनात्मता प्रतिपादन की है ।

क्षुत्पिपासावतः प्राणात्तथापानादितो जडात् ।
भिन्नं प्रेरकमाधारं चैषां स्वमवधारय ॥ ३७ ॥

इस प्रकार तुम अपनेको क्षुधा-पिपासायुक्त जड प्राण और अपानादिसे भिन्न तथा इन सबका प्रेरक जानो ।

वागादयोऽप्यनात्मानः करणत्वात्कुठारवत् ।
यत्सान्निध्याद्विचेष्टन्ते सोऽहं चिदिति निश्चिनु ॥ ३८ ॥

करणरूप होनेसे कुठारके समान अनात्मा वागादि भी जिसकी सन्निधिसे चेष्टा करते हैं वह चित् ही मैं हूँ—ऐसा निश्चय करो ।

प्राणमयस्य कोशस्य बुद्ध्वैवं स्वं हि साक्षिणम् ।
मनोमयाख्यकोशेऽपि त्यज सौम्यात्मभावनाम् ॥ ३९ ॥

हे सौम्य ! इस प्रकार अपनेको प्राणमयकोशका साक्षी जानकर मनोमयकोशमें भी आत्मभावनाका त्याग करो ।

मनोमयोऽपि नैवात्मा करणत्वात्कुठारवत् ।
भौतिकत्वाच्च नात्मा स दृश्यत्वाच्च प्रदीपवत् ॥ ४० ॥

कुठारके समान करणरूप होनेसे मनोमयकोश भी आत्मा नहीं है । वह भौतिक तथा दृश्यरूप होनेसे भी दीपकके समान आत्मा नहीं हो सकता ।

चक्षुर्भवति नैवात्मा करणत्वात्प्रदीपवत् ।
रूपं यथैव दीपेन लभ्यते चक्षुषा तथा ॥ ४१ ॥

करणरूप होनेके कारण दीपकके समान नेत्र भी आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि जिस प्रकार दीपकसे रूपकी उपलब्धि होती है उसी प्रकार नेत्रसे भी होती है ।

श्रोत्रादिष्वेवमेवोह्यमनात्मत्वं त्वया सदा ।
मत्प्रत्ययास्पदत्वाद्वै भौतिकत्वाच्च दात्रवत् ॥ ४२ ॥

इसी प्रकार तुम्हें श्रोत्रादिमें भी अनात्मत्वका निश्चय करना चाहिये, क्योंकि दराँतीके समान वह भी मेरी प्रतीतिका विषय और भूतोंका कार्य है ।

श्रोत्रादीनि मनश्चैवं नैवात्मेति विचारयन् ।
तेषां साक्षिणमात्मानं सदा स्वमवधारय ॥ ४३ ॥

इस प्रकार यह विचारकर कि श्रोत्रादि और मन भी आत्मा नहीं हैं अपनेको सर्वदा उन सबका साक्षी समझो ।

विकारमननुप्राप्तः सन्नयस्कान्तवत्तु यः ।
चालयेन्मनआदीनि सोऽहं चिदिति निश्चिनु ॥ ४४ ॥

जो चुम्बक पत्थरके समान विकारको प्राप्त हुए बिना ही मन आदिको प्रेरित करता है वह चित् ही मैं हूँ—ऐसा निश्चय करो ।

मनोमयस्य कोशस्य ज्ञात्वैवं स्वं हि साक्षिणम् ।
विज्ञानमयकोशेऽपि जहि सौम्यात्मभावनाम् ॥ ४५ ॥

हे सौम्य ! इसी प्रकार अपनेको मनोमयकोशका भी साक्षी जानकर विज्ञानमयकोशमें भी आत्मभावनाका त्याग करो ।

बुद्धिरपि च नैवात्मा दृश्यत्वात्करणत्वतः ।
तथा यथा प्रदीपादिस्तथा चेयं ततस्तथा ॥ ४६ ॥

दृश्य और करणरूप होनेसे बुद्धि भी आत्मा नहीं है; जिस प्रकार दीपक आदि [देखनेवालेसे पृथक्] हैं उसी प्रकार यह भी उससे भिन्न ही है ।

विज्ञानमयशब्देन श्रुत्या कर्ता प्रकीर्त्तितः ।
विज्ञानं तनुते यज्ञमित्येवमाद्यया स्फुटम् ॥ ४७ ॥

'विज्ञानं यज्ञं तनुते' * (तै० उ० २ । ५) इत्यादि श्रुतिने विज्ञानमय शब्दसे [बुद्धिको] स्पष्टतया कर्ता बतलाया है ।

भोक्तानन्दमयस्तद्वत्कार्यात्मा मयटेरितः ।
कर्त्ता भोक्ता च नैव त्वं किन्त्वानन्दोऽसि केवलः ॥ ४८ ॥

और इसी प्रकार 'मयट्' प्रत्ययसे कहा जानेवाला कार्यात्मा आनन्दमय भोक्ता बतलाया गया है । किन्तु तुम कर्ता या भोक्ता नहीं हो; बल्कि केवल आनन्दमात्र हो ।

विज्ञानमयकोशस्य बुद्ध्वैवं त्वमनात्मताम् ।
सौम्यानन्दमये कोशे तथा त्यजात्मभावनाम् ॥ ४९ ॥

हे सौम्य ! इस प्रकार विज्ञानमयकोशकी अनात्मता जानकर तुम इसी तरह आनन्दमयकोशमें भी आत्मभावका त्याग करो ।

नात्मानन्दमयः कोशः शिरःपक्षादिमत्त्वतः ।
यथैवान्नमयः कोशस्तथा चायं ततस्तथा ॥ ५० ॥

* विज्ञान ही यज्ञका विस्तार करता है ।

शिर तथा पक्षादिमान् होनेके कारण* आनन्दमयकोश भी आत्मा नहीं है, क्योंकि जैसा अन्नमयकोश है वैसा ही यह भी है। अतः यह भी अनात्मा ही है।

सौम्यानन्दस्त्वमेवासि केवलोऽनन्तचिद्घनः।
द्रष्टैव पञ्चकोशानां न त्वं कोशाः कदाचन॥५१॥

हे सौम्य! तुम तो केवल अनन्त चिद्घन आनन्दमात्र ही हो। तुम तो पाँचों कोशोंके द्रष्टा ही हो—कोश कभी नहीं हो।

न त्वं हृन्नेन्द्रियाणि त्वं न जाग्रदादिमांस्तथा।
अवस्थात्रयसाक्षी यः सोऽहमित्यवधारय॥५२॥

तुम न हृदय हो, न इन्द्रियाँ हो और न जाग्रदादि अवस्थावान् ही हो; बल्कि तुम तो यही निश्चय करो कि जो तीनों अवस्थाओंका साक्षी है वही मैं हूँ।

देहादिभिः सहाध्यासाद्भोक्तृत्वं ते न तु स्वतः।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुरिति श्रुतेः॥५३॥

'आत्मा, इन्द्रिय और मन—इन तीनोंको मिलाकर भोक्ता कहते हैं' इस श्रुतिके अनुसार देह आदिके साथ अध्यास होनेसे ही तुममें भोक्तृत्व है, स्वतः नहीं।

---

*इस सम्बन्धमें यह तैत्तिरीय श्रुति प्रसिद्ध है—

तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। (२।५)

उस आनन्दमयका प्रिय शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा (शरीर) है और ब्रह्म पुच्छ यानी आधार है।

अवस्थात्रयनिरूपण

भगवन् जाग्रदादीनां लक्षणं त्वं समीरय ।
तद्धर्मिणाञ्च तेषां मां जानीयां येन साक्षिणम् ॥ ५४ ॥

शिष्य—भगवन्! आप जाग्रत् आदि अवस्थाओंका तथा उनके धर्मियोंका लक्षण बतलाइये, जिससे मैं अपनेको उनका साक्षी जान सकूँ।

जाग्रतो लक्षणं सौम्य तथा तद्धर्मिणं शृणु ।
श्रुत्वा तयोश्च यो द्रष्टा सोऽहमित्यवधारय ॥ ५५ ॥

गुरु—हे सौम्य! तुम जागृति और उसके धर्मीके लक्षण सुनो, और उसे सुनकर जो उनका द्रष्टा है वही मैं हूँ—ऐसा निश्चय करो।

धीन्द्रियैर्विषयज्ञानं सत्त्वेन च तथैव यत् ।
तत्तद्देवप्रसादेन बुधैर्जाग्रत्तदीरितम् ॥ ५६ ॥

भिन्न-भिन्न इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंके अनुग्रहसे ज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धिके द्वारा जो विषयका ज्ञान होता है, उसे ही बुधजनोंने 'जाग्रत्-अवस्था' कहा है।

स सत्त्वेन्द्रियसङ्घातो जाग्रद्धर्मीति कथ्यते ।
न त्वं सत्त्वेन्द्रियग्रामस्तत्साक्ष्यसि न संशयः ॥ ५७ ॥

वह बुद्धि और इन्द्रियोंका समूह ही जाग्रत्-अवस्थाका धर्मी कहा जाता है, किन्तु तुम बुद्धि और इन्द्रियसमूह नहीं हो। इसमें सन्देह नहीं, तुम तो उनके साक्षी ही हो।

एवं सौम्य न ते धर्मो जाग्रदपि तु चेतसः ।
सेन्द्रियस्यैव तद्धर्मस्त्वं तत्साक्ष्येव केवलः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार हे सौम्य ! जाग्रत्-अवस्था तुम्हारा धर्म नहीं है, बल्कि वह तो इन्द्रियोंके सहित चित्तका ही धर्म है । तुम केवल उसके साक्षी ही हो ।

यथा जाग्रन्न ते धर्मस्तथा स्वप्नोऽपि नैव ते ।
त्वं तु स्वप्ने स्वयंज्योतिरत्रायमिति च श्रुतेः ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्था तुम्हारा धर्म नहीं है उसी प्रकार स्वप्न भी नहीं है । तुम तो 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः'* (बृ० उ० ४।३।९) इस श्रुतिके अनुसार स्वप्नमें स्वयंप्रकाश ही हो ।

बाह्येन्द्रियोपसंहारे जाग्रत्संस्कारजो हि यः ।
बोधः सविषयः सोऽसौ स्वप्नो भाष्यकृतेरितः ॥ ६० ॥

बाह्य इन्द्रियोंका उपसंहार हो जानेपर जो जाग्रत्संस्कारजनित सविषय बोध होता है उसीको भाष्यकारने स्वप्न कहा है ।

यथा स्वप्नो मनोधर्मो धर्मः सुप्तिस्तथा धियः ।
बुद्धेः कारणरूपेणावस्थानं सुप्तिरीरिता ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार स्वप्न मनका धर्म है उसी प्रकार सुषुप्ति बुद्धिका धर्म है । बुद्धिका कारणरूपसे स्थित होना ही सुषुप्ति कहा गया है ।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनां तथा देहत्रयस्य च ।
विश्वाद्या ह्यभिमन्तारस्तद्द्रष्टा त्वं ह्यलुप्तदृक् ॥ ६२ ॥

---

* यहाँ यह आत्मा स्वयंज्योति है ।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तथा तीनों देहोंके अभिमानी तो विश्व आदि हैं और तुम उनके अलुप्तदृक् (जिसकी दृष्टि कभी लुप्त नहीं होती—ऐसे) साक्षी हो ।

स्वप्नो जागरणे नास्ति जाग्रत्स्वप्ने तथैव न ।
सुप्तौ तच्च द्वयं नास्ति सुप्तिश्चापि तयोर्न हि ॥ ६३ ॥

जागृतिमें स्वप्न और स्वप्नमें जागृति नहीं है तथा सुषुप्तिमें वे दोनों नहीं हैं और उन दोनोंमें सुषुप्ति नहीं है ।

अतस्तत्तु त्रयं मिथ्या गुणत्रयसमुद्भवम् ।
तासां यो निर्गुणः साक्षी सोऽहमित्यवधारय ॥ ६४ ॥

अतः गुणत्रयसे उत्पन्न हुई वे तीनों ही अवस्थाएँ मिथ्या हैं। उनका जो निर्गुण साक्षी है वही मैं हूँ—ऐसा निश्चय करो।

त्वं-पदका निरूपण

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनां भावाभावौ धियां तथा ।
जागरस्वप्नयोर्वेत्ति मनसश्च गमागमौ ।
सुप्तौ च तल्लयं वेत्ति सोऽहमित्यवधारय ॥ ६५ ॥

जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओंके तथा उनके ज्ञानोंके भाव और अभावको जानता है; एवं जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें मनके आने-जाने और सुषुप्तिमें उसके लीन होनेको जानता है वही मैं हूँ—ऐसा निश्चय करो ।

घटप्रकाशको दीपो यथा न घटधर्मवान् ।
सुप्त्यादिभासकस्तद्वन्नात्मा सुप्त्यादिधर्मवान् ॥ ६६ ॥

जिस प्रकार घटको प्रकाशित करनेवाला दीपक घटके धर्मोंसे युक्त नहीं होता उसी प्रकार सुषुप्ति आदिको प्रकाशित करनेवाला आत्मा सुषुप्ति आदिके धर्मवाला नहीं है।

अदेहत्वाच्च जन्माद्याः षड्विकारा न ते तथा।
गोत्रवर्णाश्रमाद्याश्च न ते धर्मा हि सौम्य भोः॥ ६७॥

हे सौम्य! देहरूप न होनेके कारण तुझमें जन्म आदि छः विकार नहीं हैं और न तुझमें गोत्र वर्ण या आश्रम आदि धर्म ही हैं।

क्षुत्पिपासे न ते धर्मौ शोकमोहौ तथा न ते।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इति श्रुत्यनुशासनात्॥ ६८॥

'[वह आत्मा] प्राणहीन, मनोहीन और शुद्ध है' (मु० उ० २।१।२) इस श्रुतिके उपदेशानुसार क्षुधा और पिपासा तेरे धर्म नहीं हैं और न तुझमें शोक एवं मोह ही हैं।

दारपुत्रादयो भावा यदर्थत्वेन नुः प्रियाः।
सर्वेभ्योऽतिप्रियो ह्यात्मा सोऽहमित्यवधारय॥ ६९॥

जिसके लिये पुरुषको स्त्री-पुत्रादि पदार्थ प्रिय होते हैं वह सबसे अत्यन्त प्रिय आत्मा ही मैं हूँ—ऐसा निश्चय करो।

परप्रेमास्पदत्वेन मा न भूवमहं सदा।
भूयासमिति यो वेत्ति सोऽहमित्यवधारय॥ ७०॥

परम प्रेमका आश्रय होनेके कारण जो 'मैं न रहूँ—ऐसा नहीं बल्कि सदा रहूँ ही' ऐसा जानता है वही मैं हूँ—ऐसा निश्चय करो।

आत्माको बन्धन कैसे हुआ ?

भगवन् सुखरूपश्चेदात्मायं संसरेत्कथम् ।
स्वतो वा परतो वास्य संसारोऽस्तीति मे वद ॥ ७१ ॥

शिष्य—भगवन् ! यदि यह आत्मा सुखस्वरूप है तो इसका संसरण कैसे होता है ? इसे संसारकी प्राप्ति अपनेहीसे हुई है अथवा किसी अन्यसे—यह मुझे बतलाइये ।

शृणु वत्स स्वतो नास्ति संसारः प्रत्यगात्मनः ।
किन्त्वज्ञाद्यविवेकेन संसारोऽस्याविकारिणः ॥ ७२ ॥

गुरु—हे वत्स ! सुन, प्रत्यगात्माको संसार स्वतः प्राप्त नहीं है, बल्कि शरीरादिका विवेक न होनेके कारण ही इस अविकारीको संसारकी प्राप्ति हुई है ।

घटजन्मादिकं यद्वद्घटाकाशे प्रकल्प्यते ।
देहजन्मादिकं तद्वत्कूटस्थे त्वयि कल्प्यते ॥ ७३ ॥

जिस प्रकार घटके जन्म आदिकी घटाकाशमें भी कल्पना कर ली जाती है उसी प्रकार तुझ कूटस्थमें भी देहके जन्मादि धर्मोंका आरोप कर लिया जाता है ।

साक्षित्वमपि तद्वत्स्यादविद्योपाधिनात्मनि ।
अविद्यामात्रसंयुक्तः साक्ष्यात्मेति शिवोक्तितः ॥ ७४ ॥

इसी प्रकार आत्मामें साक्षीभाव भी अविद्यारूप उपाधिके कारण ही है । शिवजीके कथनानुसार अविद्यामात्रसे संयुक्त हुआ आत्मा ही साक्षी है ।
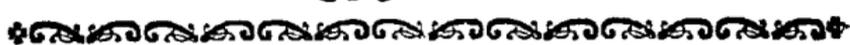
अतोऽन्तःकरणाध्यासादविद्यायाश्च योगतः ।
संसारित्वञ्च साक्षित्वमात्मनो न तु वस्तुतः ॥ ७५ ॥

अतः अन्तःकरणके अध्यास और अविद्याके योगसे ही आत्मामें संसारित्व एवं साक्षित्व है—वास्तवमें नहीं ।

बुद्धिकृतावच्छेदेन जीवत्वं चिति केचन ।
प्राहुरन्ये तथा प्रत्यग्बुद्धौ चित्प्रतिबिम्बनात् ॥ ७६ ॥

किन्हीं-किन्हींने बुद्धिकृत अवच्छेदके कारण ही शुद्ध चेतनमें जीवभाव बतलाया है तथा कुछ औरोंने अन्तःस्थिता बुद्धिमें चेतनका प्रतिबिम्ब पड़नेसे जीवत्वकी प्राप्ति मानी है ।

बन्धमोक्षव्यवस्थार्थं प्रतिदेहञ्च भिन्नताम् ।
वदन्त्येके हि जीवस्य प्राहुश्चान्ये तदेकताम् ॥ ७७ ॥

कोई-कोई बन्ध-मोक्षकी व्यवस्थाके लिये प्रत्येक देहमें जीवकी भिन्नता बतलाते हैं तथा दूसरे लोग उसकी एकताका प्रतिपादन करते हैं ।

तत्-पदका निरूपण

त्वमर्थो दर्शितो ह्येवं विस्तराद्वत्स ते मया ।
अधुना तत्पदार्थं ते ब्रुवे श्रुत्यनुसारतः ॥ ७८ ॥

हे वत्स ! इस प्रकार मैंने तुम्हें त्वम्पदका अर्थ विस्तारसे दिखलाया । अब मैं तुम्हें श्रुतिके अनुसार तत्पदका अर्थ बतलाता हूँ ।
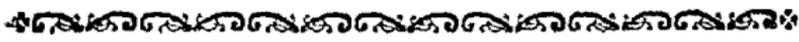
खादिभूतानि जायन्ते यतो धृतानि येन च ।
यस्मिन्नन्ते च लीयन्ते तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ७९ ॥

ये आकाशादि भूत जिससे उत्पन्न हुए हैं, जिसने इन्हें धारण कर रखा है और अन्तमें जिसमें ये लीन हो जाते हैं वही ब्रह्म है—ऐसा निश्चय करो ।

जन्माद्यस्य यतश्चेति सूत्रं यस्याह लक्षणम् ।
तटस्थं सर्वहेतुत्वं तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ८० ॥

'जन्माद्यस्य यतः'* (ब्र० सू० १।१।२) यह सूत्र जिसका तटस्थ लक्षण और सबका कारणत्व बतलाता है वही ब्रह्म है—ऐसा जानो ।

जीवरूपेण देहेषु प्रवेशो यस्य चेरितः ।
प्रेरयति च यो जीवांस्तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ८१ ॥

जिसका जीवरूपसे देहोंमें प्रवेश बतलाया गया है और जो सकल जीवोंको प्रेरित करता है वही ब्रह्म है—ऐसा जानो ।

जीवान्यश्चापि कर्माणि कारयत्यद्य चेतनः ।
तत्प्राक्कर्मानुरोधेन तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ८२ ॥

जीवोंके पूर्वकर्मानुसार जो चेतन इस समय उनसे कर्म कराता है वही ब्रह्म है—ऐसा जानो ।

यज्ज्ञानेनाखिलज्ञानं छान्दोग्यादिषु कीर्तितम् ।
मृदादि बहुदृष्टान्तैस्तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ८३ ॥

---

* जिससे इस (जगत्) के जन्मादि (जन्म स्थिति और प्रलय) होते हैं [वह ब्रह्म है] ।

छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें मृत्तिका आदि अनेकों दृष्टान्तों-द्वारा जिसके ज्ञानसे सम्पूर्ण वस्तुओंका ज्ञान होना बतलाया है वही ब्रह्म है—ऐसा जानो ।

वेदश्चापि यतो जातः सर्वज्ञाच्छ्वासवच्चितः ।
महत्तमाज्जगद्योनेस्तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ८४ ॥

जगत्के कारणरूप जिस अति महान् सर्वज्ञ चेतनसे पुरुषके श्वासके समान वेद भी उत्पन्न हुआ है वही ब्रह्म है—ऐसा जानो ।

घटादयो यथानन्या मृदादेः स्वस्वकारणात् ।
तथा जगद्यतोऽनन्यत्तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ८५ ॥

जिस प्रकार घट आदि अपने कारण मृत्तिका आदिसे अभिन्न हैं उसी प्रकार जिससे यह संसार अभिन्न है वही ब्रह्म है—ऐसा जानो ।

ब्रह्मकी सर्वात्मकता

ब्रह्म सर्वात्मकं विद्धि सर्वं जगच्च चिन्मयम् ।
ब्रह्मसर्वात्मताज्ञप्त्यै श्रुतीरपि वदामि ते ॥ ८६ ॥

ब्रह्मको सर्वात्मक जानो और सम्पूर्ण जगत्को चिन्मय समझो । ब्रह्मकी सर्वात्मकताके ज्ञानके लिये मैं तुमसे कुछ श्रुतियाँ भी कहता हूँ ।

श्रुतयः

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः ।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किञ्चन ॥ ८७ ॥

स्वयं ही ब्रह्मा है, स्वयं ही विष्णु है, स्वयं ही इन्द्र है और

स्वयं ही शिव है तथा स्वयं ही यह सम्पूर्ण विश्व है; स्वयं (अपने) से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत्।
जगत्त्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं हि विचारतः ॥ ८८ ॥

जिस प्रकार मरुभूमिमें [प्रतीत होनेवाला] सारा जल मरुस्थलमात्र ही होता है उसी प्रकार विचारसे यह सम्पूर्ण त्रिलोकी चेतनमात्र ही है।

एकं ब्रह्म द्वयं ब्रह्म मोहो ब्रह्म शमादिकम्।
दोषो ब्रह्म गुणो ब्रह्म दमः शान्तं विभुः प्रभुः।
लोको ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म शिष्यो ब्रह्म सदाशिवः ॥ ८९ ॥

एक ब्रह्म है, दो ब्रह्म है, मोह ब्रह्म है, शम आदिक ब्रह्म है, दोष ब्रह्म है तथा गुण भी शान्त दान्त विभु और समर्थ ब्रह्म ही है। इसी प्रकार लोक ब्रह्म है, गुरु ब्रह्म है तथा शिष्य भी सर्वदा कल्याणस्वरूप ब्रह्म ही है।

सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यचिद्घनमक्षतम्।
न त्वं नाहं न चान्यद्वा सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ ९० ॥

यह सारा प्रपञ्च निश्चय ही नित्य, चिद्घन और अविनाशी ब्रह्म ही है। मैं, तू या और सब वस्तुएँ कुछ भी नहीं हैं। सब कुछ केवल ब्रह्म ही है।

संग्रहकर्तृवचनम्

इत्यादिश्रुतिभिः प्रोक्ता यस्य सर्वात्मतेशितुः।
सच्चिदानन्दरूपस्य तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ९१ ॥

इन सब श्रुतियोंसे जिस सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वरकी सर्वात्मता-का प्रतिपादन किया है वही ब्रह्म है—ऐसा जानो ।

सत्यं ज्ञानमनन्तञ्चेत्याह स्वरूपलक्षणम् ।
तैत्तिरीयश्रुतिर्यस्य तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ९२ ॥

जिसका तैत्तिरीय श्रुतिने 'ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्तरूप है' ऐसा स्वरूपलक्षण कहा है वही ब्रह्म है—ऐसा जानो ।

तटस्थलक्षणं चैवं स्वरूपलक्षणं तथा ।
ब्रह्मणः सौम्य ते प्रोक्तं मया वेदप्रमाणतः ॥ ९३ ॥

हे सौम्य ! इस प्रकार मैंने तुम्हें श्रुतिप्रमाणसे ब्रह्मके तटस्थ और स्वरूप-लक्षण बतलाये ।

तत् और त्वं-पदके वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ

तत्त्वमोर्यो हि वाच्यार्थौ लक्ष्यार्थश्च गुरो त्वया ।
विस्तरेण पुरा प्रोक्तः सङ्क्षेपात्तं पुनर्वद ॥ ९४ ॥

शिष्य—हे गुरो ! आपने तत् और त्वं पदके वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थका पहले विस्तारसे निरूपण किया था; अब उन्हें संक्षेपसे फिर सुनाइये ।

शृणु सौम्य ब्रुवे तेऽहं तत्त्वमर्थौ समासतः ।
पुनस्ते सुखबोधार्थं वाक्यार्थे च प्रवृत्तये ॥ ९५ ॥

गुरु—हे सौम्य ! सुनो, तुम्हारी समझमें सुगमतासे आनेके लिये और [तत्त्वमसि] वाक्यके अर्थमें तुम्हारी प्रवृत्ति करानेके लिये मैं तुम्हें फिर संक्षेपसे तत् और त्वं-पदके अर्थ बतलाता हूँ ।

चेतनोऽङ्गादिधर्मान्यो ह्यारोप्यात्मन्यविद्यया ।
कर्तृत्वाद्यभिमानी स त्वंपदवाच्य ईरितः ॥ ९६ ॥

जो चेतन शरीर आदि धर्मोंको अविद्यावश अपनेमें आरोपित कर कर्तृत्व आदिका अभिमान करता है वही त्वंपदका वाच्य कहा गया है ।

सर्वदेहेषु यः प्रत्यग्बोधो देहादिभासकः ।
कर्तृत्वादिभिरस्पृष्टो लक्ष्यार्थस्त्वंपदस्य सः ॥ ९७ ॥

जो प्रत्यक्चैतन्य सम्पूर्ण देहोंमें देह आदिको प्रकाशित करनेवाला है किन्तु जो कर्तृत्व आदि धर्मोंसे अछूता है वही त्वंपदका लक्ष्यार्थ है ।

वेदवेद्यं जगद्बीजं सर्वज्ञत्वादिधर्मकम् ।
यच्चैतन्यं हि तद्विद्धि वाच्यार्थं तत्पदस्य वै ॥ ९८ ॥

जो चैतन्य वेदसे जाननेयोग्य जगत्का कारण और सर्वज्ञत्व आदि धर्मवाला है उसीको तत्पदका वाच्यार्थ जानो ।

सर्वोपाधिविमुक्तं यत्कार्यकारणवर्जितम् ।
निर्विशेषं चिदानन्दं लक्ष्यार्थस्तत्पदस्य तत् ॥ ९९ ॥

जो सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित, कार्य-कारणभावसे शून्य, निर्विशेष और चिदानन्दस्वरूप है वही तत्पदका लक्ष्यार्थ है ।

पदानां तत्त्वमादीनां प्रागत्रार्थाः प्रदर्शिताः ।
वाक्यार्थबोधसंसिद्ध्यै वाक्यार्थं त्वद्य संशृणु ॥१००॥

इस प्रकार यहाँतक पहले तत् और त्वम् आदि पदोंके अर्थ दिखलाये । अब वाक्यार्थका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करनेके लिये वाक्यका अर्थ सुनो ।

वाक्यार्थ-विचार

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु तत्त्वमादिपदार्थयोः ।
तादात्म्यमेव वाक्यार्थोऽस्त्यखण्डैकरसात्मकः ॥१०१॥

'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंमें 'तत्' और 'त्वम्' आदि पदोंका तादात्म्य ही अखण्डैकरसस्वरूप वाक्यार्थ है ।

प्रत्यग्बोधस्त्वमर्थो यः सोऽद्वयानन्दरूपकः ।
तदर्थो योऽद्वयानन्दः स प्रत्यग्बोधरूपकः ॥१०२॥

जो प्रत्यग्बोध त्वंपदका अर्थ है वह अद्वय आनन्दस्वरूप है और जो अद्वय आनन्दस्वरूप तत्पदका अर्थ है वह प्रत्यग्बोधस्वरूप है ।

एवं परस्पराभेदज्ञानं यदा हि सम्भवेत् ।
अब्रह्मत्वमनात्मत्वं निवर्तेत तदा तयोः ॥१०३॥

इस प्रकार जिस समय इनके पारस्परिक अभेदका ज्ञान हो जाता है उसी समय इनका अब्रह्मत्व और अनात्मत्व निवृत्त हो जाता है ।

अखण्ड एव वाक्यार्थो वाक्यं चाखण्डबोधकम् ।
त्वं चाखण्डस्वरूपोऽसि प्रत्यग्ब्रह्मैक्यविग्रहः ॥१०४॥

अखण्ड ही वाक्यका अर्थ है और वाक्य भी अखण्डहीका बोध करानेवाला है, तथा तू भी ब्रह्मात्मैक्यस्वरूप अखण्डमूर्ति ही है ।
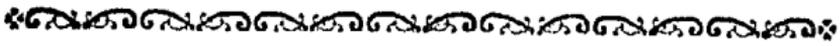
संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्भवेत् ।
भाष्यवार्तिककाराभ्यां तन्निषेधो यतः कृतः ॥१०५॥

यहाँ संसर्ग (अविद्योपहित जीव) या विशिष्ट (मायाविशिष्ट ईश्वर) वाक्यका अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि भाष्यकार (शंकराचार्यजी) और वार्तिककार (सुरेश्वराचार्यजी) ने उसका निषेध किया है ।

यस्मादखण्डमेवाह तत्त्वमस्यादिकं वचः ।
न संसर्गविशिष्टार्थौ ततोऽखण्डं विनिश्चिनु ॥१०६॥

क्योंकि तत्त्वमसि आदि वाक्यने अखण्डहीका प्रतिपादन किया है—संसर्ग या विशिष्ट पदार्थोंका नहीं; इसलिये अखण्डहीका निश्चय करो ।

वाच्यार्थौ तत्त्वमोर्हित्वा लक्ष्यार्थौ परिगृह्य च ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यं हि समर्थमैक्यबोधने ॥१०७॥

तत्त्वमसि आदि वाक्य तत् और त्वंपदके वाच्यार्थोंको त्यागकर तथा लक्ष्यार्थोंको ग्रहण करके ही उनकी एकताका ज्ञान करानेमें समर्थ हैं ।

सर्वज्ञत्वाल्पबोद्धृत्वे तथा प्रत्यक्परोक्षते ।
एकस्य हि विरुद्धयेते लक्षणातः प्रवर्तते ॥१०८॥

क्योंकि एक ही वस्तुमें सर्वज्ञता और अल्पज्ञता तथा प्रत्यक्ता और परोक्षता रहनेमें विरोध है; इसलिये यहाँ लक्षणाकी प्रवृत्ति होती है ।

प्रत्यक्षादिविरोधेन शक्यार्थस्यापरिग्रहे ।
या शक्यार्थेन संबद्धा वृत्तिः सा लक्षणोच्यते ॥१०९॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरोध आनेके कारण जब शक्यार्थका* ग्रहण न किया जाय उस समय जो शक्यार्थसे सम्बन्धित वृत्ति होती है वह लक्षणा कहलाती है ।

लक्षणा त्रिविधा प्रोक्ता जहत्यादिप्रभेदतः ।
तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ॥११०॥

जहती आदिके भेदसे लक्षणा तीन प्रकारकी कही है । उनमेंसे तत्त्वमसि आदि वाक्योंमें भागलक्षणा की जाती है ।

गङ्गायां घोष इत्येवं जहतीह न लक्षणा ।
भवेन्नाजहती चात्र शोणो धावति वाक्यवत् ॥१११॥
सोऽयं पुरुष इत्यादिवाक्येष्विवात्र कीर्तिता ।
जहदजहदाख्या हि लक्षणा वाक्यकोविदैः ॥११२॥

यहाँ 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गाजीपर गोशाला है) इस वाक्यके अनुसार जहती लक्षणा नहीं हो सकती और न 'शोणो धावति' (लाल-लाल दौड़ता है) इस वाक्यके अनुसार अजहल्लक्षणा ही हो सकती है । यहाँ तो वाक्यार्थविशारदोंने 'सोऽयं पुरुषः' (यह वही पुरुष है) इत्यादि वाक्योंके समान जहदजहल्लक्षणा (भाग-त्याग लक्षणा) ही बतलायी है† ।

*'अमुक पदसे अमुक अर्थ समझना चाहिये' इस प्रकार संकेतित अर्थका बोध करानेवाली वृत्तिका नाम 'शक्तिवृत्ति' है और उससे जो अर्थ लिया जाता है उसे 'शक्यार्थ' कहते हैं ।

† जहाँ शब्दोंके मुख्य अर्थका बाध होनेपर उससे उपलक्षित दूसरा अर्थ लिया जाता है वहाँ लक्षणावृत्ति होती है । वह जहती, अजहती और जहत्य-

भागलक्षणया चैवं सोऽयमित्यादिवाक्यवत् ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानि बोधयन्त्यैक्यमादरात् ॥११३॥
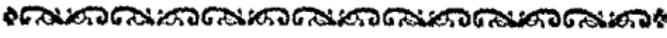
इस प्रकार भागलक्षणाद्वारा 'सोऽयम्' इत्यादि वाक्यके समान तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य भी आदरपूर्वक ऐक्यका ही ज्ञान कराते हैं।

जहती नामसे तीन प्रकारकी है। जहती लक्षणामें शब्दके वाच्यार्थका सर्वथा त्याग करके उससे उपलक्षित नया अर्थ लिया जाता है। जैसे 'गंगाजीपर गोशाला है' इस वाक्यसे गंगाजीके प्रवाहपर गोशालाका होना सिद्ध होता है, परन्तु यह सर्वथा असम्भव है; इसलिये यहाँ 'गंगा' शब्दका अर्थ 'गंगाप्रवाह' न करके 'गंगातीर' किया जाता है। परन्तु 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थ ईश्वर और जीवका सर्वथा त्याग कर देनेपर तो उन दोनोंकी चेतनताका भी त्याग हो जाता है और चेतनताकी एकता ही अभीष्ट है; इसलिये जहती लक्षणासे इन पदोंके अर्थकी एकता नहीं हो सकती। अजहती लक्षणामें वाच्यार्थका त्याग न करके उसके साथ अन्य अर्थ भी ग्रहण किया जाता है। जैसे 'लाल-लाल दौड़ता है' इस वाक्यसे कोई अर्थ स्पष्ट न होनेके कारण उसका अर्थ प्रसंगानुसार लाल घोड़ा या लाल वस्त्रोंवाला मनुष्य किया जाता है। किन्तु 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थोंमें जो विरोध है वह कोई अन्य अर्थ सम्मिलित करनेसे निवृत्त नहीं हो सकता। इसलिये यहाँ अजहल्लक्षणा भी नहीं हो सकती। इन दोनोंके सिवा जहाँ वाच्यार्थका कुछ अंश छोड़ा जाता है और कुछ ग्रहण किया जाता है वहाँ जहत्यजहती या भागलक्षणा होती है। जैसे 'यह वही पुरुष है' इस वाक्यमें 'यह' शब्दसे प्रतीत होनेवाली पुरुषकी अपरोक्षता और 'वही' शब्दसे कही जानेवाली उसकी परोक्षताका त्याग करके इन दोनोंसे रहित जो निर्विशेष पुरुष है उसकी एकता कही जाती है। इसी प्रकार महावाक्यके 'तत्' पदके वाच्य ईश्वरके सर्वज्ञता-परोक्षता आदि गुणोंका और 'त्वम्' पदके वाच्य जीवके अल्पज्ञता-प्रत्यक्षता आदि गुणोंका त्याग करके केवल चैतन्यांशमें एकता बतलायी जाती है।
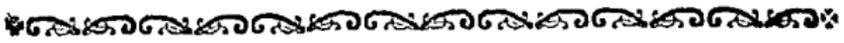
पदयोरिह सम्बन्धः सामानाधिकरण्यकम् ।
पदार्थयोस्तु सम्बन्धो विशेपणविशेष्यता ॥११४॥

यहाँ पदोंमें सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध है तथा पद और उनके अर्थमें विशेपण-विशेष्यभाव-सम्बन्ध है ।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ।
सम्बन्धैस्त्रिभिराहैवमखण्डार्थं श्रुतिः स्फुटम् ॥११५॥

इसी प्रकार प्रत्यगात्मा और पदोंके अर्थका लक्ष्य-लक्षणभाव-सम्बन्ध है; इस प्रकार श्रुतिने इन तीन सम्बन्धोंसे स्पष्टतया अखण्डार्थका ही प्रतिपादन किया है ।

एवं तत्त्वमसीत्यादिवाक्यमखण्डबोधकम् ।
अतोऽत्र संशयो नास्ति त्वं ब्रह्मास्यद्वयं सदा ॥११६॥

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य अखण्डार्थका ही बोध करानेवाला है । अतः इसमें सन्देह नहीं, तू सर्वदा अद्वितीय ब्रह्म ही है ।

त्वं सन्मात्रात्मकः सौम्य पूर्णोऽद्वितीयचिद्घनः ।
सुखरूपोऽस्यसंसारी महावाक्यैर्हि लक्षितः ॥११७॥

हे सौम्य ! तू महावाक्योंसे ही लक्षित सन्मात्र, पूर्ण, अद्वितीय, चिद्घन, सुखस्वरूप और असंसारी ही है ।

यथा तत्त्वमसीत्यादेरखण्डैकार्थतोदिता ।
तथा सत्यादिवाक्यानां बोध्याखण्डार्थनिष्ठता ॥११८॥

जिस प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यकी अखण्डार्थता कही गयी है, उसी प्रकार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंकी अखण्डार्थता जाननी चाहिये ।

अखण्डार्थनिरूपण

अखण्डार्थस्य बोधिन्योऽन्या अपि सन्ति भूरिशः ।
श्रुतयस्ता वदामीह शृणु काश्चन वत्स भोः ॥११९॥

हे वत्स ! अखण्डार्थका बोध करानेवाली और भी बहुत-सी श्रुतियाँ हैं । यहाँ उनमेंसे कुछ बतलाता हूँ, सुनो ।

श्रुतयः

अखण्डैकरसं शास्त्रमखण्डैकरसा त्रयी ।
अखण्डैकरसो देहः अखण्डैकरसं मनः ॥१२०॥

शास्त्र अखण्डैकरस है, वेदत्रयी अखण्डैकरसा है, शरीर अखण्डैकरस है तथा मन भी अखण्डैकरस है ।

अखण्डैकरसं सूत्रमखण्डैकरसो विराट् ।
अखण्डैकरसा विद्या अखण्डैकरसोऽव्ययः ॥१२१॥

सूत्र अखण्डैकरस है, विराट् अखण्डैकरस है, विद्या अखण्डैकरसा है; वह अखण्डैकरस अविनाशी है ।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥१२२॥

न निरोध (प्रलय) है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त ही है—यही परमार्थता है ।

पादाभावाद्गतिर्नास्ति हस्ताभावात्क्रिया न च ।
मृत्युर्नास्ति जन्माभावाद्बुद्ध्यभावात्सुखादिकम् ।१२३।

चरणोंका अभाव होनेके कारण आत्मामें गति नहीं है, हाथोंका अभाव होनेसे क्रिया नहीं है, जन्मका अभाव होनेसे मृत्यु नहीं है तथा बुद्धिका अभाव होनेके कारण सुख आदि नहीं है ।

वाक्यार्थ-विवेक

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च ।
स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥१२४॥

[अब 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस वाक्यका अर्थ करते हैं—] जिसके द्वारा यह देखता, सुनता, सूँघता, व्याख्या करता और स्वादु तथा अस्वादु जानता है उसे प्रज्ञान कहा गया है ।

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु ।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि ॥१२५॥

ब्रह्मा आदि देवताओं, मनुष्यों तथा घोड़ों और गौ आदिकोंमें एक ही चेतन-स्वरूप ब्रह्म है और वह प्रज्ञान ब्रह्म मुझमें भी है ।

परिपूर्णः परात्मास्मिन्देहे विद्याधिकारिणि ।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥१२६॥

['अहं ब्रह्मास्मि' वाक्यका अर्थ इस प्रकार है—] वह परिपूर्ण परमात्मा इस विद्याधिकारी देहमें बुद्धिके साक्षीरूपसे स्थित होकर स्फुरित होता हुआ 'अहम्' ऐसा कहा जाता है ।

स्वतःपूर्णः परात्मात्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः ।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शात्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥१२७॥

इस वाक्यमें 'ब्रह्म' शब्दसे स्वतः पूर्ण परमात्माका ही वर्णन किया गया है । 'अस्मि' इस पदसे एकत्वका परामर्श किया जाता है; अतः मैं ब्रह्म ही हूँ ।

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम् ।
सृष्टेः पुराधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥१२८॥

['तत्त्वमसि' वाक्यका भाव इस प्रकार है—] जो एक, अद्वितीय और नाम-रूपसे रहित सद्वस्तु सृष्टिसे पूर्व थी वही इस समय भी है, उसकी तद्रूपता ही 'तत्' पदसे कही जाती है ।

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम् ।
एकता गृह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥१२९॥

श्रोताके देह और इन्द्रिय आदिसे अतीत वस्तु ही यहाँ त्वं-पदसे कही गयी है, तथा 'असि' पदसे उनकी एकता ग्रहण की जाती है । अतः उनकी एकताका अनुभव करो ।

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ।
अहङ्कारादिदेहान्तात्प्रत्यगात्मेति गीयते ॥१३०॥

[अब 'अयमात्मा ब्रह्म' इस वाक्यका तात्पर्य बतलाते हैं—] 'अयम्' इस उक्तिसे [आत्माका] स्वप्रकाशत्व और अपरोक्षत्व माना गया है, तथा जो अहंकारसे लेकर देहपर्यन्त सबसे आन्तरतम है वह 'आत्मा' कहा जाता है ।

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते ।
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥१३१॥

'ब्रह्म' शब्दसे सम्पूर्ण दृश्यमान जगत्का तत्त्व कहा गया है। वह ब्रह्म स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप है।

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ॥१३२॥

इस प्रकार परमात्मा और जीवकी उपाधि माया तथा अविद्या-का परित्याग कर देनेपर अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म ही लक्षित होता है।

आद्यो रा तत्पदार्थः स्यान्मकारस्त्वम्पदार्थवान् ।
तयोः संयोजनमसीत्यर्थे तत्त्वविदो विदुः ॥१३३॥

['राम' नाममें] पहला अक्षर 'रा' तत्पदके अर्थवाला है और 'म' त्वंपदका वाचक है। तथा उनके संयोगको तत्त्ववेत्ता पुरुष 'असि' अर्थमें मानते हैं।

क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैले जलं जले ।
संयुक्तमेकतां याति तथात्मन्यात्मविन्मुनिः ॥१३४॥

जिस प्रकार दूधमें डाला हुआ दूध, तैलमें डाला हुआ तैल तथा जलमें डाला हुआ जल मिलकर एक रूप हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मवेत्ता मुनि परमात्मासे एकरूप हो जाता है।

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम् ।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम् ॥१३५॥

जिस प्रकार घटके फूट जानेपर घटाकाश स्वयं महाकाश हो जाता है उसी प्रकार उपाधिका लय होनेपर ब्रह्मवेत्ता स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है।

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं वाक्यैः परिज्ञाय स्वस्य ब्रह्मस्वरूपताम्।
सर्वथा सर्वकालेषु तन्निष्ठस्त्वं भवानघ ॥१३६॥

हे अनघ! इस प्रकार महावाक्योंद्वारा अपनी ब्रह्मरूपताको समझकर तू सब समय सब प्रकार उसीमें निष्ठा कर।

बहुना किमिहोक्तेन सङ्क्षेपान्निर्णयं शृणु।
अहं ब्रह्म जगन्मिथ्यैवेति ज्ञात्वा विमुच्यते ॥१३७॥

अब इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ? संक्षेपसे यही निर्णय सुन कि 'मैं ब्रह्म हूँ और जगत् मिथ्या है' ऐसा ज्ञान होनेपर ही जीव मुक्त हो जाता है।

जगत्का असत्यत्व

जीवस्य ब्रह्मणाभेदस्त्वया स्वामिन् प्रपञ्चितः।
विस्तराज्जगतोऽसत्त्वं नोक्तं तत्साम्प्रतं वद ॥१३८॥

शिष्य—हे गुरो! आपने विस्तारपूर्वक ब्रह्मसे जीवका अभेद दिखलाया, किन्तु जगत्का असत्यत्व नहीं कहा; अतः अब उसका वर्णन कीजिये।

शृणु सौम्य वदामि त्वां मिथ्यात्वं जगतोऽप्यहम्।
जगन्मिथ्यैव दृश्यत्वाद्रज्जुसर्पादिवत्सदा ॥१३९॥

गुरु–हे सौम्य ! सुन, अब मैं तुझे जगत्की असत्यता भी बतलाता हूँ । यह जगत् दृश्यरूप होनेसे रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्पके समान सदा मिथ्या ही है ।

श्रुतयश्च तथा प्राहुर्जगतोऽसत्स्वरूपताम् ।
शृणु ता अपि सौम्य त्वं जगतोऽसत्त्वबुद्धये ॥१४०॥

तथा श्रुतियोंने भी जगत्की असद्रूपताका प्रतिपादन किया है । हे सौम्य ! जगत्की असत्यता समझनेके लिये तू उन श्रुतियोंको भी सुन ।

श्रुतयः

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥१४१॥

इसमें सन्देह नहीं, यदि प्रपञ्च होता तो निवृत्त भी हो जाता । यह सकल द्वैत मायामात्र है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है ।

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥१४२॥

इस विकल्पकी यदि किसीने कल्पना की होती तो यह निवृत्त भी हो जाता; यह वाद तो केवल उपदेशके लिये ही है, ज्ञान हो जानेपर तो द्वैत रहता ही नहीं ।

द्वितीयकारणाभावादनुत्पन्नमिदं जगत् ।
यथैवेदं नभः शून्यं जगच्छून्यं तथैव हि ॥१४३॥

[ब्रह्मके सिवा] कोई दूसरा कारण न होनेसे यह जगत् बिना उत्पन्न हुआ ही है। जिस प्रकार यह आकाश शून्य-रूप है उसी प्रकार सारा जगत् शून्यमय है।

वन्ध्याकुमारवचने भीतिश्चेदस्त्विदं जगत्।
शशशृङ्गेण नागेन्द्रो मृतश्चेज्जगदस्तु तत् ॥१४४॥

यदि वन्ध्यापुत्रके वचनसे किसीको भय हो जाय तो यह जगत् भी हो सकता है, अथवा यदि शशशृङ्गसे गजराजका वध हो गया हो तो यह जगत् भी हो सकता है।

मृगतृष्णाजलं पीत्वा तृप्तिश्चेदस्त्विदं जगत्।
गन्धर्वनगरे सत्ये जगद्भवति सर्वदा ॥१४५॥

यदि मृगतृष्णाका जल पीकर किसीको तृप्ति हो जाय तो यह जगत् भी हो जाय तथा गन्धर्वनगरके सत्य होनेपर यह जगत् भी सर्वदा हो सकता है।

गगने नीलिमा सत्ये जगत्सत्यं भविष्यति।
मासात्पूर्वं मृतो मर्त्यो ह्यागतश्चेज्जगद्भवेत् ॥१४६॥

आकाशकी नीलिमा सत्य हो तो जगत् भी सत्य हो जाय। यदि एक मास पहले मरा हुआ मनुष्य लौट आवे तो जगत् भी सत्य हो जाय।

गोस्तनादुद्भवं क्षीरं पुनरारोपणे जगत्।
ज्वालाग्निमण्डले पद्मवृद्धिश्चेज्जगदस्त्विदम् ॥१४७॥

गौके थनोंसे निकले हुए दूधको यदि फिर उसीमें भरा जा सके तो जगत् भी हो सकता है तथा प्रज्वलित अग्निमण्डलमें कमलोंकी वृद्धि हो जाय तो यह जगत् भी हो सकता है।

ज्ञानिनो हृदयं मूढैर्ज्ञातं चेदस्त्विदं जगत्।
अजाकुक्षौ जगन्नास्ति ब्रह्मकुक्षौ जगन्न हि ॥१४८॥

यदि ज्ञानियोंके हृदय (मर्म) को मूढजन समझ लें तो भी यह जगत् हो सकता है। जगत् तो न प्रकृतिके उदरमें है और न ब्रह्मकी ही कोखमें है।

सर्वथा भेदकलनं द्वैताद्वैतं न विद्यते।
नास्ति नास्ति जगत्सर्वं गुरुशिष्यादिकं न हि ॥१४९॥

भेदकलना तथा द्वैत या अद्वैत तनिक भी नहीं है। यह सारा जगत् नहीं है—नहीं है और न गुरु-शिष्यादि ही हैं।

संग्रहकर्तृवचनम्

मिथ्यात्वे जगतः स्वामिन्स्याद्वेदादेर्मृषात्मता।
मिथ्याभूतात्ततो ज्ञानं ब्रह्मणः स्यात्कथं वद ॥१५०॥

शिष्य—हे स्वामिन्! इस प्रकार जगत्का मिथ्यात्व सिद्ध होनेपर तो वेद आदि भी मिथ्या हो जायँगे। तब उन मिथ्याभूत वेदादिसे ब्रह्मज्ञान किस प्रकार हो सकेगा, सो कहिये।

शृणु स्वप्नस्य सिंहेन मिथ्याभूतेन बोधनम्।
दृष्टं यथैव निद्रातो वेदादेः स्यात्तथात्मधीः ॥१५१॥

गुरु–सुनो, जिस प्रकार स्वप्नके मिथ्या सिंहसे भी [भयवश लोगोंको] जागते देखा गया है उसी प्रकार वेद आदिसे आत्मज्ञान हो सकता है।

एवं श्रुत्यादिभिर्वाक्यैर्ज्ञात्वा जगन्मृषात्मताम् ।
परिशिष्टश्च यद्ब्रह्म तत्त्वं नेतीति बोधितम् ॥१५२॥

इस प्रकार श्रुति आदि वाक्योंसे जगत्का मिथ्यात्व जाननेपर जो नेति-नेतिरूपसे बोधित अन्तमें बचा हुआ ब्रह्म है, वही तू है।

निषेधमुखश्रुतिका तात्पर्य

भगवन्नेति नेतीति श्रुतेरप्यर्थमीरय ।
येन स्वान्यनिषेधेनाहं विद्यां स्वपरात्मताम् ॥१५३॥

शिष्य–हे भगवन् ! अब 'नेति नेति' इस श्रुतिका भी अर्थ कहिये, जिससे मैं अपने और दूसरेके निषेधद्वारा अपनी परमात्मस्वरूपताको जान सकूँ।

उच्यतेऽनात्ममात्रस्य निषेधावधिरूपतः ।
शिष्टं यत्तत्परं ब्रह्म नेति नेतीति बोधितम् ॥१५४॥

गुरु–जो परब्रह्म अनात्मपदार्थमात्रके निषेधकी अवधिरूपसे बचा हुआ कहा जाता है उसका ही नेति नेति–इस वाक्यसे बोध कराया जाता है।

इतिशब्दद्वयेनात्राखिलं दृश्यमनूद्यते ।
नकारेण निषेधश्च वीप्सया तस्य कथ्यते ॥१५५॥

यहाँ दो 'इति' शब्दोंसे [कार्य-कारणरूप] सम्पूर्ण विश्वका अनुवाद किया जाता है तथा दो वार कहकर नकारसे उसका निषेध किया जाता है।

मूर्त्तं वामूर्त्तमज्ञानं वासना वाधिदैवतम्।
अध्यात्मं वाखिलं तद्धि नकाराभ्यां निषिध्यते ॥१५६॥

मूर्त, अमूर्त, अज्ञान, वासना, अधिदैवत अथवा अध्यात्म—यह सभी इन दो नकारोंसे निषिद्ध हो जाते हैं।

वार्त्तिकसारे

अहंशब्दो बुद्धिवाची साक्षिणं लक्षयेद्यथा।
निषेधको नकारोऽपि साक्षिणं लक्षयेत्तथा ॥१५७॥

जिस प्रकार बुद्धिवाचक 'अहम्' शब्द साक्षीको लक्षित कराता है उसी प्रकार निषेधवाची नकार भी साक्षीको ही लक्षित कराता है।

ब्रह्मशब्दो जगद्धेतुवाची चिन्मात्रलक्षकः।
इतिशब्दो जगन्मात्रवाची चिन्मात्रलक्षकः ॥१५८॥

'ब्रह्म' शब्द जगत्के कारणका वाचक और चेतनमात्रको लक्षित करानेवाला है तथा 'इति' शब्द केवल जगत्का ही वाचक और चेतनमात्रको लक्षित करानेवाला है।

अखण्डैकरसस्तुल्यो वाक्यार्थो वाक्ययोर्द्वयोः।
उक्तार्थस्यैव दार्ढ्याय द्विर्नेतीति वचः श्रुतम् ॥१५९॥

इस प्रकार इन दोनों वाक्योंका अर्थ समानरूपसे अखण्डैक-

रस ही है। उपर्युक्त अर्थकी दृढ़ताके लिये ही श्रुतिने दो बार 'नेति' ऐसा वचन कहा है।

अथवात्रेतिशब्दौ द्वौ जीवेशोपाधिवाचिनौ।
नकाराभ्यामुपाधी द्वौ निषिध्य ब्रह्म लक्ष्यते ॥१६०॥

अथवा इस वाक्यमें जो दो 'इति' शब्द हैं वे जीव और ईश्वरकी उपाधियोंके वाचक हैं। अतः नकारोंसे दोनों उपाधियोंका निषेध करके ब्रह्म ही लक्षित होता है।

संग्रहकर्तृवचनम्

इति वार्तिकसारे त्वहं ब्रह्मासीति वाक्यवत्।
तत्त्वमोरैक्यविज्ञप्त्यै योजितं नेति नेत्यपि।
सर्वथान्यनिषेधेन यच्छिष्टं चित्त्वमेव तत् ॥१६१॥

इस प्रकार वार्तिकसारमें 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्यके समान 'तत्' और 'त्वम्' पदकी एकताके ज्ञापनके लिये ही 'नेति नेति' इसकी योजना की गयी है। इससे अन्य पदार्थका सर्वथा निषेध कर दिया जानेपर जो चेतन बच रहता है वही तू है।

आत्मतत्त्वका निरूपण

स्वामिन्दृश्यनिषेधेनावशिष्टब्रह्मबोधिकाः।
श्रुतीश्चापि वदाद्य त्वमिति चेच्छृणु ता अपि ॥१६२॥

शिष्य—स्वामिन्! अब आप दृश्यका निषेध हो जानेपर बचे हुए ब्रह्मका बोध करानेवाली श्रुतियाँ भी कहिये। [*गुरु*—] अच्छा, यदि ऐसा कहते हो तो सुनो—
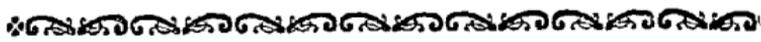
श्रुतयः

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥१६३॥

यह जीव कार्यरूप उपाधिवाला है और ईश्वर कारणोपाधिक है । इन दोनोंकी कार्य-कारणताको त्याग देनेपर पूर्ण बोध ही बच रहता है ।

यावद्यावन्मुनिश्रेष्ठ स्वयं सन्त्यजतेऽखिलम् ।
तावत्तावत्परो लोकः परमात्मैवावशिष्यते ॥१६४॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! जितना-जितना स्वयं इस सम्पूर्ण जगत्का त्याग किया जाता है उतना-उतना ही वह परमपद परमात्मा अवशिष्ट रह जाता है ।

ज्ञेयवस्तुपरित्यागे विलयं याति मानसम् ।
मानसे विलयं याते कैवल्यमवशिष्यते ॥१६५॥

ज्ञेय वस्तुका त्याग हो जानेपर चित्त लीन हो जाता है और चित्तके लीन हो जानेपर कैवल्यपद ही बच रहता है ।

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं वच्मि यथार्थतः ।
स्वयं भूत्वा स्वयं मृत्वा स्वयमेवावशिष्यते ॥१६६॥

मैं सम्पूर्ण वेदान्तसिद्धान्तका वास्तविक सार कहता हूँ । वह परमात्मा स्वयं उत्पन्न होकर और स्वयं मरकर स्वयं ही बच रहता है ।
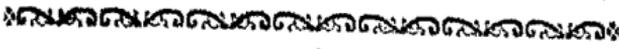
संग्रहकर्तृवचनम्

य एवं सौम्य जानाति स्वं सदानन्दचिद्घनम् ।
विमुच्यते स संसारादित्यपि श्रुतयो जगुः ॥१६७॥

हे सौम्य ! इस प्रकार जो अपने-आपको नित्यानन्द चिद्घन-स्वरूप जानता है वह संसारसे मुक्त होता है—ऐसा श्रुतियोंने भी कहा है ।

श्रुतयः

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥१६८॥

जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि प्रपञ्चको प्रकाशित करता है वह ब्रह्म ही मैं हूँ—ऐसा जानकर मनुष्य सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ।

ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥१६९॥

उसे जानकर पुरुष मृत्युको पार कर जाता है, इसके सिवा मुक्तिका और कोई मार्ग नहीं है । 'वह ब्रह्म ही मैं हूँ' ऐसा जान-कर फिर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।

तृणाग्रेऽम्बरे भानौ नरनागामरेषु च ।
यत्तिष्ठति तदेवाहमिति ज्ञात्वा न शोचति ॥१७०॥

तृणके अग्रभागमें, आकाशमें, सूर्यमें, तथा मनुष्य, नाग और देवताओंमें भी जो स्थित है वही मैं हूँ—ऐसा जाननेपर फिर शोक नहीं करता ।
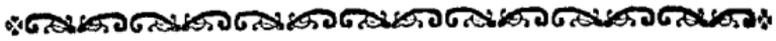
तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम् ।
विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कुतश्चन ॥१७१॥

उस आनन्दस्वरूप, निर्द्वन्द्व, निर्गुण, सत्य और चिद्घनमूर्ति ब्रह्मको अपने आत्माका स्वरूप जान लेनेपर फिर किसीसे नहीं डरता ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥१७२॥

उस पर (कारण) और अवर (कार्य) रूप परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सकल सन्देह छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और इस जीवके कर्म क्षीण हो जाते हैं ।

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनम् ॥१७३॥

वह अपने पुण्यको प्रिय जनोंके लिये और पापको अप्रियोंके लिये त्यागकर ध्यानयोगद्वारा सनातन ब्रह्ममें लीन हो जाता है* ।

यत्र यत्र मृतो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा ।
परब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्क्रान्तिरिष्यते ॥१७४॥

परम अक्षर ब्रह्मको जाननेवाला ज्ञानी सर्वदा जहाँ भी मरता है परब्रह्ममें ही लीन हो जाता है । उसका उत्क्रमण नहीं माना जाता ।

---

* क्योंकि ऐसा माना गया है कि तत्त्ववेत्ताके शरीरसे जो क्रिया होती है उसके पुण्यफलके भागी भक्तजन होते हैं और पापका परिणाम उसके निन्दकोंको भोगना पड़ता है ।

स्वायत्तमेकान्तसुखं स्वेप्सितत्यागवेदनम् ।
यस्य दुष्करतां यातं धिक्तं पुरुषकीटकम् ॥१७५॥

जिसके लिये यह अपने ही अधीन रहनेवाला, एकान्त सुखस्वरूप तथा इच्छित पदार्थोंका त्यागरूप ज्ञान दुष्कर हो गया है उस पुरुष-कीटको धिक्कार है।

अतिवर्णाश्रमं रूपं सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
यो न जानाति सोऽविद्वान् कदा मुक्तो भविष्यति ॥१७६॥

जो वर्णाश्रमसे अतीत सच्चिदानन्दमय अपने स्वरूपको नहीं जानता वह मूढ भला कब मुक्त हो सकेगा ?

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥१७७॥

बुद्धिमान् पुरुष शास्त्रोंको पढ़कर और उनको बारम्बार विचारकर परब्रह्मका ज्ञान हो जानेपर [मार्गकी समाप्ति होनेपर छोड़ी हुई] मसालके समान उन्हें त्याग दे।

स्वप्नेऽपि यो हि युक्तः स्याज्जाग्रतीव विशेषतः ।
ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥१७८॥

जो पुरुष जागृतिके समान विशेषरूपसे स्वप्नमें भी बन्धनमुक्त रहता है [अर्थात् उस समय भी जिसकी बोधवृत्ति जागृत रहती है] ऐसी चेष्टावाला ही ब्रह्मवादियोंमें श्रेष्ठ और सर्वोत्तम माना गया है।

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं
न चेदवेदीर्महती विनष्टिः ।

ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्य-
थेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१७९॥

हम यहाँ रहते-रहते ही उसे जान लें। यदि उसे न जाना तो बड़ा अनिष्ट हो जायगा। जो इसे जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं। इनके सिवा दूसरे तो दुःखकी ओर ही जाते हैं।

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं सौम्य मया तुभ्यं ज्ञानान्मोक्षप्रदर्शिकाः ।
श्रुतयो दर्शिताः किं त्वं भूयः प्रष्टुं हि वाञ्छसि ॥१८०॥

हे सौम्य! इस प्रकार मैंने तुझे ज्ञानसे मोक्ष प्रदर्शित करनेवाली श्रुतियाँ दिखलायीं; अब तुम और क्या पूछना चाहते हो।

ज्ञानीकी कृतकृत्यता

गुरो किं विदुषः कर्म कर्तव्यं स्वेष्टलब्धये ।
तथानिष्टप्रहाणाय अस्ति वा नास्ति मे वद ॥१८१॥

शिष्य—हे गुरो! विद्वान्‌को अपनी इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवृत्तिके लिये क्या कर्तव्य है? उसके लिये कुछ कर्तव्य है या नहीं, सो इस समय मुझसे कहिये।

सौम्य नैवास्ति कर्तव्या सम्यग्ज्ञानवतः क्रिया ।
इष्टानिष्टस्य मिथ्यात्वात्किमिच्छेत्किं त्यजेद्बुधः॥१८२॥

गुरु—हे सौम्य! सम्यक् ज्ञानवान्‌को कोई भी क्रिया कर्तव्य नहीं है, क्योंकि इष्ट और अनिष्ट दोनों ही मिथ्यारूप होनेके कारण विद्वान् पुरुष किसकी इच्छा करे और किसे त्यागे?

श्रुत्या स्मृत्यापि चार्थोऽयं सौम्य स्पष्टं प्रदर्शितः ।
सङ्गृह्णाम्यत्र तेऽप्यद्य संशयच्छेदनाय ते ॥१८३॥

हे सौम्य ! इस विषयको श्रुति और स्मृतिने भी स्पष्टतया प्रदर्शित किया है । तेरे संशयका छेदन करनेके लिये मैं यहाँ उनका भी संग्रह करता हूँ ।

श्रुतिः

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥१८४॥

जिसका मन निर्वासनिक है उसको नैष्कर्म्यसे कोई प्रयोजन नहीं है, उसे कर्मोंसे भी कोई काम नहीं है और न समाधान (समाधि) या जपसे ही कोई प्रयोजन है ।

स्मृतिः

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥१८५॥

जो योगी ज्ञानामृतसे तृप्त और कृतकृत्य है उसे कुछ भी कर्तव्य नहीं है । यदि उसकी दृष्टिमें भी कोई कर्तव्य है तो वह तत्त्ववेत्ता ही नहीं है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

बहुना किमिहोक्तेन सङ्क्षेपाच्चमिदं शृणु ।
निषेधविधिवाक्यैश्च नात्मज्ञानी नियुज्यते ॥१८६॥
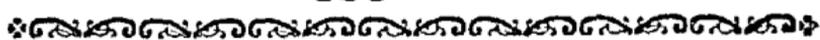
इस सम्बन्धमें अधिक कहनेसे क्या लाभ ? तुम संक्षेपसे यही श्रवण करो कि आत्मज्ञानीका विधि-निषेधरूप वाक्योंसे कभी नियोग नहीं होता ।

प्रतिषेधविधिभ्यां चेन्न प्रेर्यो ब्रह्मविद्यदि ।
यथेष्टाचरणं तस्य बलादापद्यते तदा ॥१८७॥

शङ्का—यदि ब्रह्मवेत्ता विधि-निषेधरूप वाक्योंसे प्रेरित ही नहीं होता तो उसके लिये बलात्कारसे स्वेच्छाचारकी प्राप्ति हो जाती है।

मैवं रागवतो दृष्टं यथेष्टाचरणं यतः ।
ब्रह्मवेत्तुर्विरक्तस्य तत्प्रसक्तिः कुतो भवेत् ॥१८८॥

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि स्वेच्छाचार तो रागी पुरुषोंमें ही देखा गया है । विरक्त ब्रह्मवेत्ताको भला उसका प्रसङ्ग कैसे प्राप्त हो सकता है ?

वार्तिककृद्भिरर्थोऽयं सम्यग्रूपेण शंसितः ।
तद्वाक्यानि पठामि त्वत्कृताक्षेपनिवृत्तये ॥१८९॥

यह बात वार्तिककार (श्रीसुरेश्वराचार्य) ने अच्छी तरह नेरूपण की है । अतः तुम्हारे किये हुए आक्षेपकी निवृत्तिके लिये मैं उनके वाक्य उद्धृत करता हूँ ।

वार्त्तिककृद्वाक्यम्

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वविदां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥१९०॥

जिसे तत्त्वसहित अद्वैतका बोध हो गया है उसमें भी यदि यथेष्टाचार रहा तो अपवित्र पदार्थोंके भक्षण करनेमें कुत्तों और तत्त्ववेत्ताओंमें अन्तर ही क्या है ?

अधर्माज्जायतेऽज्ञानं यथेष्टाचरणं ततः ।
धर्मकार्ये कथं तत्स्याद्यत्र धर्मोऽपि नेष्यते ॥१९१॥

अधर्मसे अज्ञानकी उत्पत्ति होती है और उससे स्वेच्छाचार होने लगता है । भला, जिसमें धर्मकी भी गति नहीं है उस धर्मके कार्यरूप ज्ञानमें स्वेच्छाचार कैसे हो सकता है ?

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नामूढस्तज्जिघत्सति ॥१९२॥

जो पुरुष भूखसे व्याकुल है वह भी विष भक्षण नहीं करना चाहता फिर जिसकी भूख-प्यास मिष्टान्न खाते-खाते नष्ट हो गयी है वह मोहहीन पुरुष तो जानते हुए उसे खानेकी इच्छा ही नहीं कर सकता !

संग्रहकर्तृवचनम्

तस्माद्रागवदज्ञानां यथेष्टाचरणं भवेत् ।
नैव तद्वीतरागाणां जीवन्मुक्तमहात्मनाम् ॥१९३॥

अतः रागयुक्त अज्ञानियोंमें ही यथेष्टाचार पाया जाता है—वीतराग जीवन्मुक्त महात्माओंमें वह नहीं देखा जाता ।

जीवन्मुक्तिका स्वरूप

जीवन्मुक्तिस्वरूपं मे जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।
तथा त्वं कृपया ब्रूहि गुरो श्रुत्यादिमानतः ॥१९४॥

शिष्य–हे गुरो ! आप कृपापूर्वक श्रुति आदि प्रमाणके अनुसार मुझे जीवन्मुक्तिका स्वरूप और जीवन्मुक्तिके लक्षण बतलाइये ।

सौम्य रागादिदोषाणां ब्रह्माभ्यासादिना हि या ।
चित्तात्तिरष्कृतिः सम्यक् सा जीवन्मुक्तिरुच्यते ॥१९५॥

गुरु–हे सौम्य ! ब्रह्माभ्यास आदिके द्वारा जो चित्तसे रागादि दोषोंका पूर्णतया तिरस्कार हो जाना है वही जीवन्मुक्ति कहलाती है ।

रागादिदोषशून्यो यश्चिन्मात्रनिष्ठमानसः ।
सर्वत्र समबुद्धिश्च स जीवन्मुक्त उच्यते ॥१९६॥

जो रागादि दोषसे रहित है, जिसका चित्त केवल चेतनमात्रमें लगा हुआ है तथा जो सर्वत्र समबुद्धि है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

श्रुतिस्मृत्यादिवाक्यानि मानान्यर्थेऽत्र भूरिशः ।
सन्ति तेषु श्रुतीस्तावत्सङ्क्षेपेण वदामि ते ॥१९७॥

इस अर्थमें अनेकों श्रुति-स्मृति आदिके वाक्य प्रमाण हैं। उनमेंसे मैं तुम्हें संक्षेपमें कुछ श्रुतियाँ बतलाता हूँ ।
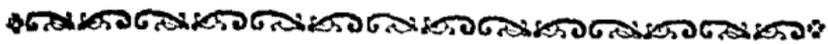
श्रुतयः

अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मेतिनिश्चयः ।
चिदहं चिदहं चेति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥१९८॥

मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ—इस प्रकारका निश्चय करनेवाला और मैं चेतन हूँ, मैं चेतन हूँ—ऐसा जाननेवाला पुरुप जीवन्मुक्त कहलाता है ।

मौनवान्निरहंभावो निर्मानो मुक्तमत्सरः ।
यः करोति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥१९९॥

जो मौनी, अहंभावरहित, निर्मान, मात्सर्यशून्य और उद्वेग-रहित होकर सारे कार्य करता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।

सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः ।
धिया येन परित्यक्ताः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥२००॥

जिसने अपनी बुद्धिसे सारी इच्छाएँ, समस्त शङ्काएँ, सारी चेष्टाएँ और सभी निश्चय त्याग दिये हैं वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥२०१॥

जिसमें अहंभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि करते या न करते समय भी लिप्त नहीं होती वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।

यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते ।
सा येन सुष्ठु सन्त्यक्ता स जीवन्मुक्त उच्यते ॥२०२॥
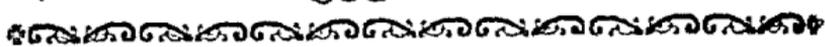
यह जितनी भी सारी-की-सारी दृश्यकल्पना दिखलायी देती है उसे जिसने अच्छी तरह त्याग दिया है वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।

साधुभिः पूज्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि दुर्जनैः ।
सममेव भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥२०३॥

साधुजनोंसे पूजित और दुर्जनोंसे पीडित होनेपर भी जिसका चित्त समान ही रहता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।

देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके ।
यस्य न भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥२०४॥

जिसका देह और इन्द्रियोंमें अहंभाव तथा उनसे अन्य पदार्थोंमें इदंभाव कभी नहीं होता वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं श्रुतिवचोभिस्ते जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।
मयेह दर्शितं सौम्य स्मृतिवाक्यान्यथ ब्रुवे ॥२०५॥

गुरु—हे सौम्य ! इस प्रकार मैंने यहाँ श्रुति-वाक्योंसे तुझे जीवन्मुक्तका लक्षण बतलाया; अब स्मृतिके वचन और सुनाता हूँ ।

महाभारते

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥२०६॥

हे पार्थ ! जिस समय पुरुष अपने मनकी सम्पूर्ण कामनाओं-को त्याग देता है और स्वयं अपने आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है उस समय वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है ।

अहेरिव गणाद्भीतः सौहित्यान्नरकादिव ।
कुणपादिव यः स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥२०७॥

जो जनसमूहसे सर्पके समान, सत्कारसे नरकके समान और स्त्रियोंसे शवके समान डरता रहता है उसे देवगण ब्राह्मण मानते हैं।

कामक्रोधानृतद्रोहलोभमोहमदादयः ।
न सन्ति यस्मिन् राजेन्द्र तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥२०८॥

हे राजेन्द्र ! जिसमें काम, क्रोध, अनृत, द्रोह, लोभ, मोह और मद आदि सर्वथा नहीं हैं उसे देवगण ब्राह्मण मानते हैं।

न जातिः कारणं तात गुणाः कल्याणकारणम् ।
वृत्तस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥२०९॥

हे तात ! कल्याणका हेतु जाति नहीं है, उसके कारण तो गुण ही हैं। जो चाण्डाल होकर भी सदाचारमें तत्पर है उसे देवगण ब्राह्मण मानते हैं।

पाठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ॥२१०॥

पढ़ने-पढ़ानेवाले तथा जो और भी शास्त्रचिन्तक हैं वे सब भी व्यसनी और मूर्ख ही हैं। वास्तवमें तो जो क्रियावान् है वही पण्डित है।
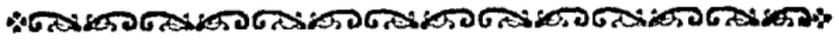
सूतसंहितायाम्

विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक् ।
तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्मे भाति तन्नहि ।
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥२११॥

जिसका दिग्भ्रम नष्ट हो गया है उसे भी तो पहलेके समान ही दिशा प्रतीत होती रहती है उसी प्रकार विज्ञानसे विध्वस्त हुआ भी यह जगत् मुझे भास रहा है, किन्तु वस्तुतः यह है नहीं—ऐसा जो वेदान्तवाक्योंद्वारा जानता है वह वर्णाश्रमसे अतीत हो जाता है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

वसिष्ठेनापि संप्रोक्तं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।
तथा तन्महिमा चोक्तस्तद्वाक्यान्यपि मे शृणु ॥२१२॥

जीवन्मुक्तके लक्षण और उनकी महिमाका वर्णन वसिष्ठजीने भी किया है । अब मुझसे उनके वचन भी सुनो ।

योगवासिष्ठे

ये तु विज्ञातविज्ञेयास्तादृशाः पावनाशयाः ।
जानन्ति तांस्त एवान्तरहेः पादानिवाहयः ॥२१३॥

जिस प्रकार सर्पके पैरोंको सर्प ही जान सकते हैं उसी प्रकार उन (बोधवान् पुरुषों) को वे ही जान सकते हैं जिन्होंने ज्ञेय पदार्थको अच्छी तरह जान लिया है और जो उन्हींके समान शुद्धचित्त हैं ।

भावं निगूहयन्त्येते तमुत्तममनुत्तमाः ।
ग्राम्यैर्धनैः किलानर्घ्यः कश्चिन्तामणिरापणे ॥२१४॥

वे सर्वोत्कृष्ट पुरुष इस उत्तम भावको छिपाये रहते हैं। जिसका मोल ग्रामीण धनसे नहीं किया जा सकता ऐसा कौन चिन्तामणि बाजारमें मिल सकता है ?

तस्मिन्निगूहने भावो यतस्तेषां न दर्शने ।
निर्वासना गतद्वैता गतमानाः किलाङ्ग ते ॥२१५॥

क्योंकि उनका तात्पर्य अपने उन उत्कृष्ट भावोंको छिपानेमें ही रहता है, प्रकट करनेमें नहीं। हे तात ! वे निश्चय ही बड़े निर्वासनिक, द्वैतभावसे रहित और निरभिमान होते हैं।

एकान्तामानदौर्गत्यजनावज्ञास्तु तान् ।
सुखयन्ति यथा राम न तथैव महर्द्धयः ॥२१६॥

हे राम ! उन लोगोंको एकान्त, असम्मान, दुर्गति तथा मनुष्योंसे तिरस्कृत होना—ये सब जैसा सुख पहुँचाते हैं वैसा बड़ी भारी सम्पत्ति भी नहीं पहुँचा सकती।

गुणं ममेमं जानातु जनः पूजां करोतु मे ।
इत्यहङ्कारिणामीहा न तु तन्मुक्तचेतसाम् ॥२१७॥

लोग मेरे इस गुणको जानें और मेरी पूजा करें—ऐसी चेष्टा अहङ्कारियोंकी ही हुआ करती है, मुक्तचित्तोंकी नहीं।

शीतातपादिदुःखानि निजदेहगतान्यपि ।
अन्यदेहगतानीव ज्ञः पश्यत्यवहेलया ॥२१८॥

ज्ञानवान् पुरुष अपने ही शरीरमें प्राप्त हुए भी शीत और

घाम आदि दुःखोंको दूसरोंके देहमें प्राप्त हुओंके समान उपेक्षा-दृष्टिसे देखता है ।

परमात्मनि विश्रान्तं यस्य व्यावृत्य नो मनः ।
रमतेऽस्मिन्पुनर्दृश्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥२१९॥

जिसका चित्त परमात्मामें लगा हुआ है और फिर लौटकर इस दृश्यमें सुख नहीं मानता वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।

एक एव विशेषोऽस्य न समो मूढबुद्धिभिः ।
सर्वत्रास्थापरित्यागान्नीरागममलं मनः ॥२२०॥

यह अन्य मूढबुद्धि पुरुषोंके समान नहीं होता, इसमें एक ही विशेषता होती है; [वह यह कि] सर्वत्र आस्था (सत्यत्वबुद्धि) का त्याग कर देनेके कारण इसका निर्मल चित्त रागरहित रहता है ।

यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्तते ।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः ॥२२१॥

जिसकी बुद्धि तत्त्वचिन्तनमें साक्षात् अनुभवपर्यन्त प्रवृत्त हो गयी है उसकी दृष्टिके विषय होनेपर सब लोग सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ।

संग्रहकर्तृवचनम्

यः समाधिं सदाश्रित्य स्वस्वरूपे व्यवस्थितः ।
संशान्तसर्वसङ्कल्पः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥२२२॥

जो पुरुष सर्वदा समाधिका आश्रय लेकर अपने स्वरूपमें

स्थित है तथा जिसके सारे सङ्कल्प शान्त हो गये हैं वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।

जीवन्मुक्तसमाधेर्मो स्वामिन्मे लक्षणं वद ।
स्वरूपावस्थितेश्चापि तद्वद् श्रुतिमानतः ॥२२३॥

हे स्वामिन् ! आप मुझसे श्रुतिप्रमाणानुसार जीवन्मुक्तकी समाधिका तथा स्वरूपस्थितिका लक्षण कहिये ।

ध्यातृध्याने परित्यज्य निवातस्थप्रदीपवत् ।
ध्येयैकगोचरा वृत्तिर्या समाधिरिहोच्यते ॥२२४॥

ध्याता और ध्यानको छोड़कर वायुरहित स्थानमें रखे हुए दीपकके समान जो एकमात्र ध्येयको ही विषय करनेवाली वृत्ति है वह समाधि कहलाती है ।

समाधेर्लक्षणं सौम्य स्वरूपावस्थितेस्तथा ।
लक्षणं श्रुतिभिः प्रोक्तं याभिस्ता अपि मे शृणु ॥२२५॥

हे सौम्य ! जिन श्रुतियोंके द्वारा समाधि और स्वरूपावस्थिति-का लक्षण कहा गया है उन्हें भी मुझसे श्रवण करो ।

श्रुतयः

अहमेव परं ब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ।
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिनिरोधकः ॥२२६॥

मैं ही परब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँ—इस प्रकारकी जो स्थिति है उसे ही सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध करनेवाली समाधि समझनी चाहिये ।

ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहङ्कृतिं विना ।
संप्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः ॥२२७॥

ध्यानका अभ्यास बढ़ जानेपर जो अहङ्कारके विना ही ब्रह्माकार मनोवृत्तिका प्रवाह होता है वही संप्रज्ञातसमाधि कहलाती है ।

प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददीपकम् ।
असंप्रज्ञातनामायं समाधिर्योगिनां प्रियः ॥२२८॥

जब वृत्तियोंके शान्त हो जानेपर चित्त परमानन्दका प्रकाश करने लगे तो यही योगियोंकी अत्यन्त प्रिय असंप्रज्ञात नामकी समाधि है ।

संशान्तसर्वसङ्कल्पा या शिलावदवस्थितिः ।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥२२९॥

सम्पूर्ण सङ्कल्पोंके शान्त हो जानेपर जो जाग्रत् और निद्रासे रहित शिलाके समान स्थिति होती है वही परम स्वरूपावस्थिति है ।

सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते ।
निदाघारूपनाशस्तु वर्ततेऽदेहमुक्तके ॥२३०॥

हे निदाघ ! यह सरूप मनोनाश जीवन्मुक्तमें रहता है तथा विदेहमुक्तमें चित्तका अरूपनाश रहा करता है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

समाधिलक्षणं सौम्य मयैवं ते प्रदर्शितम् ।
श्रुतिवाक्यप्रमाणेन श्रोतुं वाञ्छसि किं पुनः ॥२३१॥

हे सौम्य ! इस प्रकार मैंने तुझे श्रुतिवाक्यके प्रमाणसे यह समाधिका लक्षण दिखलाया। अब तू और क्या सुनना चाहता है।

विदेहमुक्तिका स्वरूप

गुरो विदेहमुक्तेस्त्वं लक्षणं मे वदाधुना।
तथा विदेहमुक्तस्य लक्षणं श्रुतिमानतः ॥२३२॥

शिष्य—हे गुरो ! अब आप श्रुतिके प्रमाणानुसार मुझसे विदेहमुक्तिके तथा विदेहमुक्तके लक्षण कहिये।

शृणु सौम्य वदाम्यद्य त्वया पृष्टं क्रमादहम्।
प्रारब्धकर्मणां नाशे भोगेनाङ्गत्रयक्षये ॥२३३॥
जीवन्मुक्तिपदं हित्वा या पूर्णात्मतया स्थितिः।
ज्ञानिनः सा विदेहाख्या मुक्तिः श्रुतिभिरीरिता ॥२३४॥

गुरु—हे सौम्य ! सुन, अब मैं तेरी पूछी हुई बात तुझे क्रमशः बतलाता हूँ। भोगद्वारा प्रारब्ध कर्मोंका नाश हो जानेपर जब तीनों शरीरोंका क्षय हो जाता है, उस समय जीवन्मुक्ति-पदको त्यागकर जो परिपूर्ण आत्मस्वरूपसे स्थिति होती है उसीको श्रुतियोंने ज्ञानीकी विदेहनाम्नी मुक्ति कही है।

ब्रह्मैवाहं सदानन्द इति चिन्तापि यस्य न।
चिन्मात्रतया संस्थः स विदेहः समीरितः ॥२३५॥

जिसे 'मैं नित्यानन्दस्वरूप ब्रह्म ही हूँ' ऐसी चिन्ता भी नहीं है और जो केवल चिद्रूपसे ही स्थित है वह विदेहमुक्त कहलाता है।

मानानि श्रुतयः सन्ति वसिष्ठस्य वचांस्यपि ।
श्रुतीस्तावत्पठामीह वसिष्ठोक्तीस्ततः परम् ॥२३६॥

इस विषयमें श्रुतियाँ तथा वसिष्ठजीके वचन भी प्रमाण हैं। यहाँ पहले मैं श्रुतियाँ बतलाता हूँ और इसके पश्चात् वसिष्ठजीके वाक्य कहूँगा ।

श्रुतयः

विदेहमुक्तौ विमले पदे परमपावने ।
विदेहमुक्तविषये तस्मिन्सत्त्वक्षयात्मके ॥२३७॥
चित्तनाशे विरूपाख्ये न किञ्चिदिह विद्यते ।
न गुणा नागुणास्तत्र न श्रीर्नाश्रीर्न चैकता ॥२३८॥

विदेहमुक्तको प्राप्त होनेवाले उस चित्तनाशरूप परम पवित्र और निर्मल विदेहमुक्तिपदमें, जो चित्तका विरूपनाश ही है, कुछ भी नहीं रहता । उस अवस्थामें न गुण हैं, न अगुण हैं, न श्री है, न अश्री है और न एकता ही है ।

शास्त्रेण नश्येत्परमार्थदृष्टिः
कार्यक्षमं नश्यति चापरोक्षात् ।
प्रारब्धनाशाद्व्यवहारनाश
एवं त्रिधा नश्यति चात्ममाया ॥२३९॥

शास्त्रसे संसारमें सत्यत्वबुद्धि नष्ट होती है, अपरोक्ष ज्ञानसे क्षमताका नाश होता है और प्रारब्ध-क्षयसे व्यवहार

क्षीण हो जाता है। इस प्रकार तीन तरहसे आत्माकी मायाका नाश होता है।

जीवन्मुक्तिपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तित्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥२४०॥

अपने देहके कालकवलित हो जानेपर जीव जीवन्मुक्तिपदको त्यागकर विदेहमुक्तिमें प्रवेश करता है; जैसे वायु निस्पन्दभावको प्राप्त हो जाता है।

व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धे
स्वयममलात्मनि पावने पदेऽसौ ।
सलिलकण इवाम्बुधौ महात्मा
विगलितवासनमेकतां जगाम ॥२४१॥

वह महात्मा कलनारूप कलंकसे रहित शुद्ध एवं निर्मल आत्मा-रूप पावन पदमें वासनाओंको दूर कर इस प्रकार एकरूप हो गया जैसे समुद्रमें जलकी बूँद।

इदं चैतन्यमेवेति अहं चैतन्यमित्यपि ।
इति निश्चयशून्यो यो वैदेही मुक्त एव सः ॥२४२॥

जो [सर्वदा स्वरूपस्थ रहनेके कारण] 'यह (सारा संसार) चैतन्य ही है और मैं भी चैतन्य ही हूँ'—इस प्रकारके निश्चयसे भी रहित है वह विदेहमुक्त ही है।

यस्य प्रपञ्चभानं न ब्रह्माकारमपीह न ।
अतीतातीतभावो यो वैदेही मुक्त एव सः ॥२४३॥
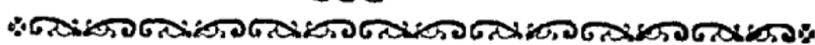
जिसे प्रपञ्चका भान नहीं होता और न ब्रह्माकारता ही होती है, इस प्रकार जो अतीतसे भी अतीत भावमें स्थित है वह विदेहमुक्त ही है।

जीवात्मा परमात्मेति चिन्तासर्वस्ववर्जितः ।
सर्वसङ्कल्पहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः ॥२४४॥

जो 'जीवात्मा-परमात्मा' सम्बन्धी चिन्ताओंके सर्वस्वसे रहित है तथा सब प्रकारके सङ्कल्पोंसे मुक्त है वह विदेहमुक्त ही है।

योगवासिष्ठे

द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च ।
जीवन्मुक्तौ सरूपः स्यादरूपोऽदेहमुक्तिके ॥२४५॥

चित्तनाश दो प्रकारका है—सरूप और अरूप। जीवन्मुक्तिमें सरूप चित्त नाश होता है और विदेहमुक्तिमें अरूप।

सुखदुःखादयो धीरं साम्यान्न प्रोद्धरन्ति यम् ।
निःश्वासा इव शैलेन्द्रं चित्तं तस्य मृतं विदुः ॥२४६॥

श्वास-प्रश्वास जिस प्रकार पर्वतराजको नहीं हिला सकते उसी प्रकार जिस धीर पुरुषको सुख-दुःख आदि उसकी साम्यावस्थासे विचलित नहीं कर सकते उसका चित्त मरा हुआ समझना चाहिये।

भूयोजन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तस्य यन्मनः ।
सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य चोच्यते ॥२४७॥

जीवन्मुक्तके मनका जो पुनर्जन्मसे मुक्त हो जाना है यही उस जीवन्मुक्तका सरूप मनोनाश कहलाता है।
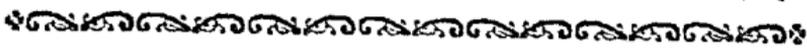
अरूपस्तु मनोनाशो यो मयोक्तो रघूद्वह ।
विदेहमुक्तावेवासौ विद्यते निष्कलात्मकः ॥२४८॥

हे राघव ! मैंने जिस अरूप मनोनाशके विषयमें कहा था वह कलाहीन मनोनाश विदेहमुक्तिमें ही हुआ करता है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

एवं विदेहमुक्तेस्ते विदेहस्य च लक्षणम् ।
मानं चापि तयोस्तद्वत्सङ्क्षेपात्सौम्य दर्शितम् ॥२४९॥

हे सौम्य ! इस प्रकार मैंने संक्षेपसे विदेहमुक्ति और विदेह-मुक्तका लक्षण तथा उन दोनोंके विषयमें प्रमाण दिखला दिया ।

प्राक् च सौम्य मयोक्तं ते तत्तद्वाक्यप्रमाणतः ।
पदार्थशुद्धिमारभ्य सफलं तत्त्वदर्शनम् ॥२५०॥

हे सौम्य ! उससे पहले मैं भिन्न-भिन्न वाक्योंका प्रमाण देकर पदोंके अर्थके शोधनपूर्वक फलसहित तत्त्वदर्शनका वर्णन कर चुका हूँ ।

मयोक्तस्यार्थजातस्य यत्त्वया मननं कृतम् ।
त्वद्वाक्यैः श्रुतिवाक्यैश्च तत्सर्वं मे निवेदय ॥२५१॥

तूने मेरे कहे हुए विषयका जो कुछ मनन किया है वह सब अपने और श्रुतिके वाक्योंद्वारा मेरे प्रति निवेदन कर ।

शिष्यका अनुभव

स्वामिन्मे मतिवाक्यानि तुभ्यमावेदयाम्यहम् ।
स्वबोधस्यैव दार्ढ्यार्थं न मे पाण्डित्यख्यातये ॥२५२॥
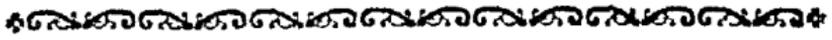
शिष्य–हे स्वामिन् ! अत्र मैं अपने पाण्डित्यकी प्रसिद्धिके लिये नहीं–बल्कि बोधकी दृढताके लिये ही अपने विचारसम्बन्धी वाक्य आपके प्रति निवेदन करता हूँ ।

नैवाहं स्थूलदेहोऽस्मि कूटस्थैकस्वभावतः ।
सूक्ष्मदेहस्तथा नाहं बुद्ध्यादीनां यतोऽस्मि दृक् ॥२५३॥

एकमात्र कूटस्थस्वभाव होनेके कारण मैं स्थूल देह नहीं हूँ । तथा मै सूक्ष्म देह भी नहीं हूँ क्योंकि इन बुद्धि आदिका मैं साक्षी हूँ ।

तथा कारणदेहोऽपि नैवाहं चिद्घनो यतः ।
तस्माद्देहत्रयद्रष्टा तद्धर्मै रहितोऽस्म्यहम् ॥२५४॥

इसके सिवा मैं कारणदेह भी नहीं हूँ, क्योंकि मैं तो चिद्घन हूँ [और कारणदेह तमोमय है] । अतः मैं तीनों देहोंका द्रष्टा और उनके धर्मोंसे रहित हूँ ।

अस्तिभातिप्रियत्वेन सर्वत्राहमवस्थितः ।
नामरूपादिकं सर्वं मय्यध्यस्ततया न सत् ॥२५५॥

मैं अस्ति, भाति और प्रियरूपसे सर्वत्र स्थित हूँ । नाम और रूप आदिक, मुझमें अध्यस्त रहनेके कारण सत्य नहीं हैं ।

एकः प्रत्यक्स्वरूपोऽस्मि सर्वदेहेषु चेतनः ।
परंब्रह्माहमेवास्म्यहं ब्रह्मासीति वाक्यतः ॥२५६॥

मैं तो सम्पूर्ण देहोंमें एक ही प्रत्यक्स्वरूप चेतन हूँ । 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यके अनुसार मैं परब्रह्म ही हूँ ।
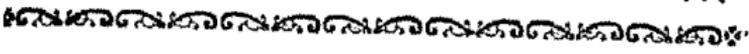
श्रुतयः

ब्राह्मण्यं कुलगोत्रे च नामसौन्दर्यजातयः ।
स्थूलदेहगता एते स्थूलाद्भिन्नस्य मे न हि ॥२५७॥

ब्राह्मणत्व, कुल, गोत्र, नाम, सुन्दरता और जाति—ये सब स्थूल शरीरमें ही हैं। स्थूलसे अत्यन्त भिन्न मुझमें ये कुछ भी नहीं हैं।

क्षुत्पिपासान्ध्यबाधिर्यकामक्रोधादयोऽखिलाः ।
लिङ्गदेहगता एते ह्यलिङ्गस्य न विद्यते ॥२५८॥

क्षुधा, पिपासा, अन्धत्व, बधिरत्व, तथा काम और क्रोध आदि—ये सब लिंगदेहमें ही हैं, मुझ अलिंग आत्मामें नहीं।

जडत्वप्रियमोदत्वधर्माः कारणदेहगाः ।
न सन्ति मम नित्यस्य निर्विकारस्वरूपिणः ॥२५९॥

जडत्व, प्रियत्व तथा मोदत्व आदि धर्म कारणदेहमें ही हैं। मुझ नित्य निर्विकारस्वरूपमें वे बिल्कुल नहीं हैं।

चिद्रूपत्वान्न मे जाड्यं सत्यत्वान्नानृतं मम ।
आनन्दत्वान्न मे दुःखमज्ञानाद्भाति सत्यवत् ॥२६०॥

चिद्रूप होनेके कारण मुझमें जडता नहीं है, सत्यस्वरूप होनेसे मिथ्यात्व नहीं है तथा आनन्दस्वरूप होनेके कारण मुझमें दुःख नहीं है। यह [सारा जगत्] अज्ञानसे ही सत्यवत् प्रतीत होता है।

अनात्मदृष्टेरविवेकनिद्रा-
महंममस्वप्नगतिं गतोऽहम् ।

स्वरूपसूर्येऽभ्युदिते स्फुटोक्तै-
गुरोर्महावाक्यपदैः प्रबुद्धः ॥२६१॥

मैं अनात्मदृष्टिसे अविवेक-निद्राको तथा अहं और ममरूप स्वप्नावस्थाको प्राप्त हो गया था। अब आत्मस्वरूपरूप सूर्यके उदित होनेपर मैं गुरुके स्फुटतया कहे हुए महावाक्यपदोंसे जाग पड़ा हूँ।

आत्मानमञ्जसा वेद्मि काप्यज्ञानं पलायितम्।
कर्तृत्वमद्य मे नष्टं कर्त्तव्यं वापि न क्वचित् ॥२६२॥

अब मैं आत्मतत्त्वको ठीक-ठीक जान गया हूँ, इससे मेरा अज्ञान मानो कहीं भाग गया है। आज मेरा कर्तृत्व नष्ट हो गया है और मुझे कहीं कोई कर्त्तव्य भी नहीं रहा है।

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः।
तारं जपतु वाक् तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥२६३॥

यह शरीर भले ही देवपूजन, स्नान, शौच और भिक्षा आदिमें रहे, वाणी भले ही उच्चस्वरसे ओंकारका जप अथवा पाठ करे।

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम्।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥२६४॥

बुद्धि विष्णुभगवान्का ध्यान करे अथवा ब्रह्मानन्दमें निमग्न हो जाय, मैं तो साक्षी ही हूँ। मै इस लोकमें न कुछ करता हूँ और न कराता हूँ।

किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
यन्मया पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा ॥२६५॥

मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किसे ग्रहण करूँ ? और किसे त्यागूँ ? क्योंकि प्रलयकालीन जलके समान मैंने तो सारे संसारको व्याप्त किया हुआ है ।

संग्रहकर्तृवचनम्

स्वामिन् मयाधुना यैस्तु स्वतत्त्वं मननीकृतम् ।
तुभ्यं निवेदितान्येवं मननीयवचांसि वै ॥२६६॥

हे भगवन् ! जिन वाक्योंद्वारा मैंने आत्मतत्त्वका मनन किया है अपने मननके वे सब वचन आपसे निवेदन कर दिये ।

त्वद्वाक्यैश्च मया बुद्धं ब्रह्मात्मैक्यं गुरोऽधुना ।
तेनाज्ञानं च मे नष्टं प्राङ् नित्यबोधपीडितम् ॥२६७॥

हे गुरो ! अब आपके वचनोंसे मुझे ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान हुआ है । उससे, नित्यबोधद्वारा पहले ही दलित हुआ मेरा अज्ञान नष्ट हो गया है ।

श्रवणादित्रिभिर्नष्टाः प्रतिबन्धाश्च ते त्रयः ।
गुरो मे संशयाद्या येऽपराधाः पुरुषस्य वै ॥२६८॥

हे गुरो ! जो पुरुषापराध कहलाते हैं वे मेरे संशय[1] आदि तीनों दोष श्रवण[2] आदि तीनों साधनोंसे नष्ट हो गये हैं ।

गुरोऽस्म्यहं परं ब्रह्म नित्यमुक्तोऽहमद्वयः ।
शुद्धो बुद्धोऽस्मि चिन्मात्रो नित्यानन्दो निरामयः ॥२६९॥

---

१ संशय, असम्भावना और विपर्यय ।

२ श्रवण, मनन और निदिध्यासन ।

हे गुरो ! मैं नित्यमुक्त और अद्वितीय परब्रह्म हूँ । मैं शुद्ध, बुद्ध, चिन्मात्र, नित्यानन्दमय और निरामय हूँ ।

परिपूर्णोऽस्मि सर्वत्र सच्चिदानन्दविग्रहः ।
जाग्रदादित्रयाध्यक्षः कूटस्थः सर्वदृक् सदा ॥२७०॥

मैं सर्वत्र परिपूर्ण, सच्चिदानन्दमूर्ति, जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंका साक्षी, कूटस्थ और सर्वदा सब कुछ जाननेवाला हूँ ।

निर्विशेषो निराकारो निरंशोऽहं निरञ्जनः ।
निर्गुणो निर्मलः शान्तोऽसङ्गोऽस्म्यहं सदाभयः ॥२७१॥

मैं निर्विशेष, निराकार, निरंश, निरञ्जन, निर्गुण, निर्मल, शान्त, असंग और सर्वदा भयहीन हूँ ।

स्वयंप्रकाशरूपोऽहं केवलानन्दविग्रहः ।
केवलज्ञानरूपोऽहं केवलसत्स्वरूपकः ॥२७२॥

मैं स्वयंप्रकाशस्वरूप, एकमात्र आनन्दमूर्ति, केवल ज्ञानस्वरूप और केवल सत्स्वरूप हूँ ।

अविद्याकार्यहीनोऽहं बन्धमोक्षौ न मे क्वचित् ।
कालत्रयविमुक्तोऽहं देहादिरहितोऽस्म्यहम् ॥२७३॥

मैं अविद्याके कार्यसे रहित हूँ, मेरे बन्धन और मोक्ष कभी नहीं होते, मैं कालत्रयसे मुक्त और देहादिशून्य हूँ ।

षडूर्मिरहितोऽहं वै षट्कौशिकाश्च मे न हि ।
षड्विकारविहीनोऽहं सदानन्दघनोऽस्म्यहम् ॥२७४॥

मैं छः ऊर्मियोंसे[1] रहित हूँ, मुझमें छः कौशिक[2] भी नहीं हैं। तथा मैं छः विकारोंसे[3] रहित और सर्वदा आनन्दघनस्वरूप हूँ।

वेदवेद्यमहं विद्वन्वेदा गायन्ति मां सदा।
वेदवाक्यानि मानानि सन्त्यत्रार्थे गुरो तथा ॥२७५॥

हे विद्वन्! मैं वेदवेद्य हूँ, वेद सर्वदा मेरा ही गान करते हैं। हे गुरो! इस विषयमें वेदवाक्य भी प्रमाण हैं।

श्रुतयः

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥२७६॥

सारा जगत् मुझहीमें उत्पन्न हुआ है, मुझहीमें स्थित है और मुझहीमें लीन हो जाता है। मैं वह अद्वितीय ब्रह्म ही हूँ।

अहं शिष्यवदाभामि ह्यहं लोकत्रयाश्रयः।
अहं कालत्रयातीतो ह्यहं वेदैरुपासितः ॥२७७॥

मैं शिष्यके समान प्रतीत होता हूँ, मैं ही तीनों लोकोंका

---

१ छः ऊर्मियाँ ये हैं—भूख-प्यास प्राणकी, शोक-मोह मनकी और जरा-मृत्यु शरीरकी।

२ अस्थि, मज्जा, मेद, त्वचा, मांस और रक्त ये छः कौशिक कहलाते हैं, यथा—

अस्थि मज्जा तथा मेदस्त्वङ्मांसशोणितानि च।
षट्कौशिकमिदं प्रोक्तं सर्वदेहेषु देहिनाम् ॥

३ सत्ता, जन्म, वृद्धि, विपरिणाम, क्षय और नाश।

आश्रय हूँ, मैं तीनों कालोंसे अतीत हूँ और मैं ही वेदोंसे उपासित होता हूँ।

अहं शास्त्रेण निर्णीतो ह्यहं चित्ते व्यवस्थितः ।
आनन्दघन एवाहमहं ब्रह्मासि केवलम् ॥२७८॥

शास्त्रने मेरा ही निर्णय किया है, मैं ही चित्तमें स्थित हूँ मैं आनन्दघन ही हूँ, और मैं ही केवल ब्रह्मस्वरूप हूँ।

आत्मनात्मनि तृप्तोऽस्मि ह्यरूपोऽह्यहमव्ययः ।
आकाशादपि सूक्ष्मोऽहमाद्यन्ताभाववानहम् ॥२७९॥

मैं अपनेमें अपनेहीसे सन्तुष्ट हूँ, मैं अरूप और अविनाशी हूँ तथा आकाशसे भी सूक्ष्म और आदि-अन्तवान् हूँ।

ब्रह्मैवाहं सर्ववेदान्तवेद्यं
नाहं वेद्यं व्योमवातादिरूपम् ।
रूपं नाहं नाम नाहं न कर्म
ब्रह्मैवाहं सच्चिदानन्दरूपम् ॥२८०॥

मैं सम्पूर्ण वेदान्तोंसे वेद्य ब्रह्म ही हूँ, किन्तु आकाश और पवनादिरूप वेद्य पदार्थ नहीं हूँ। मैं रूप, नाम या कर्म नहीं हूँ; मैं तो सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म हो हूँ।

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहंसदाशिवः ॥२८१॥

[जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन] तीन अवस्थाओंमें जो भोक्ता,

ोज्य और भोग हैं मैं उन तीनोंसे विलक्षण उनका साक्षी चेतन-ात्र सदाशिवस्वरूप ही हूँ ।

नित्यं शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः
सत्यः सूक्ष्मः सन्विभुश्चाद्वितीयः ।
आनन्दाब्धिर्यत्परस्सोऽहमस्मि
प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति ॥२८२॥

मैं नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्तस्वभाव हूँ, मैं सत्य, सूक्ष्म, सत्स्वरूप, विभु और अद्वितीय हूँ, जो आनन्दका समुद्र और सबसे परे है वह प्रत्यक्तत्त्व ही मैं हूँ—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ।

अहमेव महानात्मा ह्यहमेव परात्परः ।
अहमन्यवदाभामि ह्यहमेव शरीरवान् ॥२८३॥

मैं ही परमात्मा हूँ, मैं ही परसे पर हूँ, मैं ही अन्यवत् प्रतीत होता हूँ तथा मैं ही शरीरधारी हूँ ।

सर्वाधिष्ठानरूपोऽस्मि सर्वदा चिद्घनोऽस्म्यहम् ।
चित्तवृत्तिविहीनोऽहं चिदात्मैक्यरसोऽस्म्यहम् ॥२८४॥

मैं सबका अधिष्ठानस्वरूप हूँ, सर्वदा चिद्घनमूर्ति हूँ, चित्तवृत्तिसे रहित हूँ तथा चेतन और आत्माका ऐक्यरसस्वरूप हूँ।

संग्रहकर्तृवचनम्

स्वीयानुभववाक्यानि तथा वेदवचांस्यपि ।
स्वज्ञानदार्ढ्यविज्ञप्त्यै तेऽर्पितानि मया गुरो ॥२८५॥

इतः परं मया कार्यं यत्तद्वाच्यं त्वया पुनः ।

शिष्य—हे गुरो ! इस प्रकार ज्ञानकी दृढ़ता प्रदर्शित करनेके लिये मैंने आपसे श्रुतिके तथा अपने अनुभवके वचन निवेदन किये । अब आगे मुझे क्या करना चाहिये सो बतलाइये ।

वत्स त्वं कृतकृत्योऽसि यस्यानुभव ईदृशः ॥२८६॥

गुरु—हे वत्स ! तू, जिसका कि ऐसा अनुभव है, कृतकृत्य हो गया है ।

तीर्णस्त्वया च दुःखाब्धिस्तत्र कार्यं न शिष्यते ।
तथा फलं त्वया लब्धं शरणागमनस्य मे ॥२८७॥

तूने दुःख-समुद्रको पार कर लिया है । अब तेरे लिये कोई कार्य अवशिष्ट नहीं है और तुझे मेरी शरणमें आनेका फल प्राप्त हो चुका है ।

यावत्प्रारब्धशेषस्ते तावत्त्वं वत्स वायुवत् ।
जीवन्मुक्तश्चरन्भूमौ प्रारब्धान्ते विमोक्ष्यसे ॥२८८॥

हे वत्स ! जबतक तेरा प्रारब्ध शेष है तबतक तू पृथिवीपर वायुके समान जीवन्मुक्त होकर विचरता हुआ प्रारब्धका अन्त होनेपर मुक्त हो जायगा ।

ग्रन्थका उपसंहार

गुरुशिष्योक्तिसंव्याजादेवं रामप्रसादतः ।
जातं प्रकरणं पूर्णं पञ्चमं ज्ञाननामकम् ॥२८९॥

इस प्रकार भगवान् रामकी कृपासे यह गुरु-शिष्य-संवादके मिषसे कहा हुआ ज्ञाननामक पाँचवाँ प्रकरण समाप्त हुआ।

अयं मुमुक्षुसर्वस्वसारनामा निबन्धकः।
बृहन्मुमुक्षुसर्वस्वान्निबन्धादुद्धृतो मया ॥२९०॥
सङ्क्षिप्तः स्वल्पबुद्धीनां मुमुक्षूणां हितेच्छया।
सारं बृहन्निबन्धानां सङ्क्षेपाज्ज्ञातुमिच्छताम् ॥२९१॥

मैंने यह मुमुक्षुसर्वस्वसारनामक निबन्ध बड़े-बड़े निबन्धोंका संक्षेपसे सार जाननेकी इच्छावाले अल्पबुद्धि मुमुक्षुओंकी हित-कामनासे संक्षिप्तरूपसे बृहन्मुमुक्षुसर्वस्वनामक निबन्धसे निकाला है।

बृहन्मुमुक्षुसर्वस्वपाठोऽत्रास्ति हि भूरिशः।
सङ्क्षेपेण तथान्योऽपि पाठोऽत्रास्तीति बुध्यताम् ॥२९२॥

इसमें अधिकांश पाठ बृहन्मुमुक्षुसर्वस्वनामक ग्रन्थका ही है; इसके अतिरिक्त संक्षेपसे अन्य (ग्रन्थान्तरका) पाठ भी है—ऐसा जानना चाहिये।

समाप्तश्च निबन्धोऽयं रामोमेशप्रसादतः।
सौम्यकाश्याः समीपे श्रीभागीरथ्यास्तटे शुभे ॥२९३॥

श्रीराम और उमापति शंकरकी कृपासे उत्तर-काशीके समीप श्रीगंगाजीके पवित्र तटपर यह निबन्ध समाप्त हुआ।

श्रीमद्रामं गुरुं चापि भिक्षुं भावेशनामकम्।
नमामि दण्डवद्भक्त्याहमष्टाङ्गैः पुनः पुनः ॥२९४॥

मैं श्रीराम और भिक्षु भावनायननामक अपने गुरुदेवको वारम्वार साष्टांग दण्डवत् करके भक्तिभावसे प्रणाम करता हूँ।

सौम्यकाश्याः समीपेऽयं घनीरामद्विजेन वै।
ग्रन्थः संलिखितो मुक्तेरीशस्य धुसरित्तटे॥

श्रीमुक्तिनाथके इस ग्रन्थको घनीरामनामक ब्राह्मणने उत्तर-काशीके समीप गंगाजीके तटपर लिखा है।

इति श्रीमुमुक्षुसर्वस्वसाराभिधे ग्रन्थे सफलज्ञाननिरूपणान्वितं ज्ञानाख्यं पञ्चमं प्रकरणं समाप्तम्॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकृत

—गीतावली—

अनुवादक—श्रीमुनिलालजी

पृष्ठ ४६०, चिकना कागज, चित्र ४ रङ्गीन, ४ सादे, अच्छी छपाई, सुन्दर टाइटल, मू० १) सजिल्द १।) मात्र।

श्रीरामायणकी तरह इसमें भी श्री-गोसाईंजीने सात काण्डोंमें 'राम-लीला' भजनोंमें गायी है। इसके पद बहुत सुन्दर हैं। गोस्वामीजीकी रचनाओंके विषयमें कुछ कहना सूर्यको दीपक दिखाना है।

इस पुस्तकमें ऐसे-ऐसे अनूठे प्रसङ्ग हैं जिन्हें गाते-गाते और सुनते-सुनते मन आनन्दसे विभोर हो जाता है। टीका होनेसे पद सहज ही समझमें आ जाते हैं।

एक सज्जन लिखते हैं—"जबसे आपने 'विनय-पत्रिका' प्रकाशित की तबसे'''यह शिकायत जाती रही कि उक्त पुस्तकका कोई सुन्दर संस्करण नहीं मिलता जो सुलभ भी हो। इसी प्रकार अब 'गीतावली' का यह सुन्दर संस्करण आपने सबको सुलभ कर दिया है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीमुनिलालजीद्वारा अनुवादित अन्य पुस्तकें

श्रीविष्णुपुराण–सटीक, बड़ा आकार, पृ० ५५०, चित्र ८, मूल्य साधारण जिल्द २॥), कपड़ेकी जिल्द ... २॥।)

अध्यात्मरामायण–सटीक, बड़ा आकार, पृ० ४०२, चित्र ८, मूल्य साधारण जिल्द १॥।), कपड़ेकी जिल्द ... ... २)

एकादश स्कन्ध–सटीक, सचित्र, पृ० ४२०, मू० ॥।) सजिल्द ... ... १)

ईशावास्योपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृ० ५०, मूल्य ... ... ≋)

केनोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृ० १४६, मू० ... ... ॥)

कठोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृ० १७२, मू० ... ... ॥-)

मुण्डकोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृ० १३२, मू० ... ... ।≋)

प्रश्नोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृ० १३०, मू० ... ... ।≋)

विवेक-चूडामणि–सटीक, सचित्र, दूसरा संस्करण, पृ० २२५, मू० ... ... ।≋)

प्रबोधसुधाकर–सटीक, दो चित्र, दूसरा संस्करण, पृ० ८०, मू० ... ... ≋)॥

अपरोक्षानुभूति–सटीक, सचित्र, मू० ... =)॥

रामगीता–सटीक, दूसरा संस्करण, मू० ...)॥।

पता

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुमुक्षुसर्वस्वसार

(हिन्दीअनुवादसहित)

इसमें विविध विषयोंपर नीचे लिखे ग्रन्थोंसे श्लोक, मन्त्र, वाक्य आदि संगृहीत हैं।

लगभग २८ स्मृतियाँ

लगभग १० पुराण

लगभग ८ उपनिषद्

भगवद्गीता, शिवगीता,

महाभारत, भागवत,

कर्मविपाक, भक्तिरसायन,

योगवासिष्ठ, मोक्षधर्म,

देवीमाहात्म्य, जीवन्मुक्ति-विवेक,

प्रबोधसार, वार्तिकसार,

उपदेश-साहस्री आदि आदि।

इनके सिवा कुछ महान् पुरुषोंके वाक्य भी यत्र-तत्र संगृहीत हैं।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर